

ISSN 2350-1065 MUKTANCHAL

वर्ष : 08, अंक : 30-31, अप्रैल-सितंबर 2021

शोध, समीक्षण, सृजन एवं संचार का

मुक्तांचल

पीयर रिव्यूड त्रैमासिक

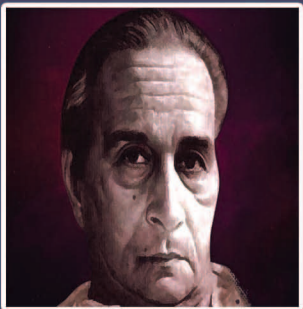
व्यंग्य
कुल
और
आज

मूल्य : 100 रुपये



विद्यार्थी मंच

उस पार से...



हरिशंकर परसाई

(22 अगस्त 1922 - 10 अगस्त 1995)

विसंगतियाँ बहुत पैदा हुईं, क्योंकि भ्रष्टाचार, अवसरवाद, आकांक्षा, दो मुँहापन, पाखंड ये सब-के-सब खुलकर सामने आए। सामाजिक विसंगतियाँ और उसके अंतर्द्वंद्व इतने हैं कि वे खुलकर मेरे सामने स्पष्ट हो गए। शाकिर अली साहब ने बताया था कि एक नेता अपने कस्बे में गया तो लोगों ने उसे घेर लिया, उससे उन्होंने कहा कि आप नारा लगवाते थे कि 'इंकलाब जिंदाबाद, उजड़े घर होंगे आबाद' भैया, इंकलाब आए तो चार, पाँच, छह साल हो गए हैं। हम अब तक उजड़े हुए हैं। नेता ने जवाब दिया कि वो नारा तुम्हारे मकान के बारे में नहीं था। मेरे मकान के बारे में था। ये विसंगतियाँ न केवल राजनीतिक क्षेत्र में बल्कि आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र में, परिवार में, व्यापार में, शिक्षा में ये मुझे सब जगह परिलक्षित होने लगी। ये मुझे प्रेरित करती थीं कि मैं लिखूँ। तब मुझे लगा कि सबसे अच्छा माध्यम इसे व्यक्त करने का व्यंग्य है। ऐसी परिस्थिति यदि समाज की हो, तो व्यंग्य सबसे अच्छा माध्यम होता है। आलोचना का, साक्षात्कार का और परिवर्तन की चेतना को जगाने का। इसलिए मैंने व्यंग्य को स्वीकार किया।

(साभार : 'वसुधा' हरिशंकर परसाई विशेषांक, जून 1998 (अंक : 41))

शोध, समीक्षण, सृजन एवं संचार का

मुक्तांचल

पीयर रिव्यूड त्रैमासिक

वर्ष-8, अंक- 30-31, अप्रैल-सितंबर 2021

संपादक : डॉ. मीरा सिन्हा

अतिथि संपादक : डॉ. पंकज साहा

प्रकाशक : आनंद कुमार सिन्हा

प्रबंध संपादक : सुशील कुमार पांडेय

कला संपादक : शुभांगता श्रीवास्तव

आकल्पक : सोनू प्रजापति

प्रूफ संशोधक : विनोद यादव

परामर्श एवं विशेष सहयोग :

प्रो. दामोदर मिश्र : अध्यक्ष, हिंदी विभाग, विद्यासागर विश्वविद्यालय

डॉ. कृष्ण कुमार : अध्यक्ष, गीतांजलि बहुभाषिक साहित्यिक समुदाय, (बर्मिंघम, यू.के.)

डॉ. पंकज साहा : खड़गपुर कॉलेज, पश्चिम बंगाल

डॉ. अरुण कुमार : प्राक्तन प्रोफेसर, राँची विश्वविद्यालय

डॉ. रणजीत सिन्हा : मिदनापुर कॉलेज (ऑटोनोमस), मिदनापुर

डॉ. मृत्युंजय पाण्डेय : सुरेंद्रनाथ कॉलेज, कोलकाता

डॉ. निशांत : काजी नजरूल विश्वविद्यालय, आसनसोल

डॉ. रामप्रवेश रजक : हिंदी विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय

डॉ. प्रकाश कुमार अग्रवाल : हिंदी विभाग, खड़गपुर कॉलेज

डॉ. विनय कुमार मिश्र : विक्रम विद्यालय (ब्रांच)

व्यवस्थापन एवं प्रबंधन :

रेणु चौधरी, विनीता लाल, पार्वती शॉ एवं प्रभा उपाध्याय

संपर्क एवं प्रसार :

चाँदनी सिन्हा (बर्मिंघम, यू.के.) : +447411412229

कुणाल किशोर (के.वि. हिमाचल प्रदेश) : 7998837003

लेखकों से अनुरोध किया जाता है कि मुक्तांचल में प्रकाशन हेतु सामग्री यूनिकोड वर्ड (Unicode Word) या (Kurtidev010) में भेजें।

पत्रिका में व्यक्त विचारों से संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं 'मुक्तांचल' से संबंधित सारे विवादों के लिए न्याय-क्षेत्र कलकत्ता उच्च न्यायालय होगा।

पीयर रिव्यूड टीम :

डॉ. धूपनाथ प्रसाद : महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा, महाराष्ट्र

डॉ. विश्वजीत भद्र : प्राध्यापक, नेताजी नगर कॉलेज (कलकत्ता विश्वविद्यालय)

प्रो. मोहम्मद फ़रियाद : प्राक्तन अध्यक्ष, जनसंचार विभाग, मौलाना आजाद नेशनल उर्दू यूनिवर्सिटी, हैदराबाद

डॉ. सुनील कुमार 'सुमन' : प्रभारी, क्षेत्रीय केंद्र कोलकाता, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा, महाराष्ट्र

प्रो. मंजु रानी सिंह : विश्वभारती, शांतिनिकेतन

प्रो. अरुण होता : अध्यक्ष, हिंदी विभाग, स्टेट यूनिवर्सिटी, बारासात

प्रो. मनीषा झा : अध्यक्ष, हिंदी विभाग, उत्तर-बंग विश्वविद्यालय

डॉ. सत्या उपाध्याय : प्राचार्य, कलकत्ता गर्ल्स कॉलेज, कोलकाता

डॉ. अंजनी कुमार झा : एसोसिएट प्रोफेसर, मीडिया स्टडीज, महात्मा गांधी केंद्रीय विश्वविद्यालय, मोतीहारी (बिहार)

डॉ. शुभा उपाध्याय : अध्यक्ष, हिंदी विभाग, खुदीराम बोस सेन्ट्रल कॉलेज, कोलकाता

मुक्तांचल: A/c- 50200014076551, HDFC BANK
BURRABAZAR, KOLKATA- 700007,
IFSC CODE- HDFC0000219

संपादकीय कार्यालय :

आधुनिक अपार्टमेंट, 6/2/1 आशुतोष मुखर्जी लेन

सलकिया, हावड़ा-711106, पश्चिम बंगाल

संपर्क - 033-26751686, 9831497320,
9681105070ई-मेल - muktanchalpatrika@gmail.com
sinhameera48@gmail.comमुद्रक : शिक्षण, 50, सीताराम घोष स्ट्रीट,
कोलकाता-700009

पत्रिका का मूल्य : एक अंक - 100 रुपये

सदस्यता शुल्क : वार्षिक- 500 रुपये, आजीवन-2500 रुपये

संस्थाओं के लिए : वार्षिक-550 रुपये, आजीवन-3000रु.

डाकखर्च (प्रत्येक अंक के लिए) अतिरिक्त 30 रुपये।

अवस्थिति

शो	संस्तुति	
	संपादकीय:	हिंदी व्यंग्य की सरसरी पड़ताल
ध	विमर्श:	
	11 राजेश कुमार :	हमारे समय का व्यंग्य
स	16 सुभाषचंद्र गुप्त :	व्यंग्य की विकास-यात्रा: पड़ाव और परिणतियाँ
	35 शशिभूषण द्विवेदी:	ज्ञानानुशासनों के सिरमौर की अंदरूनी कथा
मी	मूल्यांकन	
	45 राजीव कुमार रावत :	हँसते-हँसाते करारी मार के उस्ताद:
क्ष	49 साधना झा :	डॉ. ज्ञान चतुर्वेदी
	53 रेशमी पांडा मुखर्जी:	प्रेम जनमेजय के व्यंग्य नाटक 'सोते रहो' में अभिव्यंजित यथार्थ का स्वरूप
ण	57 प्रतिमा प्रसाद :	राजनीतिक व्यंग्य के माहिर खिलाड़ी:
	64 रणजीत कुमार सिन्हा :	हरिशंकर परसाई
सृ	67 राजीव रंजन राकेश :	राग दरबारी: सामयिक यथार्थ की व्यंग्याभिव्यक्ति
		शरद जोशी एवं हिंदी व्यंग्य
ज		नारद जी खबर लाये हैं:
		समकालीन व्यंग्य का निष्पक्ष दस्तावेज
न	व्यंग्य कल : गद्य	
	70 महावीर प्रसाद द्विवेदी:	प्लेगस्तवराज
सं	71 प्रेमचंद :	हँसी
	73 हरिशंकर परसाई:	बायें क्यों चलें?
चा	75 शरद जोशी :	बुद्धिजीवियों का दायित्व/चौथा बंदर
	76 भगवतीचरण वर्मा:	दो बाँके (कहानी)
र	80 लक्ष्मीचंद्र जैन:	नये वर्ष की नयी डायरियाँ (डायरी)
	81 के. पी. सक्सेना:	मूँछ नहीं तो कुछ नहीं
	82 इब्ने इंशा :	हमारा मुल्क (लघुकथा)
	व्यंग्य कल: पद्य	
	83 भारतेन्दु हरिश्चंद्र :	मुकरियाँ
	83 निराला :	दगा की
	83 नागार्जुन :	जनकवि
	83 अज्ञेय :	देखिए न मेरी कारगुजारी

शोध	84 हुल्लड़ मुरादाबादी :	फुलझड़ी
	84 हुक्का :	विरोधाभास
	84 धूमिल :	कुत्ता
	85 सूर्यभानु गुप्त :	शायरी के चौखटे
	85 हरिओम बेचैन :	बस इसी का शोर है
	86 ओमप्रकाश आदित्य :	होनहार चोर
समीक्षा	86 काका हाथरसी :	शक शंका
	86 भारत भूषण अग्रवाल :	आत्मकथा की झाँकी
	86 ऋषि गौड़ :	अध्यापक
	86 दिनकर सोनवलकर :	चाँदी के पहिये
व्यंग्य आज: गद्य		
	87 नरेन्द्र कोहली :	जनतंत्र
	88 शंकर पुणतांबेकर :	और यह वही था
	89 ज्ञान चतुर्वेदी :	हिंदी में मनहूस रहने की परंपरा
	91 प्रेम जनमेजय :	तेरा गांधी मेरा गांधी
	93 अनूप श्रीवास्तव :	अंतरात्मा का जंतर-मंतर
सृजन	95 लालित्य ललित :	पांडे जी के अंतहीन किस्से
	98 सुरेशकांत :	अधिकारी कवि
	101 गिरीश पंकज :	कथा एक प्रेम जीव की
	103 रामदेव धुरंधर :	लूट लूटे, लूटे लूट
	107 धर्मपाल महेंद्र जैन :	फक्कड़ों की जिंदगी जीना चाहें तो
	110 सी. भास्कर राव :	आयुष्मान भवः
संचार	112 रूप सिंह चंदेल :	वास्तविकता
	113 श्रवण कुमार उर्मलिया :	ईमानदारी का मौसम
	116 राम स्वरूप दीक्षित :	नहीं, अब व्यंग्य नहीं लिखा जा सकता
	118 बुलाकी शर्मा:	समीक्षक की रजाई
	120 भारत यायावर :	जन्मत कौन जाएगा?
	122 अनूप शुक्ल :	गुस्से के कुछ सौंदर्य उपमान
र	124 वीरेंद्र परमार :	कुर्सी की आत्मकथा
	126 राम नगीना मौर्य :	गुरुमंत्र
	135 रूपा गुप्ता :	शादी...! बोले तो?
	138 विनोद कुमार विक्की:	डिजिटलधारी पुत्र का पत्र
	140 वीना सिंह :	मोहे खाकी वर्दी से डर लागे
	142 रंजना जायसवाल :	मिडिल क्लास

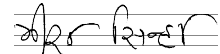
शोध	143 एस. आनंद :	आईना ही खराब है प्यारे
	145 आशीष दशोत्तर :	पथ के पतन की पराकाष्ठा
	146 सजल प्रसाद :	जनसंख्या नियंत्रण का नुस्खा
	149 शिखरचंद जैन :	आपदा है तो अवसर है
	151 आशुतोष सिंह :	कतई न बनें आलोचक
समीक्षा	154 अभिजीत दूबे :	भैया जी के चश्मे का नंबर
	156 रमेश मनोहरा :	कुत्ते से पहचान
	159 मनोहर सिंह चौहान :	कोरोना रैली
	160 नवीन कुमार सिंह :	कविता और मोटर व्हीकल्स (लघुकथा)
	161 पारस कुंज :	प्रतिष्ठा (लघुकथा)
ण	161 रामप्रवेश रजक :	गँवार कौन? (लघुकथा)
	व्यंग्य आज: पद्य	
	162 सुरेंद्र शर्मा :	राम बनने की प्रेरणा
	162 ताराचरण खवाड़े :	गीत
	162 अशोक चक्रधर :	दया
सृजन	163 सदानंद सुमन :	मेमनों को है मुगलता
	163 रामावतार राही :	सुनो 2021
	164 गिरिधर राय :	एम जी रोड
	165 सुरेश शॉ :	इंटलेक्चुअल जेंटलमैन
	166 वेदप्रकाश मिश्र :	प्रश्नकाल
संचार	167 सुनील कुमार शर्मा :	कुर्सी
	साक्षात्कार	
	168 राजशेखर चौबे :	व्यंग्य हिंदी साहित्य का नवोन्मेष है: विनोद साव
	पुस्तकायन	
	172 प्रकाश कुमार अग्रवाल :	समसामयिक विसंगतियों का आईना: इक्कीसवीं शताब्दी के 131 श्रेष्ठ व्यंग्यकार
	176 मांगन मिश्र 'मार्टिड' :	स्तरीय व्यंग्य—संग्रह: हा! वसंत!

संस्तुति

जीवन और जगत की संगति जब क्षीण होने लगती है तब विसंगति और विद्रूपता का पनपना स्वाभाविक हो जाता है। संगति की विसंगति में बदलने की प्रक्रिया वैसी ही है जैसे शरीर में रोगों की अवस्थिति। रोगों से मुक्ति के लिए तीखी और मीठी दवाइयों का प्रयोग किया जाता है, शरीर चिकित्सा के दौर से गुजरता है और आरोग्य लाभ करता है। सामाजिक दुर्गुणों को दूर करने के लिए भी साहित्य का आईना दिखाना जरूरी हो जाता है। दुर्गुण रूपी रोग की पहचान की जाती है और चिकित्सा शुरू करनी पड़ती है। व्यंग्य नामक साहित्यिक विधा भी जीवन और जगत के मध्य पनपने वाली विसंगतियों को चुन-चुन कर पकड़ता है और उस पर अपनी धार चलाता है। इस तरह व्यंग्य विधा साहित्यिक सृजन परंपरा में लंबे समय से हथियार का काम करती रही है। यह एक प्रभावी रेचक है जो जगत में फैली विसंगतियों का रेचन करती है।

हिंदी साहित्य में आधुनिकता का प्रवेश भारतेंदु युग के साथ होता है, उनका प्रसिद्ध 'सटायर' 'अंधेर नगरी' नाटक आज दो सौ वर्षों के अनन्तर भी उतना ही प्रासंगिक है जितना उन्नीसवीं शताब्दी में था। यह एक ऐसी कृति है जो 'तंत्र' में फैले विसंगति के दूषण पर करारा चोट करती है। जगत से जीवन की संगति की तलाश में एक व्यक्ति गोवर्धन दास विसंगति के भ्रमजाल में फँस जाता है और विडंबना का शिकार होते होते बचता है। 'अंधेर नगरी' अर्थात् तंत्र का 'चौपट राजा' का जगत अपनी विडंबना का दुष्परिणाम स्वयं अंगीकार करता है। आज भी 'अंधेर नगरी' है 'चौपट राजा' भी तथा गोवर्धन दास एक नहीं अनेक हैं जो विडंबना और विसंगति से उत्पन्न दुष्परिणामों में से बचकर निकल नहीं पा रहे हैं। ऐसे में व्यंग्य सृजनकार गुरुओं की महती जरूरत है। व्यंग्य कचरा साफ कर सकता है। नई दुनिया का आगाज कर सकता है।

'मुक्तांचल' का प्रस्तुत अंक व्यंग्य सृजन एवं समीक्षण को सिलसिलेवार ढंग से आकलित करने की कोशिश है। प्रत्येक अंक की तरह यह अंक भी 'विद्यार्थी मंच' के सक्रिय सदस्यों के अध्यवसाय का ही परिणाम है। इस मंच की फितरत यह है कि यह जमीन के अंदर रहकर काम करता है। आसमान पर पतंग उड़ाना उसे कम पसंद है इसलिए कि उसमें डोर कटने का जोखिम भी होता है। जमीन की तपिश में विचार-बीज अँखुआते हैं और तोड़कर धरती के अंधकार को प्रकाश की दुनिया में पल्लवित होते हैं और फिर फलप्रसू भी। विद्यार्थी मंच शोध, समीक्षण, सृजन और संचार के क्रियाकलाप अध्ययन एवं अध्यवसाय से जुड़कर करता है। हमारे श्रम की श्रेष्ठता मुक्तांचल के हर अंक में मुखरित होती है। कुशल संपादक प्रसिद्ध व्यंग्यकार, कथाकार एवं आलोचक डॉ. पंकज साहा ने इस व्यंग्य विशेषांक को बेहतर आयाम दिया है। मुझे विश्वास है कि अकादमिक जगत में इसका बेहतर उपयोग हो सकेगा।



संपादक

हिंदी व्यंग्य की सरसरी पड़ताल

व्यंग्य के संदर्भ में पहला प्रश्न उठता है कि व्यंग्य क्या है? एक वाक्य में कहें तो व्यंग्य हँसी-मजाक में कड़वी बात कहने की एक कला है। इसमें सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि विडंबनाओं, विसंगतियों पर चुटीला प्रहार होता है। व्यंग्य तलवार की तरह घाव नहीं देता बल्कि सुई चुभोने या च्यूटी काटने जैसी पीड़ा देता है। करुणा व्यंग्य की आत्मा होती है, परंतु जैसे शुद्ध सोने का जेवर नहीं बनता, वैसे ही विशुद्ध करुणा से विडंबनाएँ तो उभरती हैं, पर व्यंग्य दब जाता है। गजल के संदर्भ में किसी ने कहा है, “गजल में बंदिशों अल्फाज ही नहीं काफी, जिगर का कुछ खून भी चाहिए असर के लिए।” वैसे ही व्यंग्य को थोड़ा रोचक बनाने के लिए उसमें स्मित हास का मिश्रण भी जरूरी है। कुछ उदाहरणों के द्वारा इसे स्पष्ट करने का प्रयास करता हूँ। प्रेमचंद ने अपनी कहानी ‘कफन’ में घीसू के मुख से बुधिया के लिए कहलाया है, “वह न बैकुंठ जाएगी, तो क्या ये मोटे-मोटे लोग जाएँगे, जो गरीबों को दोनों हाथों से लूटते हैं और अपने पाप को धोने के लिए गंगा नहाते हैं और मंदिरों में जल चढ़ाते हैं।” इसमें सामाजिक विडंबनाओं का उद्घाटन कर लेखक करुणा की अंतर्धारा तो बहाते ही हैं, साथ-ही ‘मोटे-मोटे लोग’ पद द्वारा जो तंज करते हैं, उससे पाठकों के चेहरे पर स्मित हास का भाव भी उभर आता है। यहाँ व्यंग्य पूरी तरह उभर आता है। वहीं ‘गोदान’ में जब प्रेमचंद होरी के मुख से कहलाते हैं, “जिसके पैरों तले अपनी गर्दन दबी हो, उसके पैरों को सहलाने में ही कुशल है”, तब सामाजिक विडंबना अत्यंत कारुणिक रूप में उभरती है, पर व्यंग्य दब जाता है। कारण यह कि उक्त उक्ति में विडंबनाओं पर प्रहार नहीं, बल्कि उसे नियति मानकर स्वीकार की भावना है। यही भावना हम तुलसीदास में भी तब देख पाते हैं, जब वे दासी मंथरा के मुख से कहलाते हैं—“कोऊ नृप होवे, हमें का हानि, दासी छाड़िब होहऊँ न रानी।”

चुटीला प्रहार व्यंग्य का पहला गुण है, तो सरलता एवं सहजता इसका दूसरा गुण है। शेक्सपियर अंग्रेजी साहित्य के महान लेखक हैं। उनके एक नाटक ‘जूलियस सीजर’ में ब्रूटस अपने मित्र सीजर की हत्या कर देता है। इस पर ब्रूटस का एक मित्र मार्क एंटोनी ब्रूटस के बारे में कहता है, “ब्रूटस इज ए नोवेल पर्सन।” इसके द्वारा एंटोनी वास्तव में ब्रूटस को ‘नोवेल पर्सन’ यानी भद्र पुरुष बताना नहीं चाहता बल्कि उस पर तंज कसता है। इसे बौद्धिक शीर्षासन कहते हैं। यह भी व्यंग्य का एक गुण है।

वैसे तो हिंदी-साहित्य में व्यंग्य की शुरुआत आदिकाल से ही हो जाती है। आदिकालीन सिद्ध साहित्य, नाथ साहित्य एवं रासो साहित्य में व्यंग्य की छटा यत्र-तत्र विद्यमान है। डा. रामखेलावन पांडेय का मानना है कि “सिद्ध साहित्य में पूजा-पाठ करने वाले पंडितों, गंगा-स्नानादि को पुण्य-कर्म मानने वाले पौराणिक धर्मावलंबियों पर व्यंग्य किये गये हैं।” परंतु हिंदी-साहित्य में व्यंग्य का प्रस्थान बिंदु कबीरदास से माना जाता है। कबीर का

काव्य तो व्यंग्य का खजाना ही है। उनके काव्य में व्यंग्य का प्रहारक रूप उनके भाव एवं उनकी भाषा दोनों में विद्यमान है। उनकी भाषा की मारक क्षमता से मुग्ध होकर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा था, “यह भाषा सीधी होने पर भी ऐसी चोट करती है कि चोट खाने वाला धूल झाड़कर चल देने के सिवा और कोई रास्ता नहीं पाता।”

भक्तिकाल के सूरदास, तुलसीदास आदि के काव्य में व्यंग्य की उपस्थिति है। सूरदास के “आयो घोष बड़ो व्यौपारी”, “जोग सिखावन आयो पांड़े” जैसे पदों में व्यंग्य की महीन मार है। तुलसीदास के ‘रामचरितमानस’ में नारद मोह प्रसंग में हास्य का भाव है, तो अपनी ‘कवितावली’ में तत्कालीन शासक की क्रूरता एवं उनके कर्मचारियों की लूट-खसोट की प्रवृत्ति पर तंज करते हुए वे कहते हैं—“खेती न किसान को भिखारी को न भीख भली। बनिक को बनिक न चाकर को चाकरी। जीविका विहीन लोग सीधमान सोच बस। कहैं एक एकन कौं कहाँ जाइ का करी।”

इसी प्रकार रीतिकालीन काव्य में केशवदास, बिहारीलाल आदि के काव्यों में भी व्यंग्य को देखा जा सकता है।

आधुनिक काल में भारतेंदु युग एवं द्विवेदी युग के प्रायः सभी लेखकों में व्यंग्य की छटा दिखलाई पड़ती है। भारतेंदु ने पैरोडी, मुकरी, प्रहसन आदि के द्वारा अपने समय के सामाजिक, राजनीतिक परिवेश की विसंगतियों का अत्यंत कुशलता से उद्घाटन किया है। भारतेंदु युग एवं द्विवेदी युग के प्रायः सभी लेखकों ने अपने व्यंग्य निबंधों, टिप्पणियों आदि के द्वारा ब्रिटिश सत्ता को चुनौती देने का एवं समाज की विडंबनाओं, सड़ी-गली परंपराओं, अंधविश्वासों आदि पर

विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से चुटीला प्रहार किया है। भारतेंदु के अलावा बालमुकुंद गुप्त, प्रतापनारायण मिश्र, पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी, चंद्रधर शर्मा ‘गुलेरी’, यहाँ तक कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल के कुछ निबंधों में भी व्यंग्य-विनोद की छटा दिखलाई पड़ती है।

प्रेमचंद, निराला, नागार्जुन, अज्ञेय, मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय, धूमिल, दुष्यंत कुमार, हरिशंकर परसाई, श्रीलाल शुक्ल, शरद जोशी, कृष्णचंदर प्रभृति की रचनाओं में उच्च कोटि के व्यंग्य के दर्शन होते हैं।

परसाई जी ने व्यंग्य को साहित्य की विधा नहीं माना है, बल्कि ‘स्पिरिट’ माना है जिसका प्रयोग किसी भी विधा में हो सकता है। फिर भी, व्यंग्य को विधा के रूप में क्लासिकीय ऊँचाई प्रदान करने का श्रेय परसाई जी को ही जाता है। परसाई जी के व्यंग्य की सबसे बड़ी विशेषता है—सरल ढंग से गंभीर बात कह जाना। ‘सदाचार का ताबीज’, ‘निंदा रस’, ‘घायल वसंत’, ‘वैष्णव की फिसलन’, ‘भोलाराम का जीव’ जैसी रचनाओं में व्यंग्य की अद्भुत धार देखने को मिलती है। ‘सदाचार का ताबीज’ में उन्होंने अत्यंत सहज एवं रोचक ढंग से बताया है कि सदाचार का ताबीज बाँध लेने से राज-कर्मचारी ईमानदार नहीं हो सकते। माह के अंत में उनकी जो हालत हो जाती है, वह उन्हें भ्रष्ट बनने को मजबूर करती है। अपनी ‘निंदा रस’ नामक रचना में वे चेखव की एक कहानी का जिक्र करते हैं। कहानी में एक स्त्री किसी सहेली के पति की निंदा अपने पति से कर रही है—वह बड़ा उचक्का, दगाबाज आदमी है। बेईमानी से पैसा कमाता है। कहती है कि मैं उस सहेली की जगह होती, तो ऐसे पति को त्याग देती। तब उसका पति उसके सामने यह रहस्य खोलता है

कि वह स्वयं बेईमानी से इतना पैसा कमाता है। सुनकर स्त्री स्तब्ध रह जाती है। क्या उसने पति को त्याग दिया? जी हाँ, वह दूसरे कमरे में चली गयी।

ऐसे ही सरल शब्दों में शंकर पुणतांबेकर, रवींद्रनाथ त्यागी, गोपाल प्रसाद व्यास, ज्ञान चतुर्वेदी, नरेंद्र कोहली, मनोहरश्याम जोशी, प्रेम जनमेजय, हरीश नवल, गोपाल चतुर्वेदी, के. पी. सक्सेना, सूर्यबाला, अनूप श्रीवास्तव, ललित लालित्य, राजेश कुमार, सुरेशकांत, बालेंदुशेखर तिवारी, गिरीश पंकज एवं अन्य अनेक व्यंग्यकारों ने अपनी रचनाओं के द्वारा हिंदी-व्यंग्य के मस्तक को ऊँचा उठाया है।

आज हिंदी में व्यंग्य का लेखन कम उत्पादन अधिक हो रहा है, जिससे क्वालिटी तो बढ़ी है, पर क्वालिटी गिर गयी है। पहले लेखन में व्यंग्य होता था, आज व्यंग्य का लेखन थोक में हो रहा है। इससे यह निष्कर्ष निकालना भूल होगी कि आज स्तरीय व्यंग्य लिखे ही नहीं जा रहे हैं। आज अनेक व्यंग्यकार स्तरीय व्यंग्य लिख रहे हैं और छप भी रहे हैं। स्तरीय व्यंग्य लेखन जितना गद्य में हो रहा है, उतना पद्य में नहीं। पद्य में व्यंग्य-रचनाएँ अधिकतर मंच को ध्यान में रखकर लिखी जा रही हैं, जिनमें व्यंग्य कम चुटकुला अधिक होता है। व्यंग्य की अनेक पत्रिकाएँ आज छप रही हैं, जिनमें कुछ का प्रकाशन नियमित है। नियमित पत्रिकाओं में 'व्यंग्य-यात्रा', 'अट्टहास', 'व्यंग्य तरंग', 'विदूषक' जैसी पत्रिकाएँ उल्लेखनीय हैं। देश एवं विदेशों के चर्चित/अचर्चित व्यंग्यकारों के निजी संग्रह, उपन्यास आदि भी प्रकाशित हो रहे हैं। डा. लालित्य ललित एवं डा. राजेश कुमार ने '21वीं सदी के 131 श्रेष्ठ व्यंग्यकार' एवं '21वीं सदी के

अंतरराष्ट्रीय श्रेष्ठ व्यंग्यकार' पुस्तकों के संपादन के द्वारा देश-विदेश के चर्चित/अचर्चित व्यंग्यकारों को एक जिल्द में लाने का सराहनीय कार्य किया है।

आज हिंदी की लगभग सभी पत्र-पत्रिकाओं में व्यंग्य को स्पेस मिल रहा है। कुछ पत्रिकाओं ने व्यंग्य विशेषांक भी निकाले हैं और कुछ ने व्यंग्य केंद्रित अंक भी प्रकाशित किये हैं। 'मुक्तांचल' का यह अंक ऐसी ही शृंखला की एक कड़ी है। इसका उद्देश्य कल और आज के व्यंग्य-लेखन की सरसरी पड़ताल के साथ-साथ नवोदित व्यंग्य लेखकों को व्यंग्य समझने के लिए गवाक्ष खोलना भी है।

मेरे आग्रह पर इस अंक के लिए मॉरीशस से श्री रामदेव धुरंधर एवं कनाडा से श्री धर्मपाल महेंद्र जैन ने अपनी रचनाएँ भेजकर अंक को समृद्ध किया है। उनका आभार। मेरे अनुरोध पर ही देश के अनेक चर्चित/अचर्चित व्यंग्यकारों, लेखकों ने अपनी रचनाएँ भेजकर अंक को संग्रहणीय बना दिया है। उनके प्रति भी आभार। अंक को और अधिक संग्रहणीय बनाने के लिए कुछ लेखकों/कवियों की प्रकाशित रचनाएँ प्रस्तुत की गयी हैं। उन समस्त रचनाकारों के प्रति भी आभार।

आदरणीया डा. मीरा सिन्हा के प्रति आभार किन शब्दों में व्यक्त करूँ? उन्होंने मुझ जैसे नौसिखिये व्यंग्यकार को 'मुक्तांचल' के व्यंग्य विशेषांक हेतु अतिथि संपादन का दायित्व सौंप दिया। मैंने भी अपने कमजोर कंधे पर इस भार को उठाने का दुस्साहसपूर्ण कार्य किया है। अंक कैसा बन पड़ा है, इसका निर्णय पाठक करेंगे, परंतु आशा तो कर ही सकता हूँ कि व्यंग्य-जगत में 'मुक्तांचल' के इस अंक का स्वागत होगा।

पंकज साहा

हमारे समय का व्यंग्य

राजेश कुमार

हम लोग 21वीं शताब्दी के 20वें साल में हैं। इसका मतलब है कि 21वीं शताब्दी का लगभग 1 बटा 5 हिस्सा हम पार कर चुके हैं। बाकी के 80 साल अभी बाकी हैं। ज्योतिषियों को छोड़ दिया जाए, शायद किसी व्यक्ति में इतनी क्षमता नहीं होगी कि वह अगले 80 सालों के बारे में सटीक अनुमान लगा सके। मैं कोशिश करता हूँ कि अगले 10 साल के बारे में अनुमान लगाऊँ, जिसके आधार पर हम लोग देख सकते हैं कि उसके आगे के 10 साल और फिर आगे के और 60 साल किस दिशा में जाने वाले हैं।

व्यंग्य की दिशा और दशा को समझने के लिए हमें तीन चीजों पर विचार करना होगा—

1. व्यंग्य की बुनियाद कितनी मजबूत है।
2. वर्तमान समय में व्यंग्य किस रूप में फल-फूल रहा है, और
3. भविष्य में इस विधा को संभालने के लिए रचनाकार कितने सशक्त हैं और विशेष रूप से व्यंग्य की दृष्टि से देखा जाए, तो इस विधा के फलने-फूलने के लिए स्थितियाँ कितनी अनुकूल हैं।

हिंदी साहित्य के लेखन के साथ ही व्यंग्य किसी-न-किसी रूप में रचनाओं का अंग रहा है। इस संबंध में अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। व्यंग्य के क्षेत्र में कबीर दास के योगदान को भला कौन नजरअंदाज कर सकता है। उनका कथ्य और अभिव्यक्ति दोनों ही व्यंग्य के क्षेत्र में बेमिसाल रही हैं। उदाहरण देखिए—

कांकर पाथर जोरि के, मसजिद लई बनाय।

ता चढ़ि मुल्ला बांग दे, क्या बहरा हुआ खुदाय।।

सूरदास की गोपियों ने भ्रमरगीत में उद्धव को अपने सारे उपालंभ भौरे के माध्यम से व्यंजना में ही दिए हैं। देखिए गोपियाँ कैसे उद्धव को कहती हैं कि—

सूर स्याम जब तुम्हें पठाए, तब नेकु मुसकानो।।

रीतिकाल के कवियों ने भी व्यंग्य का भरपूर उपयोग किया है। मुझे विशेष रूप से रीतिकाल के सशक्त कवि बिहारी का यह दोहा याद आता है —

बहु धनु लै अहसानु कै, पारौ देत सराहि।

बैद-बधू हँसि भेद सौं, रही नाह-मुँह चाहि।।

एक वैद्य महाराज (मतलब लाला रामदेव टाइप) हैं, जो पुत्र जन्म (या अर्थ-भेद से रति-शक्ति बढ़ाने) की शर्तिया दवा बहुत सारा धन लेकर, और बहुत सारा एहसान करके रोगी को दे रहे हैं, और वहीं उनकी धर्मपत्नी बैठी है, जो मुस्कराकर अपने पति का मुँह देख रही है (क्योंकि वह खुद निःसंतान है)। कितना अद्भुत व्यंग्य और वह भी श्रृंगार रस

शिरोमणि की ओर से! इसके बाद हम भारतेंदु हरिश्चंद्र का नाटक देखते हैं, जो व्यंग्य की अद्भुत मिसाल है— अंधेर नगरी चौपट राजा। इनके अलावा भी इस प्रसंग में, और इस संदर्भ में अनेक उदाहरण उद्धृत किए जा सकते हैं, जैसे बालमुकुंद गुप्त, बालकृष्ण भट्ट।

साहित्य की प्रतिष्ठित विधा के रूप में व्यंग्य हमारे सामने हरिश्चंकर परसाई, रवींद्रनाथ त्यागी, शरद जोशी, कृष्ण चंदर, और नरेंद्र कोहली, मनोहरश्याम जोशी, के.पी. सक्सेना सूर्यबाला, गोपाल चतुर्वेदी, यज्ञ शर्मा, शंकर पुणतांबेकर आदि के समृद्ध साहित्य के माध्यम से सामने आता है। इन लेखकों में न केवल शैली की विविधता और परिपक्वता दिखाई देती है, बल्कि विषयगत व्यापकता भी नजर आती है। नरेंद्र कोहली द्वारा रचित 'पाँच एब्सर्ड उपन्यास' अपनी स्वरूपगत विशेषता के लिए यहाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन सभी के तथा इनके समसामयिक और बाद के अनेकानेक व्यंग्यकारों के योगदान को नहीं भुलाया नहीं जा सकता, जिनमें 'राग दरबारी' उपन्यास के लेखक श्रीलाल शुक्ल का विशेष स्थान है। व्यंग्य उपन्यासों की उपस्थिति से यह साबित होता है कि व्यंग्य विधा केवल छोटी रचना तक ही सीमित नहीं रहती, बल्कि उसका निर्वाह बड़े कैनवास पर, बड़े फलक पर भी किया जा सकता है, और सफलतापूर्वक किया जा सकता है। व्यंग्यकारों की इस पीढ़ी ने अद्भुत और पाए का काम किया है, जो आज भी हमारे लिए प्रशंसा और सीखने का अवलंब बना हुआ है।

इसके आगे आने वाले समय में व्यंग्य के क्षेत्र में बहुत विकास देखा गया। प्रेम जनमेजय, हरीश नवल, सुरेश कांत, ज्ञान चुतर्वेदी, अंजनी चौहान, राजेश कुमार आदि ने इस क्षेत्र में जमकर

लिखा और अपनी प्रभावपूर्ण शैली, नए प्रयोगों, और विषयगत विविधता से इस विधा को समृद्ध किया।

इन्हीं दिनों व्यंग्य की आलोचना के क्षेत्र में भी काम शुरू हुआ। अब तक जहाँ साहित्य के इतिहासकार व्यंग्य को चलताऊ ढंग से किसी अनजान से कोने में स्थान देते थे, वहाँ अब व्यंग्य विधा पर स्वतंत्र रूप से कार्य होने लगे। इन आलोचकों में विशेष रूप से शेरजंग गर्ग, श्याम सुंदर घोष, बालेंदु शेखर तिवारी, गौतम सान्याल, तरसेम गुजराल का नाम आता है।

इसी दौरान इस विषय पर विचारोत्तेजक चर्चा आरंभ हुई कि व्यंग्य विधा है या नहीं? इसका स्वतंत्र अस्तित्व है या यह अन्य विधाओं में सहायक उपकरण, यानी शैली के रूप में सहायता करती है। इस संदर्भ में अतिवादी दृष्टिकोण सामने आए। कुछ लोगों ने व्यंग्य के विधा के रूप को सिरे से खारिज करते हुए कहा कि यह मात्र शैली है और इसका अन्य विधाओं में सहायक साधन से अधिक महत्व नहीं है। दूसरी ओर व्यंग्य विधा के हामी आलोचकों और व्यंग्यकारों ने यह स्थापित करने की कोशिश की कि व्यंग्य न केवल स्वतंत्र विधा है, बल्कि यह साहित्य की अन्य विधाओं से श्रेष्ठ भी है। कुल मिलाकर, व्यंग्य को साहित्य में स्वतंत्र विधा के रूप में स्थान और सम्मान प्राप्त हो गया।

इसके साथ ही व्यंग्य रचनाओं को पाठ्यक्रमों में स्थान मिला और विश्वविद्यालयों में भी शोध के विषय के रूप में व्यंग्य रचनाओं और व्यंग्यकारों को चुना जाने लगा। स्वयं मुझे अपने एम. फिल. के शोध प्रबंध के रूप में हरिश्चंकर परसाई पर काम करने का अवसर मिला था।

अपने विधागत आकर्षण और पाठकों की माँग के कारण व्यंग्य अब ज्यादातर पत्रिकाओं और अखबारों में विशेष स्थान प्राप्त करने लगे थे,

और स्थायी स्तंभ के रूप में भी प्रकाशित होने लगे थे। इस तरह अनेक व्यंग्यकारों ने नियमित रूप से लिखकर इस विधा में योगदान किया। हरिशंकर परसाई ने एक व्यंग्य स्वयं स्तंभ लेखन पर भी लिखा है।

शुद्ध व्यंग्य, हास्य व्यंग्य, और हास्य विनोद पर स्वतंत्र रूप से पत्रिकाएँ भी सामने आने लगीं। दीवाना, तेज, अट्टहास, नई गुदगुदी, चकल्लस, व्यंग्य यात्रा आदि का नाम यहाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

अपने ज्ञान की सीमा के कारण यह स्थिति मैंने, सिर्फ हिंदी साहित्य के बारे में बताई है। अगर इसमें भारतीय साहित्य के परिप्रेक्ष्य को जोड़ लिया जाए, तो यह और अधिक समृद्ध और भव्य दिखाई देगी। इसी संदर्भ में ध्यातव्य है कि विभिन्न भारतीय भाषाओं से हिंदी में और हिंदी भाषा से विभिन्न भारतीय भाषाओं में व्यंग्य रचनाओं का अनुवाद भी शुरू हुआ है, जो आज भी जारी है।

अगर हम व्यंग्य की आज की स्थिति देखें, तो यह विश्वास दिलाने वाली स्थिति है। बहुत से लेखक इस क्षेत्र में सक्रिय और कुछ अति-सक्रिय रूप से काम कर रहे हैं। अगर हम सब लोग व्यंग्य लिखना छोड़ दें, और केवल व्यंग्यकार लालित्य ललित को ही व्यंग्य लेखन की जिम्मेदारी दे दें, तो अगले 10 साल में वे कम से कम 3650 व्यंग्य लिख लेंगे, उनकी लगभग डेढ़ सौ पुस्तकें प्रकाशित हो जाएँगी, जिनमें संकलन और संपादित पुस्तकें शामिल नहीं हैं। और यह सिर्फ व्यंग्य की ही गणना है। इसके अलावा वे कविताएँ, आलोचनाएँ, बाल साहित्य वगैरह लिखने के लिए भी स्वतंत्र रहेंगे। इस संदर्भ में सुरेश कांत, विनोद कुमार विकी, हरि जोशी जैसे साहित्यकार भी उनसे टक्कर

लेते हुए दिखाई देंगे। लेकिन हम सब भी लिखते रहेंगे, हमसे पुरानी पीढ़ी के लोग भी लिखते रहेंगे, और नई पीढ़ी के लोग भी बहुत विश्वास और बहुत कुशलता से व्यंग्य में ताजगी लाते रहेंगे। और यह सब हमें व्यंग्य विधा के फलने फूलने की गारंटी देता हुआ नजर आता है।

दोस्तो, व्यंग्य का संदर्भ कहाँ से पैदा होता है? वे कौन सी स्थितियाँ और कारण हैं, जो लेखक को सामान्य अन्य विधाओं को छोड़कर व्यंग्य जैसी कठिन और श्रमसाध्य विधा को अपनाने पर मजबूर करते हैं, जिसके बारे में घनानंद ने लिखा है—

**यह व्यंग्य को पंथ कराल महा,
तरवारि की धार धावनो है।**

हमारा एक संविधान है, जो हम लोगों को कुछ अधिकार और उसके साथ कुछ कर्तव्य देता है। भारतीय दंड संहिता है, जो वादा करती है कि हमारी सुरक्षा करेगी। संयुक्त राष्ट्र ने सभी देशों के लिए पूरी सदी के लिए 17 लक्ष्य निर्धारित किए हैं। इनमें गरीबी और भूख दूर करना, सभी के लिए प्राथमिक शिक्षा मुहैया करवाना, स्त्री-पुरुष की समानता हासिल करना और महिलाओं को सशक्त करना, शिशुओं की मृत्यु दर में कमी लाना, माँ के स्वास्थ्य में सुधार करना, रोगों को दूर करना, पर्यावरण की संवहनीयता की दिशा में काम करना, आदि शामिल हैं। इसके अलावा जब भी देश में चुनाव होते हैं, तो विभिन्न राष्ट्रीय दल अपने-अपने घोषणा पत्र के माध्यम से हमें सुनहरे भविष्य के सपने दिखाते हैं। कुछ गंभीर अर्थशास्त्री और समाजशास्त्री आगे के वर्षों के लिए हमारे सामने अनुमान प्रस्तुत करते हैं। व्यंग्य के विषय इसी पृष्ठभूमि से जन्म होते हैं।

एक संसार साहित्यकार का होता है। इसमें

कुछ भी गलत नहीं होता, सब लोग खुशहाल होते हैं, सब लोग प्रगति करते हैं, कोई गरीब अमीर नहीं होता, कोई छोटा बड़ा नहीं होता, कोई भूखा नहीं मरता, कोई किसी को टाँग नहीं मारता, सब लोग एक दूसरे की मदद करते हैं, कोई किसी से ईर्ष्या नहीं रखता, कोई किसी की जेब नहीं काटता, कोई किसी को नीचा नहीं दिखाता, शेर और बकरी एक ही घाट पर पानी पीते हैं, आदि। और एक वास्तविक दुनिया होती है, जिसमें सब कुछ होता है, लेकिन वही नहीं होता, जो लेखक के संसार में होता है। साहित्यकार, और अपने विशेष ढंग से व्यंग्यकार वास्तविक दुनिया को दुरुस्त करके, उसे झाड़-पोंछकर अपनी दुनिया के नजदीक लाने का अनथक श्रम करता है।

सदी के आने वाले सालों के लिए कुछ सवाल हैं, जो मैं आपके सामने रखना चाहता हूँ—
क्या गरीब व्यक्ति खुशहाल होने वाला है?
क्या पुलिस चोर को पकड़ने वाली है?
क्या नेता जनता की सेवा में लगने वाले हैं?
क्या अध्यापक पढ़ाने वाला है और विद्यार्थी पढ़ने वाले हैं?
क्या नेता लोगों को धर्म के नाम पर लड़वाना बंद कर देंगे?
क्या व्यक्ति स्वार्थी और लोभी नहीं रहेगा?
क्या बड़े देश छोटे देशों को नहीं दबाएँगे?
क्या दुनिया से आतंकवाद खत्म हो जाएगा?
क्या सतगुरु सत्कर्म में लगने वाले हैं?
क्या पुरुष और स्त्री समान होने वाले हैं?
क्या भाई भाई का गला नहीं काटेगा?
क्या पुलिस का सिपाही बिना रिश्तों लिए जाने देगा?
क्या आपकी अचल संपत्ति का रजिस्ट्रेशन बिना अधिकारी की जेब गरम किए हो जाएगा?
क्या डॉक्टर किडनी बेचना बंद कर देंगे?

क्या कोई किसी दूसरे के लिए परीक्षा में नहीं बैठेगा?
क्या साहित्यकार पुरस्कार लेने के लिए चापलूसी नहीं करेगा?

क्या इंजीनियर रेत का पुल नहीं बनाएगा?
क्या चौकीदार अपने काम पर नहीं सोएगा?
क्या व्यापारी अपना लाभ बढ़ाने के लिए लोगों की जान की बाजी नहीं लगाएगा?
क्या दहेज का लेन-देन बंद हो जाएगा?
क्या प्रतिभा को दबाया नहीं जाएगा?
क्या बिना रिश्तों या पहचान की नौकरी मिलने लगेगी?

और ऐसे ही बहुत सारे सवाल हैं, जो हमारे साथ खड़े थे, खड़े हैं, खड़े रहेंगे। साहित्यकार के रूप में, और विशेष रूप से व्यंग्यकार के रूप में, हमें अपने लोगों की, जनता की सुख-शांति के लिए इन स्थितियों से जूझना है, इन स्थितियों को कम करने की दिशा में संघर्ष करना है, ताकि लोगों का जीवन ज्यादा खुशहाल और ज्यादा संतोषजनक हो सके।

दोस्तो, मैं हमेशा इस बात का पक्षधर हूँ कि जब तक साहित्य, जिसमें व्यंग्य भी पुरजोश शामिल है, जनता से नहीं जुड़ता, जनता उसे नहीं पढ़ती, वह जनता के जीवन को नहीं छूता, उससे जनता के जीवन में बदलाव नहीं आता, तब तक वह अपने लक्ष्य से दूर रहता है। मुझे याद नहीं आता कि हाल ही में कोई व्यंग्यकार पिटा हो, या उस पर हमला हुआ हो, या उसे गिरफ्तार किया गया। क्योंकि अगर व्यंग्यकार धारदार व्यंग्य लिखें और लोग उसे पढ़ें और समझें और, जो प्रभावित पक्ष है और अगर वह प्रभावी भी है, वह उस पर हमला न करें, तो फिर ऐसे व्यंग्य-लेखन का क्या फायदा! इससे तो पान की या आज के संदर्भ में चाय की दुकान खोल लेना ज्यादा फायदे का सौदा रहेगा। अगर

विमर्श

व्यंग्यकार को पुरस्कार मिलता है, खास तौर से सरकार की ओर से पुरस्कार मिलता है, तब ऐसा लगता है कि या तो व्यंग्यकार की कलम में दम नहीं है, या फिर पुरस्कार देने वाले के पास पढ़ने का समय नहीं है या फिर यह कि पुरस्कार देने वाले का मानसिक स्तर बहुत ऊँचा हो चुका है। क्योंकि अगर ऐसा नहीं होता, तो वह व्यंग्यकार को पुरस्कार देने की बजाय, उसे किसी झूठे मामले में फँसाने की दिशा में अग्रसर होता।

मेरी कामना है कि हम इस सदी में देखें कि साहित्यकारों पर, और व्यंग्यकारों पर उसी तरह से समाचार प्रकाशित और प्रसारित हों जैसे कि

राजनेताओं पर होते हैं, व्यंग्य के क्षेत्र में चर्चाएँ हों, कार्यशालाएँ आयोजित हों, व्यंग्य लेखन के लिए पाठ्यक्रम हो, नई टेक्नोलॉजी का इस्तेमाल किया जाए, नई पीढ़ी के साथ व्यंग्यकारों का विचार-विमर्श हो, लोग व्यंग्य पढ़ें और उसके माध्यम से समाज और व्यक्ति के जीवन में सुधार और विकास का रास्ता प्रशस्त हो।

मैं इस विश्वास और इस कामना के साथ इस चर्चा को आगे बढ़ाने के लिए मार्ग देता हूँ कि व्यंग्य लोगों के जीवन में सार्थक परिवर्तन लाएगा, और उनके जीवन का अभिन्न अंग बनेगा, और उनके सुख-दुख का साथी बनेगा। उनका संबल बनेगा, उनका हाथ थामेगा।

संप्रति: सदस्य, केंद्रीय हिंदी शिक्षण मंडल, भारत सरकार

निदेशक, राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान, सी-205, सुपरटेक इको सिटी, सेक्टर 137, नोएडा, उत्तर प्रदेश 201305, ईमेल: drajeshk@yahoo.com, मोबाइल 9687639855

“जो अपने युग के प्रति ईमानदार नहीं होता, वह अनंत काल के प्रति कैसे हो सकता है?”
(हरिशंकर परसाई)

हमें यह स्वीकारना होगा कि व्यंग्य स्वतंत्र भारत में भ्रमभंग के पश्चात अपनी सबल सामाजिक पक्षधरता के साथ तीव्र रचनात्मकता लिए सक्रिय हो उठता है। आधुनिक युग के पूर्व हिंदी गद्य में व्यंग्य की यह प्रवृत्तियाँ उसे जनसामान्य के प्रमुख प्रवक्ता का दर्जा दिलाती हैं।
(सुरेश आचार्य)

व्यंग्यकार के लिए यथार्थ-बोध के साथ-साथ औचित्य-बोध भी जरूरी है, इसके अभाव में व्यंग्य के तीर निकल ही नहीं सकते, न तीरों में तीक्ष्णता आती है।
(कृष्णचंद्र लाल)

व्यंग्य की विकास-यात्रा: पड़ाव और परिणतियाँ

सुभाषचंद्र गुप्त

वैसे तो मूल रूप से और समग्र रूप से साहित्य कर्म की भूमिका प्रतिपक्ष की भूमिका होती है, लेकिन साहित्यिक अभिव्यक्ति के अन्य रूपों की तुलना में व्यंग्य-लेखन की भूमिका थोड़ी अलग, विशिष्ट और धारदार होती है। अलग और धारदार इस अर्थ में कि जब एक रचनाकार इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था यों ही नहीं बदलेगी, उस पर सीधा आक्रमण करना होगा, तब शालीनता की औपचारिकताएँ नकार दी जाती हैं और उसकी जगह रचना को व्यवस्था से एक सीधी मुठभेड़ के तौर पर इस्तेमाल किया जाता है। पर इस मुठभेड़ की पृष्ठभूमि में एक लोकतांत्रिक सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था के नवनिर्माण की वृहत्तर आकांक्षा सक्रिय होती है। व्यंग्य सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था की विसंगतियों और विद्रूपताओं के प्रतिरोध में जन्म लेता है। जो सही है उसे गलत कहा जाने लगे, जो सत्य है उसे असत्य कहा जाने लगे, जो बहिष्कार के लायक हो उसे अंगीकार किया जाने लगे-ऐसे में जनता, जनतंत्र, न्याय, मनुष्यता और सत्य की रक्षा के लिए प्रतिरोध की भंगिमा में बदलाव का होना स्वाभाविक भी है और जरूरी भी। विद्रूप और विसंगत यथार्थ मनुष्य में निराशा का भाव पैदा करता है और निराशा के भाव की परिणतियाँ दो रूपों में होती हैं-या तो जीवनहीनता के रूप में या अराजकता के रूप में और ये दोनों परिणतियाँ किसी भी समाज के लिए, किसी भी राष्ट्र के लिए शुभ नहीं कही जा सकतीं। व्यंग्य का मारक तेवर निराशा की जड़ता को तोड़, संघर्ष की हलचल पैदा करता है और इस संघर्ष की प्रक्रिया से बेहतर भविष्य के निर्माण का स्वप्न भी जन्म लेता है। संघर्ष और सृजन का स्वप्न दोनों व्यंग्य-प्रक्रिया के अनिवार्य तत्व हैं। अपने समय की विसंगतियों और विरोधाभासों के विरुद्ध व्यंग्य की सर्जनात्मक प्रयोजनशीलता उसे व्यापक चिन्ताओं से जोड़ती है, क्योंकि उसकी मूल चिन्ता उन विकृतियों और विसंगतियों को दूर कर एक स्वस्थ, सभ्य और लोकतांत्रिक, सामाजिक व राजनीतिक व्यवस्था का निर्माण होती है। हमें याद रखना चाहिए कि लोकतंत्र केवल एक राजनीतिक दर्शन नहीं है, वरन् यह एक समाज-दर्शन भी है, एक जीवन-पद्धति भी है। यहाँ लोकतंत्र से अभिप्राय जनता के लोकतंत्र से है,

पूँजीवादी लोकतंत्र से नहीं। कथाकार रेणुजी से शब्द उधार लेकर कहें तो जनपक्षीय लोकतंत्र मानव को सामाजिक और समाज को मानवीय बनाने की प्रक्रिया को गति भी देता है और मजबूती भी। लोकतांत्रिक समाज या राजनीतिक व्यवस्था से आशय उन सकारात्मक एवं मानवीय परिस्थितियों की मौजूदगी है जिनके अन्तर्गत हर नागरिक अपनी सहज गरिमा, अपने आत्म-सम्मान और संपूर्ण स्वतंत्रता के साथ अपनी उपस्थिति दर्ज करा सके। जीने की स्वतंत्रता, जीने के लिए जरूरी साधनों को हासिल करने की स्वतंत्रता और अपने सुख-दुःख को निर्भयता के साथ व्यक्त करने की स्वतंत्रता यानी अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता—ये लोकतंत्र की बुनियादी शर्तें हैं। जो समाज—व्यवस्था और राजनीतिक व्यवस्था अपने नागरिकों को जितनी अधिक मानवीय, सर्जनात्मक और सामूहिकता—बोध की प्रेरणाएँ देती हैं—वह व्यवस्था उतनी ही लोकतांत्रिक बनती है। जाहिर है, लोकतांत्रिक समाज—व्यवस्था और राजनीतिक व्यवस्था के निर्माण के लिए एक वैज्ञानिक व बहुलतावादी जीवन—दृष्टि और समाज व राजनीति की मौजूदा संरचना की गहरी समझ का होना जरूरी है। यही कारण है कि व्यंग्य एवं करुणा व्यंग्य की रचना—प्रक्रिया के अभिन्न अवयव बनते हैं। करुणा पीड़ित वर्ग के लिए और व्यंग्य पीड़ादायी जीवन स्थितियों को जन्म देने वाली ताकतों के लिए। यह किसी भी कोण से जटिलता से बचकर परिस्थितियों का सरलीकरण नहीं है। व्यंग्य तभी ऊँचाई पर पहुँचता है जब उसके मूल में व्यापक मानवीय संवेदना और सृजन की वृहत्तर आकांक्षा मौजूद रहती है। इसलिए एक लेखक को व्यंग्य की प्रक्रिया से गुजरते हुए अपने गंतव्य का अहसास यानी जनतांत्रिकता का मूल्य—बोध पूरी तरह होना चाहिए। व्यंग्य की

रचना—प्रक्रिया उन तमाम सत्ताओं, सरोकारों व स्थितियों का खुला प्रतिरोध करती है जो किसी भी तरह की दासता और जड़ता को जन्म देते हैं। कथाकार अरुण प्रकाशजी ने लिखा है—“सृजनात्मक साहित्य होते हुए भी व्यंग्य इस अर्थ में भिन्न होता है कि (व्यंग्य) वस्तुजगत के यथार्थ विश्लेषण के लिए काल्पनिक स्थितियों एवं पात्रों को वस्तुजगत से टकराकर उसके यथार्थ के अंतरंग को सामने ला देता है। दूसरी सृजात्मक विधाएँ वस्तुजगत के यथार्थ से प्रेरित होकर, थोड़ी कल्पनाशीलता मिलाकर रचना का यथार्थ रचती हैं। व्यंग्य पाठक को वस्तुजगत को देखने का एक नया दृष्टिकोण देता है।” स्पष्ट है कि यह नया दृष्टिकोण पाठक को विद्रूप यथार्थ की परतों को देखने का मौका भी देता है और विद्रूप यथार्थ को बनाने वाली शक्तियों व परिस्थितियों को समझने की चेतना भी देता है। सामान्य आदमी या पाठक भी यथार्थ से अनजान नहीं होता, पर व्यंग्य परिस्थितिजन्य द्वन्द्वात्मकता के बीच पक्षधरता तय करने की रौशनी देता है क्योंकि व्यंग्य का प्रतिरोध पारदर्शी होता है, जबकि अन्य विधाओं का प्रतिरोध प्रतीकात्मक भी होता है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—“व्यंग्य तभी होता है जब कहने वाला अधरोष्ठ में हंस रहा होता है, सुनने वाला तिलमिला उठता है, फिर भी जवाब देना खुद को उपहासास्पद बना लेना होता है।” दूसरी तरफ हरिशंकर परसाई लिखते हैं—“व्यंग्य जीवन की आलोचना है। विसंगतियों, मिथ्याचारों और पाखंडों का पर्दाफाश करने वाले मानते हैं कि व्यंग्य एक गंभीर चीज है, हँसने—हँसाने की चीज नहीं है।...व्यंग्य पढ़कर—सुनकर हँसी आ जाना प्रासंगिक भर होता है, वह व्यंग्य का अभीष्ट नहीं होता। व्यंग्यकार का मानवीयता

और मानव-जीवन से गहरा सरोकार होना चाहिए। यदि यह सरोकार उसके पास नहीं है तो वह जो कुछ लिखेगा, वह फूहड़ हो जायेगा, हास्यास्पद हो जायेगा उसकी धार खत्म हो जायेगी।" यहाँ मैंने दो उद्धरणों का उल्लेख जानबूझकर किया है। ऊपर अंकित दोनों उद्धरणों पर नजर डालें तो व्यंग्य की अवधारणात्मक एवं रचनात्मक विकास-क्रम को समझ सकते हैं। द्विवेदी जी व्यंग्य को प्रस्तुति-भंगिमा यानी एक शैली के रूप में देखते हैं, जबकि परसाईजी व्यंग्य को वृहत्तर सरोकार से जोड़ते हुए एक विधा के रूप में देखते हैं। लम्बे समय तक व्यंग्य को एक शैली माना जाता रहा है, पर अब व्यंग्य को एक सर्जनात्मक विधा के रूप में मान्यता मिल चुकी है। इस तरह स्पष्ट है कि बदलते समय और परिदृश्य के समानांतर व्यंग्य की रचना-दृष्टि भी बदली है और व्यंग्य की अंतर्वस्तु में भी बदलाव व विस्तार दोनों हुए हैं। कालक्रम की दृष्टि से पड़ताल करें तो हम पाते हैं कि व्यंग्य-लेखन की इतिहास-यात्रा के कई पड़ाव हैं और हर पड़ाव की अपनी उपलब्धि रही है और अपनी रचनात्मक पहचान। इस इतिहास-यात्रा में नये-नये आयाम जुड़ते गये हैं और हिन्दी में व्यंग्य-लेखन का एक समृद्ध और सरोकार संपन्न भूगोल निर्मित हुआ है।

प्रथम चरण के रूप में संस्कृत वांगमय में वर्णित व्यंग्य-प्रसंगों को ले सकते हैं। पर इस तथ्य से इन्कार नहीं कर सकते कि न केवल भारतीय भाषाओं के साहित्य में, बल्कि दुनिया की तमाम भाषाओं के साहित्य में व्यंग्य का विकास हास्य के रूप में हुआ। साथ ही यह भी सच है कि संस्कृत-साहित्य में व्यंग्य का नहीं, व्यंग्यार्थ शब्द का प्रयोग है। व्यंग्यार्थ का बोध व्यंजना-शक्ति से होता है और व्यंजना शक्ति तीन रूपों में वर्णित है

पहली अभिधामूलक व्यंजना, दूसरी लक्षणामूलक व्यंजना और तीसरी है आर्थी व्यंजना। संस्कृत-साहित्य की कृतियाँ हास्य-रस के प्रेरक प्रसंगों से भरी हैं।

दूसरे चरण के रूप में भक्तिकाल और रीतिकाल के हास्य-प्रसंगों का उल्लेख कर सकते हैं। हालांकि भक्तिकाल और रीतिकाल के हास्य-प्रसंगों में बुनियादी फर्क है। भक्तिकालीन रचनाओं में जो हास्य का पुट है, उसमें लोकमंगल की निर्माणात्मक चेतना है, जबकि रीतिकालीन रचनाओं का लक्ष्य आश्रयदाताओं का मनोरंजन करना या काव्य-चमत्कार पैदा करना था। कबीर ने जो 'उलटबांसियाँ' रचीं उनका उद्देश्य काव्य-चमत्कार पैदा करना नहीं था, वरन जन का मानस था। तमाम संतकवि अपने समय और समाज के परिदृश्य को बदलने के पक्षधर थे। इस परिवर्तनकामी पक्षधरता के कारण ही संतकवियों की रचनाओं में मौजूदा समाज-संरचना और सत्ता-संरचना को लेकर एक गहरी खीज-सी दिखायी देती है। इस खीज ने ही उनकी रचनाओं को व्यंग्यात्मक बनाया, पर इस व्यंग्यात्मकता में समय-सत्ता की वर्चस्वशाली संरचना के खिलाफ प्रहार का भाव है तो समाज-निर्माण का लोकतांत्रिक स्वप्न भी है।

तीसरे चरण के रूप में एक बड़े कालखंड की व्यंग्य-यात्रा को यानी भारतेन्दु-युग से लेकर स्वतंत्रता-प्राप्ति के समय तक के विस्तृत कालखंड के भीतर रची जानेवाली व्यंग्य-रचनाओं को विवेचित करना गलत नहीं होगा। भारतेन्दु-युग ब्रिटिश साम्राज्यवाद की दासता का समय था। 1857 के जन-विद्रोह को कुचलने में सफल रही ब्रिटिश हुकूमत अपनी दमनकारी कार्रवाइयों और 'फूट डालो राज करो' की कूटनीति के जरिए यह पुरजोर कोशिश करती रही कि किसी भी स्तर पर संगठित जन-विद्रोह सिर न उठाये।

बावजूद इसके प्रतिरोध की छोटी-छोटी आवाजें उठती रहीं। इस दौर का भयावह सच यह रहा कि राष्ट्रीय मुक्तिसंग्रस का स्वर जहाँ भी उठा, अंग्रेजी सत्ता के प्रतिरोध की आवाज उठानेवालों को एक ही विकल्प दिया—या तो आवाज बंद करो या मौत का फरमान स्वीकार करो। 1857 से 1870 के बीच सजा-ए-मौत यानी फाँसी की सजा पाने वाले क्रांतिकारियों की एक लम्बी सूची है। मसलन, मंगल पांडेय, चापेकर बंधु, खुदीराम बोस, कन्हैया लाल, सत्येन्द्र, बारीन्द्र कुमार घोष, मदनलाल दींगरा, उपेन्द्र बनर्जी जैसे अनगिनत नाम हैं जिन्होंने हँसते-हँसते फाँसी के फन्दे को गले लगा लिया था। कहने का अभिप्राय यह है कि छिटपुट प्रतिरोध की आवाजें उठ रही थीं, पर अंग्रेजी सत्ता की बर्बर कार्रवाइयों के कारण जनता में गहरे भय एवं निराशा का भाव भी व्याप्त था। ऐसी ही मनोदशा साहित्य-जगत में भी थी। लिहाजा, भारतेन्दु-युग के लेखकों ने अपनी समसामयिक प्रश्नाकुलाहटों को अभिव्यक्त करने के लिए व्यंग्य को रचनात्मक हथियार बनाया। बालमुकुंद गुप्त ने 'शिवशंभु के चिट्ठे' नाम से एक लम्बी व्यंग्य-शृंखला लिखी जिसमें ब्रिटिश साम्राज्यवाद की अमानवीयता एवं क्रूरताओं को इंगित करते हुए राष्ट्रीय मुक्तिसंग्रस में भागीदारी के लिए जनता को जगाने का सार्थक प्रयास किया। इसी तरह भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की 'अंधेर नगरी' जैसी नाट्यकृतियों एवं मुकरियों में व्यंग्य के प्रखर तथा चेतनावाही रूप उभरकर सामने आये। दो राय नहीं कि भारतेन्दु-युग के रचनाकार अपने समय के सामाजिक-सांस्कृतिक और राजनीतिक हालातों एवं हलचलों के प्रति अत्यंत सजग व सचेत थे, इसीलिए उस दौर के जीवन एवं समाज से जुड़े लगभग सभी प्रश्नों को केन्द्र में रखकर व्यंग्य लिखे गये और उसका

त्वरित प्रभाव भी पड़ा। भारतेन्दु-युग की तरह द्विवेदी-युग की कालजयी एवं ऐतिहासिक अर्थवत्ता की प्रतिनिधि पत्रिका 'सरस्वती' में प्रकाशित होनेवाली रचनाओं के जरिए भी व्यंग्य के प्रभावी रूप सामने आये। अपेक्षाकृत बाद के दौर में व्यंग्य के क्षिप्र रूप रचनाओं में व्यक्त हुए। प्रेमचंद की अनेक कहानियों और निराला के 'कुल्लीभाट' और 'बिल्लेसुर बकरिहा' जैसे लघु उपन्यासों में व्यंग्य के गंभीर स्वर ध्वनित हुए। छायावाद-युग में हास्य-व्यंग्य से भरी कविताएँ भी विपुल परिमाण में रची गयीं। एक ओर तो ईश्वरी प्रसाद शर्मा, उग्र जी, बेढब बनारसी जैसे कुछ कवियों ने छायावादी काव्य-शिल्प का अवलम्बन लेते हुए हास्य-व्यंग्य को कविता से जोड़ा तो दूसरी ओर ऐसे कवियों की संख्या भी कम नहीं थी, जिन्होंने तत्कालीन समाज से जुड़े विभिन्न संदर्भों को कवितात्मक अभिव्यक्ति देने के क्रम में हास्य-व्यंग्य का सहारा लिया। 'मनोरंजन' पत्रिका के संपादक ईश्वरी प्रसाद शर्मा इस युग के उल्लेखनीय व्यंग्यकार रहे। 'मतवाला', 'गोलमाल', 'भूत', 'मौजी', आदि पत्रिकाओं में भी ईश्वरी प्रसाद शर्मा की हास्यरसात्मक कविताएँ प्रकाशित हुईं। इनके कविता-संग्रह 'चना चबेना' (1924) में खड़ीबोली और ब्रजभाषा दोनों में सृजित रचनाएँ संकलित हैं। शर्माजी ने तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक और साहित्यिक परिदृश्य की दरारों की खोज कर सुरुचिपूर्ण हास्य की शैली अपनायी। हरिश्चंकर शर्मा ने भी 'पिंजरापोल' और 'चिड़ियाघर' शीर्षक से प्रकाशित गद्य-संग्रहों में कुछ हास्यपरक कविताओं और पैरोडियों का समावेश किया। छायावाद-युग के व्यंग्य-लेखकों में पांडेय बेचन शर्मा उग्र की एक खास जगह है। इनकी व्यंग्य-कविताओं और पैरोडियों में जो ताजगी

और निर्भीकता मिलती है, वह आज भी उत्तनी ही प्रभावित करती हैं। इसी कोटि के एक अन्य व्यंग्यकार थे कृष्णदेव प्रसाद गौड़ उर्फ बेढब बनारसी। बेढब बनारसी ने छायावाद—युग में भी और उसके बाद के दौर में भी समसामायिक सामाजिक आचार—व्यवहार को लेकर व्यंग्य—विनोद का जो सृजन किया, वह अपनी व्यावहारिक भाषा—शैली के कारण उल्लेखनीय है। हास्य की निर्मिति करने के लिए उन्होंने अंग्रेजी और उर्दू की शब्दावली का खुलकर प्रयोग किया है। उपमा और वक्रोक्ति द्वारा व्यंग्य को क्षिप्रता प्रदान करने में वे निष्णात थे। उदाहरणार्थ—“बाद मरने के मेरे कब्र पर आलू बोना/हश्च तक यह मेरे ब्रेकफास्ट के सामा होंगे/उम्र सारी तो कटी घिसते कलम ए बेढब/आखिरी वक्त में क्या खाक पहलवां होंगे।” इस युग के अन्य व्यंग्य—लेखकों व कवियों में अन्नपूर्णानंद उर्फ महाकवि चच्चा, कान्तानाथ पांडेय ‘चोंच’ आदि भी उल्लेखनीय रहे हैं। छायावाद—युग की हास्य—व्यंग्यपरक रचनाओं में हरिऔध कृत ‘चोखे चौपदे’ और ‘चुभते चौपदे’, ज्वालाराम नागर ‘विलक्षण’ द्वारा छायावाद पर लिखी पैरोडी ‘छायापथ’ इस संदर्भ में उल्लेखनीय रहे हैं। इस बात से इन्कार नहीं कर सकते कि इस युग में समाज, धर्म, राजनीति से संबद्ध ऐसी अनेक हास—परिहासात्मक रचनाएँ लिखी गयीं जिनमें हास्य की मुखरता और व्यंग्य की तीव्रता स्वाभाविक रूप से समाहित है। किंतु इन व्यंग्य—रचनाओं में छायावादी काव्य के समानांतर उत्कर्ष और लावण्य खोजना असंगत होगा, क्योंकि ये व्यंग्य—रचनाएँ विचार, शैली, संरचना आदि की दृष्टि से सामान्य स्तर की ही हैं। कुल मिलाकर भारतेन्दु—युग से लेकर स्वतंत्रता—प्राप्ति तक की कालावधि के भीतर जो

रचनाएँ लिखी गयीं, वो अपनी अंतिम परिणतियों में हास्यपरक थीं और उस समय तक हास्य और व्यंग्य के बीच एक स्पष्ट विभाजक—रेखा बन नहीं पायी थी। निश्चित रूप से रचना—दृष्टि और विषयवस्तु दोनों कोणों से स्वातंत्र्योत्तर व्यंग्य—लेखन का परिदृश्य महत्वपूर्ण रहा है।

स्वातंत्र्योत्तर व्यंग्य—लेखन का परिदृश्यः—

आजादी के बाद का दौर यानी गुजरी 20वीं सदी के पांचवें दशक के आरंभ के साथ ही व्यंग्य—लेखन एक नयी दिशा की ओर अग्रसर हुआ। एक तो साम्राज्यवादी दासता का दबाव खत्म हुआ था और दूसरी ओर जिस रूप में आजादी मिली तथा सत्ता का हस्तांतरण हुआ, उसकी व्यावहारिक परिणतियों से उपजी विसंगतियों, विरोधाभासों व विद्रूपताओं ने व्यंग्य—लेखन को एक ठोस वैचारिक आधार भी दिया और अभिव्यक्ति—भंगिमा को गुलेलधर्मी आकार व धार भी। इसलिए स्वातंत्र्योत्तर दौर के आरंभ को व्यंग्य—लेखन के चौथे चरण के रूप में स्वीकार करना असंगत नहीं कहा जा सकता। इस चौथे चरण की व्यंग्य—यात्रा में हरिशंकर परसाई, शरद जोशी, शंकर पुणातम्बेकर, आबिद सुरती, रवीन्द्रनाथ त्यागी, श्रीलाल शुक्ल, मनोहरश्याम जोशी, नागार्जुन आदि का योगदान उल्लेखनीय रहा। इन व्यंग्य—लेखकों ने सरोकार और संरचना दोनों कोणों से व्यंग्य—लेखन को एक ठोस दिशा दी। आजादी के बाद जो परिदृश्य बना है, उसमें राजनीतिक संदर्भ व्यंग्यकारों का प्रिय विषय बना है। यह दस्तावेजी सत्य है कि छठे दशक के आरंभ के साथ ही ‘सत्य की मृत्यु’ और ‘आजादी की अर्थहीनता’ का बोध भयावह रूप में सामने आया है। देश के नवनिर्माण का स्वप्न और विकास का इंतजार एक खूबसूरत व्यामोह था जिसे टूटना ही था। बुनियादी जरूरतों

से जुड़ी आशाओं-आकांक्षाओं के लंबे तथा नाकाम सिलसिलों से ऊबे-उकताए और अदेख कसावों में कसमसाते आम लोगों को जो चीजें लगातार मिलती गयी हैं, वो रही हैं राष्ट्रीय कर्णधारों का स्वार्थवाद, सुविधावाद और अवसरवाद। लेकिन विडम्बना यह रही है कि राजनीतिक सत्ता पर काबिज लोगों ने भाषणों-नारों के प्रभामंडल में जनता को उलझाए रखा और भोली-भाली जनता शांति नेताओं के सम्मोहन-जाल में फंसी रही। हालांकि गैर कांग्रेसवाद की वैचारिक और राजनीतिक धारा से जुड़े लोगों ने स्वातंत्र्योत्तर विकास-मॉडल की सच्चाई को जनता के सामने लाने का प्रयास किया-चाहे वामधारा से जुड़े एम.एन.राय जैसे लोग रहे हों या सोशलिस्ट धारा के लोहिया, नरेन्द्रदेव आदि, पर इनमें से कोई भी नेहरू के राजनीतिक आभामंडल को तोड़ नहीं सका। लेकिन नेहरू की मृत्यु के साथ ही नेहरूवादी अर्थनीति व राजनीति का आभामंडल टूट गया। सच यह है कि भारतीय आजादी एवं भारतीय लोकतंत्र अपने जन्मकाल से ही प्रश्नांकित होते रहे हैं। इसीलिए तो आजादी के चन्द माहों के बाद ही प्रगतिशील शायर फैज को 'ये दाग-दाग उजाला' जैसी पंक्तियाँ लिखने को विवश होना पड़ा। 'स्वराज्य का मेरे लिए यह अर्थ नहीं है कि जॉन की जगह गोविन्द बैठ जाये'- आजादी से पूर्व कथाकार प्रेमचंद ने जो आशंका व्यक्त की थी, वह आशंका आजादी के बाद सत्य साबित हुई। इस परिदृश्य की प्रतिक्रियात्मक अभिव्यक्ति व्यंग्य-लेखन के स्तर पर भी हुई। व्यंग्य-संग्रहों के साथ-साथ व्यंग्यकारों की सैकड़ों रचनाएँ अखबारों के पन्ने पर दिखीं। हरिशंकर परसाई की व्यंग्य-रचनाएँ 'ठिठुरता हुआ गणतंत्र' 'हम बिहार से चुनाव लड़ रहे हैं', 'इंस्पेक्टर मातादीन चांद पर', 'अकाल उत्सव',

'हरिजनों का ब्राह्मण भोज' जैसी रचनाएँ मारक तेवर सहेजे सामने आयीं। हर रचनाकार अपनी रचना के लिए जो विषयवस्तु चुनता है, वह उसके आसपास की दुनिया से उपजी होती है। कल्पना का भी समावेश होता है, पर कोई रचना पूरी तरह कल्पना-प्रसूत नहीं होती। यहां परसाई जी की एक रचना 'इंस्पेक्टर मातादीन चांद पर' की पृष्ठभूमि की चर्चा अप्रासंगिक न होगी। जबलपुर के आमनपुर क्षेत्र में एक घटना हुई थी। घटना यह थी कि पुलिस की लापरवाही से एक मजदूर की मृत्यु हो गयी थी। पुलिस ने एक झूठा केस बनाकर कम्युनिस्ट पार्टी से जुड़े एक सक्रिय सदस्य और परसाई जी के घनिष्ठ मित्र पर हत्या का आरोप लगाकर गिरफ्तार कर लिया था। परसाई जी इस घटना-क्रम को नजदीक से देख रहे थे। मुकदमा चला और कम्युनिस्ट पार्टी से जुड़े गिरफ्तार व्यक्ति निचली अदालत में मुकदमा हार गये और उन्हें सजा भी हो गई। पर उच्च अदालत से वे बरी हो गये। इस प्रक्रिया में वक्त लगा और त्रासदी यह रही कि जिस दारोगा ने झूठा मुकदमा किया उन्हें प्रोन्नति भी मिल गयी। परसाई जी ने एक सच्ची घटना को आधार बनाकर यह रचना लिखी थी और यह रचना एक कालजयी रचना बन गयी है। परसाई जी ने पुलिस के घृणित चरित्र को नजदीक से देखा-समझा और अपने अनुभवों को जन-सरोकार के साथ कथ्य बनाया। समाज-दृष्टि के बिना इस तरह की विचारोत्तेजक रचना लिखी ही नहीं जा सकती। व्यंग्यकार की संवेदना जीवन को, समाज को पढ़ने में-समझने में समर्थ होती है। परसाई जी की रचनाओं का आयतन बहुत फैला है जिसके तहत समाज का हर वर्ग विषय बना है। आलोचक डॉ. रमेश तिवारी लिखते हैं-"व्यंग्य लिखना असहमत होना

है। सहमति या संगति में नहीं लिखा सकता व्यंग्य। इसलिए विसंगति और असहमति अनिवार्य है।" और असहमति तो लोकतंत्र का सौंदर्य है। जाहिर है, व्यंग्य लिखना महज असहमत होना नहीं है, वरन् व्यंग्य लिखना लोकतांत्रिक होना भी है। जिस समाज में, देश में व्यंग्य जितना अधिक लिखा जायेगा और जहां व्यंग्य जितना अधिक पढ़ जायेगा, वह समाज-देश उतना ही अधिक लोकतांत्रिक होगा। यह जनतांत्रिकता व्यंग्यकार की संवेदना, दृष्टि और उसके लेखकीय सरोकार से निकलती है। समाज में व्याप्त आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक विसंगतियों जैसे ढोंग, आडम्बर, पाखंड, अन्याय, शोषण, दोहन आदि व्यंग्य के बीजतत्व हैं। भारतीय समाज में आधुनिकता और प्रगतिशीलता के तमाम दावों के बावजूद जाति, लिंग, वर्गभेद जैसी विभाजक मानसिकताओं में कमी नहीं आयी है। इन स्थितियों को परसाईजी अपनी एक व्यंग्य-रचना 'हरिजनों का ब्राह्मण भोज' में साफ-साफ उजागर करते हुए लिखते हैं—“समाचार यह है कि केरल के एक मंदिर में ब्राह्मण भोजन में हरिजनों को शामिल किया गया। यह बहुत बड़ा समाचार बना है। मगर यह शर्मनाक समाचार है। किसी भी हिन्दू को इस समाचार को पढ़कर अपने सिर पर पाँच जूते मारना चाहिए कि मैं कितना पतित हूँ कि स्वामी दयानंद के जाति-भेद विरोधी आंदोलन, गांधी के हरिजन-उद्धार, अछूत-प्रथा विरोधी कानून के बावजूद आजादी के 26 साल के बाद भी कहीं हरिजन ब्राह्मणों के साथ बैठकर खा लें तो यह चमत्कारी समाचार बनता है।” परसाई जी ने जब यह लिखा था तो आजादी के 26 साल हुए थे, पर आजादी के 75 साल गुजरने के बाद भी परिदृश्य में क्या ज्यादा फर्क आया है? जातिगत भेदभाव और जातिगत

उत्पीड़न की घटनाएँ कम नहीं हुई हैं, बल्कि जातिवादी मानस भयावह व हिंसक रूप में सामने आया है। आपसी टकराव और जातिगत वर्चस्व की रक्तरंजित क्रूरता पराकाष्ठा को छू रही है। शंकर पुणातम्बेकर की व्यंग्य-रचना 'एक मंत्री स्वर्गलोक में' तथा इसके अलावा उस दौर के अनेक व्यंग्य-लेखकों की रचनाएँ हैं जो आज भी स्मृति-पटल पर अंकित हैं और पुनर्पाठ की मांग कर रही हैं।

सामाजिक-राजनीतिक मूल्यहीनता व संवदेनहीनता नेहरू-युग के बाद और अधिक फैली है। ऐसे ही दौर में सामाजिक-राजनीतिक सरोकारों से संपन्न शरद जोशी का व्यंग्यकर्म सामने आया। हिन्दी साहित्य में हरिशंकर परसाई के बाद सबसे गतिशील एवं महत्वपूर्ण नाम रहा है-शरद जोशी। पत्रकार और व्यंग्यकार शरद जोशी ने सन् 1953 में मध्यप्रदेश से निकलने वाली चर्चित पत्रिका 'नयी दुनिया' से अपना लेखन शुरू किया था। कुछ वर्षों तक शरदजोशी आकाशवाणी से भी जुड़े रहे। फिर 'हिन्दी एक्सप्रेस' के संपादन का दायित्व संभाला। दैनिक 'नवभारत टाइम्स' में एक स्तंभ के रूप में उनकी व्यंग्य-रचनाएँ कई वर्षों तक छपती रहीं और गजब की प्रसिद्धि हासिल की। संभवतः शरद जोशी हिन्दी के पहले ऐसे रचनाकार रहे हैं जिन्होंने कविता के मंच से गद्य का वाचन किया और कवियों की तरह वाहवाही भी अर्जित की। इसके अतिरिक्त शरद जोशी ने कई धारावाहिकों के लिए पटकथा भी लिखी और कई पुरस्कारों तथा सम्मानों से भी नवाजे गये। भारतीय राजनीति की विचारहीनता और चरित्रहीनता को अपनी बेबाक लेखनी के जरिए पाठकों तक पहुंचाने वाले शरद जोशी का निधन 5 दिसम्बर 1991 को हुआ। पर उनका व्यंग्य-संसार मौजूदा अंधेरे

दौर को समझने में बहुत दूर तक मदद करता है। स्तंभकार के रूप में चर्चित लेखकों में गोपाल प्रसाद व्यास उर्फ नारदजी, चुटकुलानंद आदि नाम लोकप्रिय रहे।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद यथार्थवाद के महान व्याख्यता थॉमस मान ने कहा था कि “हमारे समय का सबसे बड़ा सच यह है कि मनुष्य की नियति राजनीतिक संदर्भ में व्याख्यायित होती है।” नियति के राजनीतिक हो जाने से लेखन की स्थिति और मानवीय संघर्ष की समझ दोनों में बदलाव आये हैं। साहित्य की अन्य विधाओं की तरह व्यंग्यकर्म निश्चित रूप से एक ऐसा माध्यम बना है जिसके द्वारा राजनीतिक गतिविधियाँ ज्यादा गहरे रूप में अभिव्यक्ति पा सकी है। नियति के राजनीतिक हो जाने से रचनाकर्म और राजनीतिक हलचलों को अलग-अलग करके देखना मुश्किल हुआ है। इसीलिए तो अग्निधर्मा कवि मुक्तिबोध को पूछना पड़ा कि “पार्टनर आपकी पॉलिटिक्स क्या है?” यह सवाल व्यंग्यकारों के सामने भी खड़ा हुआ है और इस सवाल को पूरी ईमानदारी एवं जनपक्षधरता के साथ आत्मसात करने के कारण ही हरिशंकर परसाई हिन्दी के एक बड़े व्यंग्य-लेखक बने हैं। साठोत्तरी परिदृश्य में व्यंग्यकर्म में राजनीतिक संदर्भों एवं सवालों को केन्द्रीयता मिली है। इस मोड़ पर सजगता एवं सचेतना के साथ रचनात्मक योगदान देने वाले व्यंग्यकारों की एक लंबी सूची रही है, पर इस बात से इंकार नहीं कर सकते कि व्यंग्यकर्म की दृष्टि से हरिशंकर परसाई और शरद जोशी दिशा-प्रवर्तक नाम रहे हैं।

व्यंग्य तभी असरदार होगा जब व्यंग्य-लेखक के व्यावहारिक चरित्र और उसके लेखन के बीच फर्क नहीं हो। वैसे भी जीने और रचने के फर्क

को ज्यादा देर तक छुपाकर रखना संभव नहीं होता है। 1974 के दौर में इंदिरा गांधी ने सत्ता की मदांधता में सरकार के जनविरोधी कामों की आलोचना करने वालों का हिंसक दमन शुरू कर दिया था। बाबा नागार्जुन अपनी ‘बाघिन’ शीर्षक कविता में खूनी राजसत्ता से भयाक्रांत जनता को यह भरोसा दिलाते हैं कि जनशक्ति के सामने दमनकारी सत्ताएँ एक दिन अजायबघर की चीज बनकर रह जायेगी। बाबा तो भविष्यद्रष्टा थे। आपातकाल की घोषणा तो 1975 में हुई, लेकिन बाबा को यह बोध 1974 में ही हो गया था कि सत्ता देश की लोकशाही को रौंदने की ओर बढ़ रही है—“इंदु जी, इंदु जी क्या हुआ आपको/सत्ता की मस्ती में भूल गयी बाप को/रानी-महारानी आप/नवाबों की नानी आप/नफाखोर सेठों की अपनी सगी माई आप/काले बाजार की कीचड़ आप, काई आप/सुन रही गिन रही/गिन रही सुन नहीं/सुन रही सुन रही/गिन रही गिन रही/हिटलर के घोड़े की/ एक-एक टाप को/ इंदु जी, इंदु जी क्या हुआ आपको।” यकीनन यह नागार्जुन की काव्याकांक्षा और देशकाल की जनाकांक्षा के सम्मिलन से उपजी प्रेरणा-शक्ति थी जो उनकी कविताओं को अभय-निर्भय स्वर दे रही थी। जनगण के जीवन-मरण-रण से प्राणतत्व हासिल करने वाली बाबा की कविताएँ जनगण को अपने अधिकार के लिए भाग्यविधाताओं से लड़ने का साहस और जीतने का विश्वास प्रदान करती हैं। इतना ही नहीं आपातकाल के बाद जब जनता पार्टी में सत्ता को लेकर घमासान मचा तो बाबा नागार्जुन का व्यथित होना स्वाभाविक था, लेकिन उनके व्यथित होने का कारण अलग था। उनकी व्यथा जनता से जुड़ी थी, न कि सत्ता से। उन्होंने

महसूस किया कि देश की जनता एक बार फिर छली गयी और जनता के सपनों की हत्या हुई है। बाबा नागार्जुन ने 'संपूर्ण क्रांति' की राजनीतिक परिणतियों को 'खिचड़ी विप्लव' कहकर तीखी भर्त्सना की। 'संपूर्ण क्रांति' से जुड़े नेताओं के सामीप्य में गुजरे अनुभवों के आधार पर बाबा ने यह घोषणा की थी कि "यह संपूर्ण क्रांति नहीं, संपूर्ण भ्रांति है।" जब उन्होंने अपने राजनीतिक सहकर्मियों को पथभ्रष्ट होते देखा तो संपूर्ण क्रांति में शामिल होने के लिए अपनी आलोचना की और इसे एक अक्षम्य भूल के रूप में स्वीकार किया—'रहा उनके बीच मैं/था पतित मैं, नीच मैं/दूर जाकर गिरा/वेवष उड़ा पतझड़ में/धंस गया आकंठ कीचड़ में/सड़ी लापें मिलीं/उनके मध्य लेटा रहा/आँखें मीचें मैं/' अपनी गलती के लिए स्वयं को दण्डित करनेवाला व्यक्ति सामाजिक—राजनीतिक पाखण्डों पर भला कैसे चुप रह सकता है? जो व्यक्ति खुद के लिए पतित व नीच जैसे अशिष्ट शब्दों का प्रयोग कर सकता है, वह जनता के साथ छल—कपट करनेवालों के लिए शालीन व शिष्ट भाषा का प्रयोग कैसे कर सकता है। यह आत्मालोचन एक सार्थक व्यंग्य—प्रक्रिया की भी शर्त है और एक व्यंग्यकार के जीने की भी शर्त है। बाबा ने न केवल दूसरों की खबर ली, वरन् अपने वर्ग के लोगों की भी खिचाई की।

एक प्रगतिशील लेखक—कवि की राजनीतिक प्रतिबद्धता राजनीतिक दल तक सीमित नहीं होती। उसके सामने जब राजनीतिक विचारधारा और राजनीतिक पार्टी के बीच एक को चुनने का प्रश्न खड़ा होता है तो वह राजनीतिक विचारधारा को महत्व देता है। एक लेखक—कवि या व्यंग्यकार अपनी समाज—दृष्टि के आधार पर किसी भी राजनीतिक दल के प्रति विश्वास व्यक्त करने के

लिए स्वतंत्र होता है। लेकिन उसका यह नैतिक दायित्व बनता है कि जिस राजनीतिक दल के पक्ष में उसने अपना मतदान किया है, यदि वह राजनीतिक दल सत्तासीन होने के बाद जनविरोधी चरित्र अपनाता है तो एक लेखक, कवि, व्यंग्यकार की हैसियत से वह उस राजनीतिक दल के खिलाफ आवाज उठाये। पर ऐसे भी लेखक, कवि, व्यंग्यकार होते हैं जो सुख—सुविधाएँ बटोरते रहने के लालच में जनविरोधी सत्ता से चिपके रहते हैं। सत्ता और साहित्यिकर्म के इसी घालमेल के कारण सोवियत रूस के खूश्चोवीय दौर में अनेक महत्वपूर्ण रचनाकार अपनी स्वाभाविक भूमिका नहीं निभा पाये और भारत में भी कई महत्वपूर्ण रचनाकारों ने आपातकाल का समर्थन किया था। लेकिन नागार्जुन कभी भी राजनीतिक पार्टी का 'आउटफीट' नहीं बने। उनके लिए हमेशा जनता का हित सर्वोपरि रहा। इसीलिए उन्होंने जब भी कम्युनिस्ट नामधारी राजनीतिक दल को सत्ता के लिए सिद्धांतों की सौदेबाजी करते देखा, किसी भी स्तर पर वैचारिक भटकाव देखा, तब न केवल प्राथमिक सदस्यता से त्याग—पत्र दिया, बल्कि उस दल के खिलाफ तनकर खड़े हो गये—'आग उगलते थे जो साथी/चिकने उनके गाल हो गये।' बाबा विचारधारा की सार्थकता सत्ता के हित में नहीं, जनता के हित में देखते थे—'क्या है दक्षिण क्या है वाम/जनता को रोटी से काम।' एक लेखक के लिए राजनीतिक प्रतिबद्धता का क्या अर्थ होता है—यह बाबा नागार्जुन जैसे व्यंग्यधर्मी रचनाकार से सीखने की जरूरत है। एक सजग और सचेत व्यंग्यकार सत्ता, समाज व समय की एक—एक हलचल पर पैनी नजर रखता है, इसीलिए वह तीखे सवाल करने की मनोदशा में होता है। भारत की आम जनता का

प्रतीक हरिचरना भूखा है, नंगा है। उसके पास जिन्दा रहने के लिए बुनियादी चीजें भी नहीं हैं। रघुवीर सहाय का सजग व संवेदनशील व्यंग्यकार सत्ता पर काबिज और अपने को राष्ट्र का भाग्य विधाता घोषित करने वाले शासक वर्ग को जनता के कटघरे में खड़ा कर देता है—“राष्ट्रगान में भला कौन/वह भारत भाग्य विधाता है/फटा-चिथड़ा पहने/जिसका गुन हरिचरना गाता है।”

सत्ता के जनविरोधी चरित्र पर सीधा हमला करता हुआ धूमिल का कवि प्रतिपक्ष की भूमिका में खड़ा दिखायी देता है—“मुझ से कहा गया कि संसद/देश की धड़कन को/प्रतिबिम्बित करने वाला दर्पण है/लेकिन सच यह है कि/अपने यहाँ संसद/तेली की वह घानी है/जिसमें आधा तेल है/और आधा पानी है/और यदि यह सच नहीं है/तो यहां एक ईमानदार को/अपनी ईमानदारी का मलाल क्यों हैं? जिसने सत्य कह दिया है/उसका बुरा हाल क्यों है?” एक वर्ग—विभाजित समाज में कला का सृजन भी वर्गीय होता है। जाहिर है, एक व्यंग्यकार को प्रतिबद्ध होना चाहिए और उसकी प्रतिबद्धता उसकी वर्ग—दृष्टि से स्पष्ट होती है। भारतीय राजनीति की विडम्बना रही है कि एक हिस्सा समाज को, सवाल को जातिगत दृष्टि से देखता है तो दूसरा धर्मगत दृष्टि से और ये दोनों दृष्टियाँ अलोकतांत्रिक भी हैं और विध्वंसक भी। एक छोटा—सा हिस्सा रहा है जो वर्ग—दृष्टि के आधार पर समय एवं समाज को देखता—समझता रहा है। वर्ग—दृष्टि समाज को दो हिस्सों में बाँटकर देखती है—अमीर और गरीब। हरिशंकर परसाईजी ने गलत अर्थनीति एवं राजनीति के कारण जो आर्थिक विषमता एवं सामाजिक विसंगतियाँ फैलती गयी हैं, उस पर करारा व्यंग्य किया है। उन्होंने

उन शक्तियों एवं संस्थानों पर प्रहार किया है जो मानव विरोधी रहे हैं। ‘अकाल—उत्सव’ और ‘गर्दिश के दिन’ —ये दोनों परसाई जी की विचारोत्तेजक व्यंग्य—रचनाएँ रही हैं जो रोंगटे खड़े कर देती हैं। समाज का एक बड़ा हिस्सा किस तरह अभिशप्त जीवन जीने को विवश है? और दबे, कुचले व साधनहीन वर्ग की पीड़ाओं को किस तरह उभारना है—यह रचनात्मक कौशल और प्रहारक व्यंग्य—दृष्टि परसाई जी के पास है। ‘अकाल—उत्सव’ में वे लिखते हैं—“हड्डी—ही—हड्डी/पता नहीं किस गोंद से इन हड्डियों को जोड़कर आदमी के पुतले बनाकर खड़े कर दिये गये हैं/यह जीवित रहने की इच्छा ही गोंद है। यह हड्डी जोड़ देती है। सिर मील भर दूर पड़ा हो तो जुड़ जाता है। जीने की इच्छा की गोंद बड़ी ताकतवर होती है। पर सोचता हूँ यह जीवित क्यों है? ये मरने की इच्छा खाकर जीवित है। ये रोज कहते हैं—इससे तो मौत आ जाए अच्छा है।” दरअसल परसाई जी का आत्मसंघर्ष एक व्यक्ति का संघर्ष नहीं है, बल्कि एक वर्ग का आत्मसंघर्ष है, रोजमर्रे का संघर्ष है। एक सजग लेखक और सचेत व्यंग्यकार की गहरी अन्तर्व्यथा परसाई जी की संवेदनशील भाषा में फूट पड़ी है। ‘गर्दिश के दिन’ व्यंग्य—संग्रह की भूमिका में परसाई जी लिखते हैं—“इन्हीं सब परिस्थितियों के बीच मेरे भीतर लेखक कैसे जन्मा, यह सोचता हूँ। पहले अपने दुखों के प्रति सम्मोहन था। पर मैंने देखा, इतने ज्यादा बेचारों में क्या बेचारा? इतने विकट संघर्षों में मेरा संघर्ष क्या? अपने को अविशिष्ट होने से बचने के लिए मैंने लिखना शुरू कर दिया।... दुखी और भी हैं, अन्याय पीड़ित और भी हैं। अनगिनत शोषित हैं, मैं उनमें से एक हूँ। पर मेरे हाथ में कलम है और मैं चेतना—संपन्न हूँ और इस तरह एक

व्यंग्य—लेखक का जन्म हुआ। स्पष्ट है कि एक व्यक्ति जब अपने दुख को दूसरों के दुखों से जोड़ लेता है तब एक बड़ा आदमी जन्म लेता है। श्रेष्ठता—बोध का विसर्जन और लघुता का आत्मबोध ही मनुष्य को सही मनुष्य बनाता है और एक बड़ा मनुष्य बनाता है। असाधारण बनना आसान है। थोड़ी—सी संपन्नता, थोड़ी—सी लोकप्रियता, थोड़ी—सी सामाजिक कुलीनता का भाव आदमी को असाधारण (एब्नॉर्मल) बना देता है, जबकि साधारणता में, सहजता में जीना कठिन है। इसीलिए तो कबीर का व्यंग्यकार कहता है—“प्रभुता से लघुता बड़ी/प्रभुता से प्रभू दूर/चींटी ले साकर चली/हाथी के सिर धूर।” यह साधारणता यानी सहजता यानी शालीनता ही मनुष्य को आदरणीय एवं अनुकरणीय बनाता है। व्यापक संस्कार की बुनियादी शर्त है—सिर्फ और सिर्फ मनुष्य होना। एक सच्चा व्यंग्यकार मनुष्य और मनुष्यता के आधार पर अपने समय और समाज को देखता है। व्यंग्यकार के भीतर प्रश्नाकुलाहट की गहरी छाया निरन्तर डोलती रहती है। भीतर की संवेदनशीलता और बेचैनी को लेकर व्यंग्यकार बाहर आता है और गहरे आवेग से सामाजिक पाखण्डों, सांस्कृतिक विद्रूपताओं और जनजीवन के यथार्थ की पोल खोलता है। व्यंग्य की रचना—प्रक्रिया में वास्तविकता से मुठभेड़ इतनी गहरी होती है कि वह एक ‘प्रति—संसार’ को निर्मित करती है जहां सामाजिक—राजनीतिक तथा सांस्कृतिक यथार्थ के घावों को मनुष्य की आत्मा के इतिहास—भूगोल में देख सकते हैं। निराला ने कहा था कि ‘गद्य जीवन—संग्राम की भाषा’ है और निश्चित रूप से इस जीवन—संग्राम का अमोघ और ताकतवर अस्त्र है—व्यंग्य।

दो राय नहीं कि छठे—सातवें दशक में व्यंग्य—लेखन का बहुमुखी विकास हुआ, पर यह सवाल

एक यक्ष प्रश्न की भाँति खड़ा रहा कि व्यंग्य विधा है या शैली? आठवें दशक के आरंभ में प्रेम जनमेजय और हरीश नवल ने परसाई जी के सामने विधा या शैली का मुद्दा उठाया। प्रेम जनमेजय लिखते हैं कि—“हिन्दी व्यंग्य का सैद्धांतिक पक्ष अभी भी दुर्लभ है। व्यंग्य के स्वरूप को संप्रति उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सका है। व्यंग्य के अनेक पक्षों पर बहस की संभावना बनी हुई है।” इस विमर्श को व्यंग्य—लेखकों और व्यंग्य—समीक्षकों ने आगे बढ़ाया और अन्ततः आठवें दशक के आरंभ में व्यंग्य को एक विधा के रूप में मान्यता मिली। पर इसी के साथ व्यंग्य लेखक की दुनिया में एक और नयी बहस छिड़ गयी—विषयवस्तु बनाम शिल्प पर बहस। इस बहस को आगे बढ़ाने का श्रेय बालेन्दुशेखर तिवारी और मधुसूदन पाटिल के हिस्से में गया। लेकिन इस बहस की अंतिम परिणति स्पष्ट नहीं रही। दरअसल इन विचारकों ने व्यंग्यकर्म के शिल्प पक्ष पर इतना बल दिया कि व्यंग्य—आलोचना भाषा व शिल्प के दायरे में सिमट गयी। शंकर पुणातेम्बर ने इस संदर्भ में राय व्यक्त करते हुए लिखा कि अभी तक विषयवस्तु पर काफी बातें हुई हैं, व्यंग्य के शिल्प पक्ष पर कम ध्यान दिया गया है। इस तरह की बहस का नतीजा यह रहा कि व्यंग्य—आलोचना का आधार शिल्प—शैली और भाषा की चौखटों से बाहर नहीं निकल पाया। बालेन्दुशेखर तिवारी जैसे आलोचकों—प्राध्यापकों ने व्यंग्य—आलोचना के मानदण्डों को निर्धारित करने की दिशा में बहस की शुरुआत की, पर त्रासदी यह रही कि यह पूरा विमर्श शिल्प—शैली तक सिमट कर रह गया। अभिव्यक्ति की विधा कोई भी हो—बुनियादी चीज है संदर्भ। संदर्भ ही शिल्प के ढांचे को तय

करते हैं। पर आठवें दशक के अंत से व्यंग्यकर्म की पूरी रचना-प्रक्रिया पर नये सिरे से बहस शुरू हुई है और व्यंग्य के सौंदर्यशास्त्र पर, व्यंग्य के वैचारिक पक्ष पर, व्यंग्य के भाषिक ताने-बाने पर गंभीरता से कार्य हो रहे हैं। व्यंग्य-आलोचना के सैद्धांतिक पक्ष पर महत्वपूर्ण रूप से शोधपरक कार्य करनेवालों में डॉ. हरिश्चन्द्र वर्मा, डॉ. सुरेश माहेश्वरी, डॉ. मेंहदीरत्ता, डॉ. मधुसूदन पाटिल, डॉ. नरेन्द्र कोहली, डॉ. हरिश नवल, डॉ. शेरजंग गर्ग, डॉ. रमेश तिवारी के नाम उल्लेखनीय हैं।

जिस तरह छठे-सातवें दशक के परिदृश्य में व्यंग्य-सृजन को मार्गदर्शन देनेवाले नेतृत्वकारी व्यक्तित्व के रूप में हरिशंकर परसाई और शरद जोशी महत्वपूर्ण रहे, उसी तरह आठवें दशक के अंतिम वर्षों से व्यंग्य-लेखन को सैद्धांतिक और सर्जनात्मक दिशाबोध देने में व्यंग्यत्रयी महत्वपूर्ण रहे हैं। ये व्यंग्य-त्रयी हैं-प्रेमजनमेजय, हरीश नवल और ज्ञान चतुर्वेदी। इनके अतिरिक्त गौतम सान्याल, आलोक पुराणिक, गिरीश पंकज, रमेश सैनी, सी. भास्कार राव, अरविन्द विद्रोही, सत्यनारायण रंदी, शांतिलाल जैन, पंकज साहा, जगत सिंह विष्ट, वीरेन्द्र जैन, शेरजंग गर्ग, नरेश सक्सेना, गोपाल चतुर्वेदी, रमेशचन्द्र खरे, प्रियदर्शन, सुमित दहिया, नवी अग्रवाल, कमलेश पाण्डेय आदि नामों की एक विस्तृत सूची है। ये व्यंग्य-लेखक-कवि अपनी रचनात्मक निरन्तरता से व्यंग्य-सृजन को गुणात्मक एवं जनपक्षीय अर्थवत्ता प्रदान कर रहे हैं।

इसमें दो राय नहीं कि 21वीं सदी की शुरुआत के साथ ही सामाजिक-सांस्कृतिक व राजनीतिक बनावट और संस्कृति कर्म के सरोकार में खतरनाक बदलाव महसूस किये जा रहे हैं। विगत दो दशकों में राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय

दोनों स्तरों पर एक-के-बाद एक ऐसी अप्रत्याशित, अमानवीय और आश्चर्यजनक घटनाएँ हुई हैं जिनसे मनुष्यता तो क्षतिग्रस्त हुई है, सभ्य एवं लोकतांत्रिक समाज की दावेदारी भी प्रश्नांकित हुई है। उपभोक्तावाद, बाजारवाद, उत्तर आधुनिकतावाद की हवा न केवल भारत में, बल्कि पूरी दुनिया में क्रमशः एक तेज आँधी का रूप लेती गयी है और उससे उठने वाला गर्दो-गुब्बार न केवल हमारी आँखों में, बल्कि दिलो-दिमाग तक जा पहुँचा है। लिहाजा, जो मनुष्य के हित में है, जो समाज के हित में है, जो मनुष्यता के हित में है-उसे देखने, समझने और समझाने की पूरी प्रक्रिया भटकती हुई दिखायी दे रही है। चारों ओर खरीदो-बेचो का शोर मचा है। तमाम चीजें बिकाऊ बनायी जा रही है, यहाँ तक कि हमारे वैचारिक, चारित्रिक व नैतिक मानदण्डों को तय करने, संचालित करने और नियंत्रित करने का काम बाजारतंत्र करने लगा है-ऐसे में बाजारवादी विडम्बनाओं का शिकार बन रहे जनपक्षीय मूल्यों, चिन्तन एवं सृजन की प्रक्रियाओं को बचाने की गंभीर चुनौती रचनाकर्मियों के सामने है। वस्तुतः मौजूदा नये किस्म का बाजारतंत्र नवसाम्राज्यवाद के रथ का सारथी है यानी पूँजीवादी अर्थव्यवस्था को बाजार के जरिए लागू किया जा रहा है। आज का बाजार गालिब और कबीर के दौर का बाजार नहीं है। इस नये बाजारतंत्र का सांस्कृतिक प्रभाव इतना गहरा है कि हमारे भीतर यह अहसास पैदा ही नहीं होने देता कि इस नये बाजारतंत्र के शोषण-चक्र में हम किस तरह सहयोग दे रहे हैं यानी बाजारतंत्र किस तरह अपने शोषण-चक्र में हमारा इस्तेमाल कर रहा है? हमें पता ही नहीं चल रहा है कि हम अपना खून उगल रहे हैं और अपने इर्द-गिर्द के लोगों का खून पी रहे हैं, क्योंकि इस नये

बाजारतंत्र के शोषक भी हम ही हैं और शोषित भी हम ही हैं। बाजार में बिकनेवाले उत्पादों को बनानेवाली कंपनियों के सेल्समैन—प्रबंधक भी हम ही हैं यानी मध्यवर्ग है और उत्पादों के उपभोक्ता भी हम ही हैं और इस पूरे लेन—देन का सूत्रधार बहेलिये की तरह जाल बिछाये दूर बैठा ठहाके लगा रहा है। अपने को और अपना सबकुछ बिकाऊ बनाने की आपाधापी मची है। यह पूँजीवादी बाजारतंत्र आकर्षित भी करता है और आंतकित भी। विज्ञापनी चकाचौंध से भरा यह मायावी बाजार है जिसे कभी कबीर ने 'महाठगिनी नैना झमकावै' कहकर परिभाषित किया था। थियोडोर अर्डोने ने एक जगह लिखा है कि जिस समाज में विज्ञापन का प्रचलन जितना अधिक होता है, वह समाज उतना ही अधिक बिकाऊ होता है। इसीलिए युवा व्यंग्यकवि नवीन कुमार अग्रवाल लिखते हैं—“इधर—उधर, ऊपर, नीचे से कटी हुई थी/मुझे लगा कि शायद/जींस फटी हुई थी/मैंने कहा, नयी है या पुरानी/इतना भी नहीं देखते हो/फटी हुई जींस बेचते हो/वो बोला सर/ ये फटी जींस जो यहाँ टंगी है/इस लाइन में/सबसे नयी और महंगी है/आजकल के युवाओं की/यही पसंद है/बगल में/एक खादी की दुकान थी/आजकल बंद है/भले ही फटे हुए हिस्सों से/बेशर्मी झांकती है/मगर नयी पीढ़ी/इससे अपने को आकर्षित है/सर फैशन के आगे/कुछ भी नहीं टिकता है/जो बिकता है, यहां/वही दिखता है।” जाहिर है, यह नया दौर है। जो बिकता है, जो बिकाऊ है, वही महान है और सफल है और जो बिकने से इंकार कर रहा है, वह खोटा है, बेकार है और बुद्धिहीन है।

बहुराष्ट्रीय कंपनियों और देश की कारपोरेट पूंजी पर टिका आज का अर्थतंत्र हमारी देशज

साझी संस्कृतिवाली जीवन—पद्धति को नष्ट कर रहा है और उसकी जगह लालची, भोगवादी, संवेदनहीन व नृशंस अपसंस्कृति को फैलाव दे रहा है। फलतः पारस्परिकता, सामूहिकता और सामाजिकता की जगह घमासान प्रतियोगिता यानी छीना—झपटी की घातक मनोवृत्ति पैदा हो रही है। दरअसल जिसे भूमंडलीकरण कहा जा रहा है, वह भूमंडीकरण है यानी दुनिया की मंडियों को—बाजारों को आपस में जोड़ने का अभियान। इस अभियान का निहितार्थ है दुनिया का अमेरिकीकरण और विडम्बना यह है कि इस अमेरिकीकरण के अभियान के पक्ष में हमारे देश की अर्थनीति व राजनीति विवस्त्र होकर खड़ी हैं। मौजूदा नव उदारवादी अर्थनीति वस्तुतः नैतिक दृष्टि से भटक चुके, भौतिक समृद्धि की अन्तहीन लालसा के गर्त में गले तक धँस चुके और अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के अलावा किसी भी सामूहिक सरोकार के प्रति उदासीन तथा सत्ता पर काबिज नवमध्यवर्ग की देन है जो गरीब भारत में अपने लिए एक छोटा—सा अमेरिका बसाना चाहता है। भारतीय लोकतंत्र का जो चेहरा और चरित्र सामने आया है, उससे यह समझ पुख्ता हुई है कि जिस लोकतंत्र का सपना देखा गया था, उस लोकतंत्र का विकास भारत में नहीं हुआ है। देश में जनपक्षीय नहीं, पूँजीवादी लोकतंत्र का विकास हुआ है और इस पूँजीवादी लोकतंत्र में 90 प्रतिशत लोग यानी आम आदमी जीने से अधिक मरने को अभिशप्त हुआ है। बकौल प्रतिबद्ध पत्रकार एवं मुखर व्यंग्य—कवि प्रियदर्शन के शब्दों में—“वे चाहते थे देश मजबूत हो/उन्होंने इसे तरह—तरह से ठोका बजाया/वे चाहते थे देश सुन्दर दिखे/इसे रोशनियों से सजाया/वे देश को किसी दौड़ में/हासिल ट्रॉफी की तरह चूमना चाहते थे/उन्होंने बहुत कोशिश की/बहुत

उपाय लगाया/लेकिन देश (शासकवर्ग) अक्सर उनकी जिद से/बड़ा निकलता गया/उन्होंने नारे लगाये धमकी दी/उन्हें मारा गया/पीटा गया/सड़कों पर घसीटा गया/वे हैरान थे/ये कौन लोग हैं/इन्हें ठीक से/गुस्सा भी नहीं आता/ये कैसे लोग हैं/जिनका तरक्की से/विकास से नाता नहीं है/यह कैसा देश है/जो उनकी मुट्ठी में समाता ही नहीं है।”

व्यंग्य—कवि अपने समय की परिवेशगत विसंगतियों, जटिलताओं, तनावों को भोगता हुआ दिखायी दे रहा है। इनकी व्यंग्य—रचनाएँ आत्मदया व आत्मपीड़ा से उपजी नहीं हैं, बल्कि मानवीय संवेदना के आधार पर निरन्तर जूझने की जीवनगत और रचनागत साहस का प्रतिफलन हैं। इसीलिए एक ओर ठहरे हुए देश की चिन्ता है और दूसरी ओर भीतर से रिक्त होते हुए आदमी की प्रश्नहीन मनोदशा को ऊर्जा देने की चिन्ता है। पैतरेबाज तथाकथित सभ्यवर्ग और सत्ता पर काबिज उनके राजनीतिक प्रतिनिधियों की चालाकी, बंधुत्व और करुणा के नकाब, आम आदमी की चीजों को दबाने वाली ताकतें—इन सारी स्थितियों ने व्यंग्यकारों को भयाक्रांत भी किया है और आंदोलित भी। एक ओर सहमे, ठिठके निरीह व निहत्थे लोग और दूसरी ओर सत्ता का बर्बर चेहरा। इन यातनामयी स्थितियों ने व्यंग्यकारों को जूझने के लिए विवश किया है—बंद रास्ते पर दौड़ने की यातना, दौड़ में हार जाने की नियति को जानते हुए भी दौड़ने की यातना। विडम्बना यह है कि यथार्थ इतनी तेजी से बदल जाता है कि जब तक आदमी एक यथार्थ को समग्रता में समझने की कोशिश कर ही रहा होता है कि तब तक दूसरा यथार्थ सामने उभरकर आ जाता है। इसके पीछे व्यवस्था की चालाकियाँ काम करती हैं ताकि जनता दिगभ्रमित

होती रहे और सत्य तक नहीं पहुँच पाये। आम आदमी व्यवस्था द्वारा पैदा की गयी एक समस्या से जूझ ही रहा होता है कि व्यवस्था दूसरी समस्या उसके समक्ष परोस देती है। मेकियावेली ने लिखा है कि सत्ता में सुरक्षित बने रहने के लिए जनता के दिलोदिमाग में हर क्षण तनाव को बनाये रखना जरूरी होता है। व्यंग्यकार उस यातनाग्रस्त आदमी को केन्द्र में रखता है जिसके जीवन में केवल चीत्कार पसरा है। झूठी संवेदनशीलता, सभ्यता का पाखंड, राजनीतिक चरित्रहीनता और दमन—चक्र, भाषा का छद्म उदारीकरण के दौर की रचनाओं में पूरी व्यंजना के साथ अनावृत्त हुआ है। निजाम को बदलना एक आदमी के वश में नहीं होता है, इसलिए शोषित—प्रताड़ित लोगों को उनकी नियति के लिए जिम्मेदार शक्तियों—संस्थानों की पहचान कराना जरूरी होता है ताकि संगठित प्रतिरोध की जमीन तैयार हो सके। व्यंग्य—कवि सुमित दहिया के शब्दों में—“इस दीवार पर/इश्तिहार लगाना सख्त मना है/इसके आसपास जोर से बोलना/चीखना/और सवाल पूछना वर्जित है/इस दीवार को देखकर/कोई ठहाका मारकर नहीं हँस सकता/इस दीवार के सामने से/कोई मुँछें तानकर/या फिर ऊँची दस्तार पहन कर/नहीं निकल सकता/इस दीवार की छाँव में/कोई माँ अपने बच्चे को दूध नहीं पिला सकती/क्योंकि यह दीवार नेताओं के/पायजामे सुखाने के लिए आरक्षित है/क्योंकि यह दीवार/लोकतंत्र की दीवार है/क्योंकि यह दीवार/संसद की दीवार है।”

मीडिया की चकाचौंध और भौतिक सुखों की गहरी भूख ने कल तक अपने को जनता का रचनाकार घोषित करने वाले अनेक बड़े-बड़े लेखकों, कवियों, कलाकारों, यहाँ तक कि

साधु-संत, मुल्लाओं, पादरियों को भी बाजार से जुड़ने के लिए लालायित किया है और वे अपने चिन्तन को, अपने सृजन को एक 'कन्ज्यूमर प्रोडक्ट' की तरह पेश कर पैसा कमाने की दौड़ में शामिल हो जाने की समझदारी दिखा रहे हैं। वोहरा कमिटी ने अपनी रिपोर्ट में कहा है कि भारतीय अर्थतंत्र माफिया राजनीति, भ्रष्ट नौकरशाह और पूंजीपतिवर्ग के त्रिकोणीय संबंध पर टिका है। यह त्रिकोणीय गठबंधन बुद्धिजीवियों को खरीद रहा है और बिके हुए बुद्धिजीवी मूल सवाल पर या तो परदा डाल रहे हैं या तोड़-मरोड़कर पेश कर रहे हैं। इन स्थितियों को बहुत पहले रघुवीर सहाय समझ चुके थे। उनकी कविता 'दो अर्थ का भय' शासक वर्ग के तानाशाही को सामने लाती है तो दूसरी ओर सत्ताधर्मी रचनाकारों के जटिल चरित्र को बेनकाब करती है—“मैं भी आया हूँ/सारा देश घूमकर/पर उसका वर्णन दरबार में करूँगा नहीं/राजा जनता की कमजोरियाँ/न जान सके इसलिए/जनता के क्लेश का वर्णन/करूँगा नहीं इस दरबार में।” ये शांतिर बुद्धिजीवी अपने काम को सही साबित करने के लिए अजीबो गरीब तर्क गढ़ लेते हैं जैसे एक दौर में स्वनामधन्य लोगों ने 'न लिखने का कारण' के बैनर तले नये-नये तर्क पेश किये थे।

पूंजीवादी सत्ता के लिए जनपक्षीय साहित्य हमेशा चुनौती रहा है। इसीलिए सत्ता या तो जनपक्षीय लेखकों का दमन करती है या अनेक रंगी प्रलोभनों के जरिए पालतू बनाने का षडयंत्र रचती है। राजसत्ताएँ रचनाकारों को पद और पुरस्कार का लोभ देकर अपने पक्ष में करती रही हैं और ऐसे बिकाऊ रचनाकार सत्ता का चारण-गान कर सुख-सुविधा बटोरते रहे हैं। सरोकार का धंधा करने वाले रचनाकारों पर

व्यंग्यात्मक प्रहार करते हैं। शरद जोशी ने अपनी व्यंग्य-रचना 'संत सीकरी में व्यस्त हैं' में ऐसा ही किया है। भक्त कवि कुभनदास ने कहा था 'संतन को कहां सीकरी, सो काम' यानी राजसत्ता के दरबार में संतों का क्या काम? पर शरद जोशी मध्यकालीन कथा-प्रसंग को वर्तमान के परिदृश्य से इस तरह जोड़ते हैं कि पाठक के सामने समय का यथार्थ एक-एक कर खुलता जाता है। शरद जोशी लिखते हैं—“इसमें शक नहीं कि संत आदरणीय हैं। एक जमाना था जब उन्होंने बड़ा संघर्ष किया और बड़े सुन्दर भजन लिखे और गाये थे।...परंतु संत भी बहती हुई हवा में बहना चाहते हैं। उन्हें भी मलाई खानी है। इसीलिए वे बादशाह के द्वारा दिए गये आमंत्रण को स्वीकार कर लेते हैं।” जोशी जी के व्यंग्यकार के अनुसार प्राणी मात्र की भलाई के लिए संत सीकरी द्वारा प्रस्तावित 'कबीर चेर' को स्वीकार कर लेते हैं। मध्यकाल के संतकवियों ने अपने समय के सामाजिक-सांस्कृतिक आयामों तथा उनके अंतर्विरोधों की गहरी पड़ताल की थी और अपने सटीक और विचारोत्तेजक तर्क के साथ प्रति आक्रमण की मुद्रा अपनायी थी। संत-काव्य के चिन्तन एवं सृजन की बुनियाद में निहित है बेचैनी। यह बेचैनी उन लोगों के लिए है जो सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टि से हाशिए पर जीने को अभिशप्त थे। इन संतकवियों ने धार्मिक पाखंडों, सामाजिक जड़ता और वितण्डतावाद से जकड़े भारतीय मानस के नव्य परिष्कार एवं नव्य संस्कार हेतु एक नयी लोकतांत्रिक जीवन-दृष्टि और धर्मदृष्टि की घोषणा करते हुए समाज को एक नये सिरे से पुनर्गठित करने का प्रयास किया। संत-काव्य हाशिए पर पड़ी मनुष्यता की जिजीविषा का आख्यान है। पर नये दौर के संत भोग और लालसा में आकंठ डूबे हैं। ये नये

संत दरअसल सरकारी संत हैं जो अपना ज्ञान और अपनी साधना सत्तारूढ़ वर्ग के हित में निवेश करते हैं। जिस देश में जन-संसद की जगह धर्म-संसद की दुहाई दी जाती हो, वहाँ लोकतंत्र का भविष्य कैसा होगा—यह विचारणीय प्रश्न है। धर्म एवं धर्माचार्यों के राजनीतिकरण ने धर्म, संस्कृति, दर्शन, अध्यात्म जैसे विषयों को भी प्रश्नांकित किया है। हरिशंकर परसाई ने 'वैष्णव की फिसलन' शीर्षक व्यंग्य-रचना में कहा है कि धर्म धंधे से जुड़ जाए इसी को 'योग' कहते हैं। क्या यह सच नहीं है कि उदारीकरण के दौर में धर्म का एक बड़ा बाजार बन चुका है। योग, अध्यात्म, धर्म प्रवचन—सबकी मार्केटिंग हो रही है। पत्रकार राजाराम भादू ने अपनी चर्चित किताब 'धर्मसत्ता और प्रतिरोध की संस्कृति' में धर्म के बाजार की निर्मम शिनाख्त करते हुए लिखा है—“अध्यात्म—केन्द्रों का विस्तार वैश्विक है। इनका भूमंडलीकरण दशकों पुराना है। इन्हें आयात—निर्यात की खुली छूट है और इन पर भी कभी फेरा—उल्लंघन का मामला नहीं बना। अपने विशिष्ट स्कूल के प्रचार—प्रसार पर ये अत्यधिक जोर देते हैं, उसमें उच्च तकनीक का प्रयोग सामान्य है। देशी—विदेशी मुद्रा—प्रवाह इनके यहाँ निरापद चलायमान हैं। बाजारवाद के इस दौर में जब संस्कृति भी पण्य वस्तु में बदल गयी है, ये मॉडल सेलेबिल हैं। इस अध्यात्म—उद्योग में ओशो का डायनामिक योग, सत्यनारायण गोयनका का विपृश्यना, श्रीराम शर्मा का ब्रह्मवर्चस्व, महर्षियोगी का भावातीत ध्यान, चिन्मय मिशन, दीपक चोपड़ा का पातंजल योग शामिल है तो ब्रह्मकुमारी, सत्यसाई बाबा, राधास्वामी, निर्मला देवी की कुंडलिनी और हंस प्रोडक्ट जैसे ब्रांड भी चल रहे हैं। अध्यात्म के मार्केट की आपाधापी किसी स्टॉक एक्सचेंज से कम नहीं है।” राजाराम भादू

ने देश के स्तर पर धर्म के बाजार में छाये तुमुल कोलाहल की तुलना स्टॉक एक्सचेंज के साथ करके निश्चित रूप से व्यंग्य को बिम्ब—विधान से समृद्ध किया है। धर्म भी मीडिया द्वारा प्रचारित पॉपुलर कल्चर का एक हिस्सा बन चुका है। धर्म दर्शन का विषय नहीं, प्रदर्शन का विषय बन गया है। इसीलिए शरद जोशी के संतकवि को राजा और ईश्वर की छवि एक—दूसरे में घुलीमिली दिखायी देती है—“मेरे पदों में प्रभु के रूप में शहंशाह और प्रभु की सत्ता के रूप में शहंशाह का जो चित्र वर्षों से रहा है, वह निखरा ही है, धूमिल नहीं हुआ है। शहंशाह के रूप में मैं उसी परम शक्ति की निकटता का अनुभव करता हूँ।” यकीनन शरद जोशी की यह यथार्थपरक रचना है जो हमारे समय की कुरूपताओं और अधोगामी प्रवृत्तियों को उजागर करती है और धर्म तथा सत्ता की घातक और घिनौनी आपसदारी पर नये सिरे से सोचने को बाध्य करती है।

समकालीन व्यंग्य—लेखन में गहरी सामाजिक—राजनीतिक समझ और जीवन के प्रति गहरे लगाव के साथ एक स्पष्ट वैचारिकी है जो व्यंग्य का एक नया सौंदर्यशास्त्र रचती है। व्यंग्यकारों के निकट सामाजिक न्याय, समानता, स्वतंत्रता और शोषणमुक्त मानव—जीवन की आकांक्षा जैसे रचनात्मक सरोकार केवल व्यंग्य के स्तर पर संदर्भित करने की चीज नहीं हैं, बल्कि यथार्थ जिन्दगी में प्रतिफलन की चुनौती का अहसास भी व्यंग्यकारों को है। व्यंग्यकारों को यह समय—बोध है कि वैश्वीकरण का अर्थतंत्र तीसरी दुनिया के देशों को एक ऐसी गुफा में धकेलने की साजिश कर रहा है जहां एक की मृत्यु दूसरे का जीवन है। विचारधारा सामूहिकता, संगठन, दर्शन, इतिहास—सबकी निस्सारता—बोध को जीवन का मॉडल बनाया जा रहा है। सच यह है कि

20वीं सदी के खत्म होने की घोषणा कर दी गयी है, पर वे क्रूर दिमाग 21वीं सदी में भी मौजूद हैं जिसने गुजरी 20वीं सदी में संस्कृति के नाम पर यातना-गृहों का निर्माण किया था। वर्तमान को जानने-समझने के लिए अतीत को, इतिहास को समझना जरूरी होता है। समकालीन व्यंग्यकारों के यहां इतिहास और वर्तमान के बीच आवाजाही दिखायी देती है।

हालांकि इतिहास से जुड़े प्रसंगों पर बातें करते समय-अत्यंत सावधानी बरतने की जरूरत होती है, क्योंकि इतिहास का कोई प्रसंग समाज के एक पक्ष के लिए गर्व का विषय हो सकता है तो दूसरे पक्ष के लिए शर्म का विषय हो सकता है। इसलिए प्राचीन अतीत से बचना चाहिए क्योंकि वह वर्तमान के लिए उपयोगी नहीं होता है। ताजा अतीत ही वर्तमान के काम में आ सकता है। यही कारण है कि प्रियदर्शन का व्यंग्य-कवि मध्यकालीन इतिहास की बात नहीं करता, वरन् ताजा अतीत यानी स्वतंत्र भारत के उस दौर की बर्बरता को सामने लाता है जब विधायिका, कार्यपालिका, न्यायपालिका, मीडिया जैसे लोकतंत्र के स्तंभों को बंधक बनाने की कोशिश हो रही थी-“हर तरह न्याय का चाबुक था/ अन्याय को अदृश्य कर दिया गया था/ कोई उसकी चर्चा तक/ नहीं कर सकता था/ अदालतें बहुत नफीस आवाज में/ मद्धम-मद्धम बतियाती थी/ वे सब जेलों में थे/ जो न्याय पर करते थे संदेह/ यह बात शीशे की तरह नहीं/ लोहे की तरह/ साफ कर दी गयी थी कि/ हुकूमत में नाइंसाफी की/ कोई जगह नहीं है/ अगर कहीं अन्याय/ गलती से दिख जाए/ तो फौरन उसे/ न्याय की पोशाक पहनायी जाए/ अपने साम्राज्य में बैठा राजा/ चैन की वंशी बजाता था/ यह एक अलग बात है कि/ किसी को

नीरो की याद आता था।” उक्त पंक्तियाँ बिम्ब-विधान और व्यंग्यात्मकता की दृष्टि से मारक अर्थ-दृष्टि पैदा करती है। न्याय के साथ चाबुक का प्रयोग न्याय-व्यवस्था की असलियत को उजागर करता है और वैसे लोग जेल में बंद कर दिये गये हैं जो अन्याय की नींव पर टिकी न्याय-व्यवस्था के फैसले पर सवाल उठाते हैं। दरअसल बर्बरता को छिपाने के उतने मुखौटे पहले के दौर में नहीं थे, जितने की अब ईजाद कर लिए गये हैं। वैसे यह दौर मैनेजमेंट का दौर है। सबकुछ मैनेजेबुल है-समाज, सत्ता, संस्कृति, संगठन, संवेदना आदि जिसकी और संकेत करते हुए मंगलेश डबराल लिखते हैं -“अन्याय का पता न चलने देना/ अन्याय का कुशल प्रबंधन है/ लूट का न दिखना ही/ लूट की कला है/ कुछ भी अच्छा या खराब नहीं है/ सबकुछ अत्यंत प्रबंधनीय है।” ऐसे जटिल दौर में एक ओर परिदृश्य को सही रूप से समझने की चुनौती पैदा हुई है और दूसरी ओर जनता को समझाने की। संकीर्णतावादी ताकतें समझने और समझाने की गुजांइश नहीं छोड़ रही हैं। ऐसे में व्यंग्य को सार्थक बनाने और व्यंग्य से फूटनेवाली अर्थगत ध्वनियों को गूंजने के लिए जगह बनाना जोखिम भरा काम है। स्पष्ट है कि जिनमें न अभिव्यक्ति के खतरे उठाने का साहस है और न गढ़ तोड़ने का संकल्प-उनके लिए व्यंग्यकर्म की मशाल थामना संभव नहीं है।

व्यंग्य, विद्रूपताओं को केवल उजागर ही नहीं करता, वरन् विद्रूपताओं से समाज को मुक्त बनाने की दिशा में जनमानस में संघर्षधर्मी बोध एवं परिवर्तनकामी चेतना का विकास भी करता है। इसीलिए अपनी अंतिम परिणति में व्यंग्य सकारात्मक एवं निर्माणात्मक संदेश देता है।

विट, वक्रता, आयरनी, खिलन्दरापन, हास्य आदि व्यंग्य के रचनात्मक उपकरण बनते हैं, पर व्यंग्य का बीजतत्त्व है विसंगति बोध और यह उपजता है गहरे निरीक्षण से। अपने समय के साथ व्यंग्यकार की जितनी गहरी संलग्नता होगी, व्यंग्य का वैचारिक व सर्जनात्मक आयतन उतना ही फैला हुआ होगा। हिन्दी में व्यंग्य-लेखन की विकास-यात्रा कई मोड़ों-पड़ावों से गुजरती हुई वर्तमान परिदृश्य के धरातल पर गतिमान दिखायी दे रही है। हर दौर के व्यंग्यकार अपने समय के सवालों से जूझने के लिए समय-सापेक्ष रचनात्मक अस्त्र-शस्त्र की खोज करते रहे हैं। इस संधान-प्रक्रिया का एक विकास-क्रम भी दिखता है। साम्प्रतिक व्यंग्य-लेखन के परिदृश्य को सूत्रों में विवेचित करना हो तो वरिष्ठ व्यंग्य-लेखक सुनील जैन राही से शब्द उधार लेकर यह कहना गलत नहीं होगा कि व्यंग्य-सृजन दो रूपों में हो रहा है—एक अभिप्रेरित व्यंग्य और दूसरा भोगित व्यंग्य। अभिप्रेरित व्यंग्य-लेखन ज्यादा हो रहा है। दैनिक समाचार-पत्रों या न्यूज चैनलों से जरिए बाहर आनेवाली खबरों को आधार बनाकर जो व्यंग्य लिखे जा रहे हैं, उन्हें अभिप्रेरित व्यंग्य की श्रेणी में रख सकते हैं। पर इस तरह के व्यंग्य-लेखन में न तो संवेदनात्मक गहराई होती है और न संप्रेषण की धार, क्योंकि इस तरह की रचनाएँ एक तरह से उधार ली गयी संवेदना की परिणति होती है। इसके बरक्स भोगित यानी भोगा हुआ व्यंग्य प्रामाणिक भी होता है और प्रभावी भी क्योंकि व्यंग्यकार इस व्यंग्य-प्रक्रिया का चश्मदीद गवाह होता है। भोगित व्यंग्य की प्रक्रिया स्वतः स्फूर्त होती है, जबकि अभिप्रेरित व्यंग्य सायासिक होता है। मसलन डॉ. ज्ञान चतुर्वेदी का 'बारामासी' व्यंग्यात्मक उपन्यास तथा प्रेम

जनमेजय की व्यंग्य-रचना 'बर्फ का पानी' भोगित व्यंग्य-लेखन के जीवंत उदाहरण हैं। यह अलग बात है कि 'बारामासी' उपन्यास के स्वरूप में है और 'बर्फ का पानी' कहानी के स्वरूप में। पर दोनों में मारकता और मार्मिकता का अद्भुत संतुलन है।

मौजूदा व्यंग्य-लेखन पर नजर डालें तो अधिकतर जो व्यंग्य-रचनाएँ सामने आ रही हैं, वो सब अभिप्रेरित श्रेणी की व्यंग्य-रचनाएँ हैं। जरूरत है भोगित श्रेणी के व्यंग्य-लेखन की, पर ऐसा लेखन तभी संभव है जब सामाजिक व राजनीतिक हलचलों से व्यंग्य-लेखकों का सीधा जुड़ाव हो। ऐसे व्यंग्य-लेखकों की संख्या बहुत कम दिख रही है। यही कारण है कि जो व्यंग्य-रचनाएँ, लिखी जा रही हैं, वे गंभीर प्रभाव नहीं बना पा रही हैं। कोई लेखक दूर से घटनाओं को देखकर या प्रकाशित व प्रसारित खबरों को आधार बनाकर कुछ लिखता है तो यह कहना गलत नहीं होगा कि ऐसे लेखकों के लिए व्यंग्य-लेखन शब्दों का खेल है, टाइमपास करने का एक जरिया है। यह ठीक है कि एक संस्कृतिकर्मी और राजनीतिकर्मी के अपने-अपने क्षेत्र हैं और अपनी-अपनी कार्यपद्धतियाँ हैं, लेकिन कभी-कभी एक स्थिति ऐसी भी आती है जब दोनों को संघर्ष के मोर्चे पर एक साथ खड़ा होना जरूरी हो जाता है। एक जटिल दौर में भी यदि कोई लेखक सामाजिक-सांस्कृतिक व राजनीतिक आंदोलनों-गतिविधियों से कटा रहता है और 'आउटसाइडर' की तरह उधार लिए अनुभवों को लेकर व्यंग्य का ताना-बाना रचता है तो ऐसा लेखन गंभीर प्रभाव पैदा कर ही नहीं सकता। इसलिए कभी-कभी लेखक को भी खुलकर यानी एक्टीविस्ट की तरह संघर्षशील भी बनना पड़ता है और रचनाशील भी। एक एक्टीविस्ट

रचनाकार हो यह जरूरी नहीं, पर एक रचनाकार का एक्टीविस्ट होना जरूरी है। यह अलग बात है कि लेखकीय भूमिका और एक्टीविस्ट की भूमिका स्थिति सापेक्ष होती है।

दूसरी विचारणीय बात यह है कि व्यंग्य-लेखकों को अपनी प्रस्तुति-भंगिमा को लेकर सजग होने की जरूरत है। ऐसी व्यंग्य-रचनाएँ ज्यादा दिख रही हैं जिनमें व्यंग्य की भंगिमा इतनी सतही होती है कि रचना सकारात्मक व गंभीर संदेश देने में सफल नहीं हो पाती, व्यंग्य मजा लेने की चीज बन जाता है और गतिहीनता की प्रतिध्वनि देने लगता है। व्यंग्यकार को विद्रूपताओं का अंकन महज मजा देने के लिए नहीं करना चाहिए, बल्कि प्रस्तुति ऐसी होनी चाहिए कि पाठकों के भीतर विद्रूपताओं को लेकर गहरी हिकारत का भाव पैदा हो और वह उन विद्रूपताओं के समूल नाश के लिए बेचैन हो जाए। समाज की, सत्ता की शक्ति-संरचना से उत्पीड़ित लोगों के लिए सहानुभूति पैदा करने की जगह व्यंग्य-रचना स्वाद और चटाखारे लेने का माध्यम न बन जाय-इसको लेकर सचेत रहने की जरूरत है। अपने समय की विद्रूपताओं को उभारना लेखक का बुनियादी लक्ष्य होता है, पर मुद्दों

की बहुलता से रचाव में स्फीति पैदा होने की आशंका बढ़ जाती है। ऐसी रचना समय और जीवन का कोई सघन और संगुणित चित्र प्रस्तुत करने के बजाय देश की धरती पर छोटे-छोटे द्वीपों की मानिन्द पसरती हुई विद्रूपताओं पर चलती-फिरती तात्कालिक किस्म की टिप्पणी ही कर सकती है। कहने का अभिप्राय है कि व्यंग्य लेखन में व्यंग्यकारों के सरोकार पर संदेह का कोई सवाल नहीं है, पर जो प्रस्तुति का ढाँचा है, उसकी प्रभावशीलता पर प्रश्न है। व्यंग्य में पीड़ा-बोध ही नहीं हो, वरन् प्रबोधात्मकता भी होनी चाहिए। व्यंग्य-लेखकों को प्रस्तुति-रूप और विश्लेषण-पद्धति पर नये सिरे से विचार करने की जरूरत है।

सहयोगी पुस्तकें :

1. कबीर, हजारी प्रसाद द्विवेदी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।
2. साहित्य का समाजशास्त्र, मैनेजर पाण्डेय, वाणी प्रकाशन, दिल्ली।
3. धर्म सत्ता और प्रतिरोध की संस्कृति, राजाराम भादू, वाणी प्रकाशन, दिल्ली।
4. त्रैमासिक व्यंग्य-यात्रा, जुलाई-सितम्बर 2019
5. त्रैमासिक आलोचना, अक्टूबर-दिसम्बर, 2010
6. त्रैमासिक व्यंग्य-यात्रा, जनवरी-मार्च, 2018

संपर्क: हिन्दी-विभाग, करीम सिटी कॉलेज, जमशेदपुर, झारखण्ड, मो. 9430260514

“पुरस्कार लेने से मना करना, और अधिक शोर के साथ पुरस्कार लेने का तरीका है।”

“क्लासिक किताबें वो होती हैं, जिनकी लोग प्रशंसा करते हैं, पर पढ़ते नहीं।” (मार्क ट्वेन)

ज्ञानानुशासनों के सिरमौर के सिरमौर की अंदरूनी कथा

शशिभूषण द्विवेदी

क्या ज्ञानानुशासनों या ज्ञान की विभिन्न शाखाओं का सिरमौर माने-जाने वाले साहित्य की एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण विधा व्यंग्य— जिसे विधाओं की विधा भी कहा जा सकता है— एक ऐसा शातिर किस्म का समर्थ, स्वीकार्य, सिरमौर और सार्थक घुसपैठिया है, जिसके स्वागत के लिए उपन्यास, कहानी, कविता या सभी विधाएँ अपना दरवाजा हमेशा खोल पलक पांवड़े बिछाए रहती हैं; और वह हमेशा हँसते मुस्कुराते रहते हुए सारे संसार को किसी शरारती बच्चे की तरह चिढ़ावा-तंग करता हमेशा अपना काम करता रहता है, और हर विधा के लिए रसायनशास्त्र के उत्प्रेरक की तरह बरता जाता है?

क्या ज्ञानानुशासनों के सभी घटक, उनकी शाखाएँ, उनके विभिन्न आयाम, उनके कोण और इन अनुशासनों के सभी अनुगामी यानि लेखक इस तथ्य के लिए व्यंग्य के शुक्रगुजार हैं कि कोई लिखे कुछ भी; व्यंग्य दबे पाँव उनके पास आ खड़ा होगा, और चाहे-अनचाहे, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष अपनी जगह पर पूरी ईमानदार स्वायत्तता के साथ अपना स्वाभाविक मुकाम तय करके चस्पों हो जायेगा? और लाख टके की शाश्वत सच्चाई यह कि क्या व्यंग्य अपने समय का सबसे विश्वसनीय वाहक होता है, उसी 'समय' का जिसे काल, काल-खंड या महाकाल जैसी संज्ञाओं से समझा-परखा जाता रहा है? और क्या समय की सारी चुनौतियों, अच्छी-बुरी हरकतों, संदिग्धताओं, उतार-चढ़ाव आदि की आदिम-नियंता बनी राजनीति रामायण, महाभारत काल से ही व्यंग्य की ऐसी पुरजोर प्रेमिका रही है जिसने इसका साथ कभी नहीं छोड़ा; और व्यंग्य के लिए ऐसे तथ्य या सामान जुटाती रही जिससे फलता-फूलता आज वह इस स्थिति में पहुँच गया है कि हर तरह के संदिग्ध-चरित्र उसे अपना जानी दुश्मन समझते हैं? सामाजिकता के चप्पे-चप्पे पर कुंडली मारकर बैठी राजनीति के लिए क्या व्यंग्य वह ऊंट है जो इस पागल हाथी का कान चबाकर उसे काबू में रखने की कूवत रखता है?

चूँकि इस विधा पर सोचते समय ये सारे प्रश्न मुझे मथते रहे हैं; इसलिए

इनका उत्तर देना ही इस लेख का कलेवर होगा और इस विधा के कुछ नए पहलू उजागर होंगे। आइए देखा जाय!

यह तो मानी हुई बात है कि कुछ लेखक इसी विधा के होकर रह जाते हैं; जो साहित्य मात्र के लिए एक अच्छी बात है। लेकिन कवियों, कथाकारों, उपन्यासकारों की एक ऐसी जमात संसार के हर कोने में है, रही है, और होगी जिनके लेखन में व्यंग्य की उपस्थिति सब्जी में पानी की तरह अपने आप चस्पां हो जाती है, और कई बार व्यंग्य इतनी स्वाभाविकता से रचना में आ घुलता है कि स्वयं लेखक को भी इसका अहसास नहीं होता। इसीलिए मैंने ऊपर इसे स्वाभाविक और जरूरी घुसपैठिया कहा है; क्योंकि जिसका अहसास ही नहीं हो, वह न सिर्फ एक मोहक घुसपैठिया है, बल्कि ऐसा बिन बुलाया मेहमान भी है, जो जरूरी मेहमान से भी ज्यादा जरूरी है, और जिसके आने से रचना की महफिल रौशन हो जाती है। आप इस मेहमान को चाय के लिए पूछें न पूछें; यह महान कार्टूनिस्ट स्वर्गीय आर के लक्ष्मण के कार्टूनों के शातिर बुजुर्ग की तरह धोती पर चेक का कोट पहने सारे संसार पर एक व्यंग्य—मुस्कान बिखेरता, आपकी औकात का अंदाजा लगाता खड़ा दूर—दराज तक देखता रहेगा और विश्लेषक के लिए तरह—तरह के रूपक मुहैया कराता रहेगा। व्यंग्य और कार्टून की यह सहोदरी—जोड़ी सभ्यता की शुरुआत के समय से ही इतनी शातिर रही है कि इससे बचना नियंताओं या वर्चस्ववादी ठेकेदारों के लिए दूभर रहा है। कहने की आवश्यकता नहीं कि चार्ली चैपलीन की टूथ—ब्रश जैसी मूँछ और उसके नीचे के होठों की मुस्कुराहट सनकी हिटलरों के लिए कितनी महंगी पड़ती थी। किसी कार्टून में एक टेढ़ी नाक, या उठी

हुई मूँछ, या जिन्ना टोपी से ढँकी हुई नाक और मात्र एक या दो पंक्तियों में सब कुछ कह देने वाला साहित्य सब कुछ कह देता है; और दुनिया या तो छाती पीटती रह जाती है, या हँसती मुस्कुराती अपना तनाव कम कर लेती है।

व्यंग्य की सबसे बड़ी विशेषता ही यह है कि वह स्वयं तो क्रोध मुक्त होता है, लेकिन समाज के संदिग्धों को क्रोध से भर देता है। व्यंग्यकार भीतर से एक पीड़ित जीव होता है जो समाज की नकारात्मकताओं से त्रस्त होता है, लेकिन रास्ता उसे बिल्कुल वह चुनना पड़ता है जिसे यूरोपीय साहित्य में “विट एंड ह्यूमर” कहा जाता है। यानि ऐसी चिकोटी जिससे दर्द भी हो तो हँसी आए। इसीलिए संस्कृत साहित्य या हिंदी में कबीर से शुरू हुआ व्यंग्य भारतेंदु, हरिशंकर परिसाई, शरद जोशी, विष्णु नागर, ज्ञान चतुर्वेदी, प्रेम जनमेजय, आर.के.लक्ष्मण, सुरेन्द्र, सुधीर तैलंग, दिलीप बॉब और संकर्षण ठाकुर (दोनों अंग्रेजी) तक आते—आते इतना सशक्त हो गया है कि कवियों में चाहे दिनकर, कुंवर नारायण या धर्मवीर भारती हों या राजेश जोशी, अष्टभुजा शुक्ल, या ज्ञानेन्द्रपति; सबमें इसकी स्वाभाविक उपस्थिति एक चमत्कार से कम नहीं है। आजादी के समय से श्रीलाल शुक्ल तक आते—आते उपन्यास या कहानी चाहे किसी के भी हों। व्यंग्य वहाँ मिलेगा और संदिग्ध लोगों की भौंहें उन पर तनेंगी ही।

यह एक बड़ी सच्चाई है कि ‘समय’ चाहे रामायण, महाभारत का हो, या हमारा यह घोर कलयुग; राजनीतिक सत्ताएँ हमेशा व्यंग्य को दुश्मन से बड़ा दुश्मन मानती रही हैं और फ्रांस में कार्टून की पत्रिका के दफतर में पत्रकारों—साहित्यकारों पर अगर कुछ कसाइयों के कहर टूट पड़ते हैं, या अंग्रेजी के लेखक

सलमान रशदी पर कुछ निकृष्ट सांप्रदायिकों के फतवे जारी हो जाते हैं, या नोबेल पुरस्कार 2001 में मिलने पर स्वर्गीय वी एस नॉयपाल पर “ग्रेट राइटिंग बट ड्रेडेड पॉलिटिक्स” कहकर नोबेल समिति को ही कटघरे में खड़ा कर दिया जाता है, या श्रीलाल शुक्ल के राग दरबारी पर आपातकाल में रोक लगा दी जाती है, या थोड़ा और पीछे जाएं तो आजादी की लड़ाई के दौरान प्रेमचंद के सोजेवतन पर रोक लगा दी जाती है; तो यह समझना आसान है कि क्यों इस देश का हर प्रधानमंत्री अपने पतन के लिए कार्टूनिस्ट स्वर्गीय आर.के.लक्ष्मण को जिम्मेदार मानता रहा है। श्री लक्ष्मण ने किया सिर्फ इतना कि किसी को तबला, हारमोनियम, झाल आदि सब कुछ बजाते हुए दिखा दिया, किसी की लंबी नाक को थोड़ा अलग मोड़ दे दिया, किसी की जिन्ना टोपी से उसकी नाक ढँक दी और किसी के थोबड़े को थोड़ा बेल की तरह फूला दिया, और सबके कोपभाजन बन गए। तो क्या राजनीति इतनी छुई-मुई होती है कि कुछ पंक्तियों से उसकी घिग्घी बंध जाती है; या वह इतनी सजग-सचेत होती है कि उसे हर आदमी, हर घटना, साहित्य का हर शब्द या व्यंग्य अपनी नकारात्मकताओं की तरफ आता दिखाई देता है? यह आज के समय का सबसे महंगा लेकिन जरूरी विमर्श है!”

यह एक अद्भुत सच्चाई है कि हमारे समय में खासकर 1970 के दशक के बाद राजनीति का चरित्र चाहे जैसा भी होता गया हो; वह व्यंग्य के लिए एक सार्थक गोदाम रही है। चूंकि वही सामाजिक जीवन की सारी परिस्थितियों, घटनाओं-परिवर्तनों आदि को संचालित भी करती रहती है और काबू में भी रखती है; इसलिए वह व्यंग्य के लिए सार्थक मसाला मुहैया करती रही

है। कारण यह कि व्यंग्य की हर शाखा का किसी न किसी तरह का रिश्ता और लक्ष्य किसी न किसी रूप में राजनीति से शुरू और वहीं पर खत्म होता है। राजनीति साहित्य से सारे लच्छेदार शब्द लेती है, अलंकार लेती है और फिर उसका जब दोहन अपना हक और अपने वर्चस्वी स्वार्थ के लिए करती है; तो उसकी धूर्तता और काईयांपन व्यंग्य के अलावा किसी दूसरी विधा में तात्कालिक रूप से नहीं अँटते। चूंकि राजनीति समाज में और समाज के लिए होती है, इसलिए समाज में जो भी संदिग्ध है, व्यंग्य के प्रति अतिरिक्त सजग होते हैं और जैसे ही किसी अखबार का कार्टून, या ज्ञान चतुर्वेदी के व्यंग्य का कोई टुकड़ा, या शरद जोशी का व्यंग्य स्तंभ “प्रतिदिन” उसके सामने आकर उसके किसी नकारात्मक पक्ष को छूते हैं। यह डरपोक संदिग्ध चरित्र का आदमी मनोविज्ञान में सबसे ज्यादा ‘डरपोक’ माना जाता है— बिफर उठता है। संदिग्ध व्यक्ति अतिरिक्त रूप से ‘सचेत’ भी फ्रायड के अनुसार इसीलिए होता है कि वह मानकर चलता है कि उस पर सबकी नजर है। वह इस खोज में रहता है कि किसी ने उसकी नाक का मजाक तो नहीं उड़ाया, या उसकी मूँछ चम्बल के माधो सिंह की तरह तो नहीं बना दी, या उसकी दाढ़ी को पंजाब-हरियाणा के खेतों में जलती पराली की तरह जलती तो नहीं दिखा दी।

हमारे समय में चूंकि आवारा पैसे ने संदिग्धता को बढ़ाने में मदद की है, इसलिए पैसा-पिशाचों का एक वर्ग जब अपनी सच्चाई को किसी व्यंग्यकार या कार्टूनिस्ट के कलम की कमाल के रूप में पत्र-पत्रिकाओं में देखता है, तो उसकी सांस रुक जाती है या उसे पसीना आ जाता है क्योंकि लिखित शब्द की महिमा और

उसके मानव-मन पर पड़ने वाले प्रभाव से सभी परिचित हैं। कारण स्पष्ट है कि लिखित शब्द समाज-समूह तक आग की तरह फैलता है और यह शाश्वत सच्चाई है कि दुनिया की हर बुराई तब-तक समाज से खत्म नहीं हुई जब तक उसे लिखा नहीं गया। हर संदिग्ध उसी से सुधरा। व्यंग्य कुछ करे या न करे, वह 'करवा' सब कुछ देता है। भोजपुरी में एक मुहावरा है "करला से करवावलऽ भारीऽ..."।

इसलिए भी मैंने व्यंग्य को "विधाओं की विधा" कहा है। शमशेर को "कवियों का कवि" कहा जाता था।

हिंदी में कबीर से शुरू होकर भारतेंदु से गुजरता व्यंग्य परसाई, शरद जोशी और विष्णु नागर तथा ज्ञान चतुर्वेदी, प्रेम जनमेजय और सूर्यनारायण पांडेय तक पहुँचा है। वह भले धन-पिशाचों की पत्र-पत्रिकाओं में कम नजर आता हो; लेकिन साहित्य की साक्षी पत्रिकाएँ आज भी उसे स्थान दे रही हैं। राजेन्द्र घोड़पकर और माधव जोशी के कार्टून हमारे सामने समाज की एक अलग तस्वीर लेकर आते हैं। व्यंग्य आज की जरूरी विधा इसलिए भी है कि हम अपने समय में कई ऐसे दबावों में जी रहे हैं जिन पर हमारा कोई वश नहीं है। इसलिए हम हमेशा गुस्से में नहीं रह सकते। चूंकि लेखक तो स्वभावतः शांत होता है, इसलिए वह हर समय क्रोध में नहीं रह सकता। इसलिए उसके बचाव वाली विधा के रूप में व्यंग्य का अवतार ऐसा ही है जैसे साँप भी मर जाये और लाठी भी नहीं टूटे। यह मुहावरा समाज में सही आदमी का बचाव करता है। व्यंग्य हमेशा बैलून में पीन चुभोने वाली भूमिका में रहा है। समाज के संदिग्ध हमेशा व्यंग्य से खौफ खाते हैं। संदिग्धों को व्यंग्य का डर ही इस विधा को "हींग न

फिटकरी रंग चोखा" वाला सकारात्मक दर्जा दिए हुए है। और ज्ञानानुशासनों का वरदहस्त तो इस पर रहता ही रहा है। चाहे इतिहास हो, समाजशास्त्र हो, दर्शन या गणित हो; सबमें कहीं-न-कहीं यह दुबका हुआ मिल जायेगा।

ज्ञानानुशासनों की विशेषता ही यही है कि उनमें एक-दूसरे के प्रति एक उदार, प्रजातांत्रिक और अलिखित समझौता होता है और वे बिना रोक-टोक लेखक की क्षमता और जीनियस के अनुपात में एक-दूसरे में आवाजाही करके एक-दूसरे को समृद्ध करते रहते हैं।

चूंकि इन सबका अस्तित्व शब्दों पर निर्भर करता है, इसलिए शब्दों पर इनकी निर्भरता जग-जाहिर है। शब्द सिर्फ 'ब्रह्म' नहीं है, वह 'जीव' पहले है। वह जीवन भी है और उसका वाहक भी है। वे सभी साहित्य में सक्रिय रहने के लिए शब्दों पर निर्भर हैं और 'विखंडन' या डिक्न्सट्रक्शसन का सिद्धांत देने वाले जॉक देरिदा की अगर माने तो एक ही शब्द एक ही समय में कई अर्थों का वाहक है। इसलिए एक ही शब्द कहीं दर्शन है तो कहीं रसायनशास्त्र और कहीं कुछ और। भाषाओं की बात भी अगर हो तो 'यशस्वी' शब्द मराठी में 'लागू करने' के लिए आता है तो हिंदी में "यश की भागी" के रूप में। 'नानी' नेपाली में 'बच्चा' है तो हिंदी में 'माँ की माँ'। एक साक्षात्कार में ज्ञान चतुर्वेदी जब व्यंग्य और व्यंग्यकारों की चर्चा चलने पर यह कहते हैं "मैं आज भी मानता हूँ कि शरद जोशी और हरिशंकर परसाई सबसे बड़े व्यंग्यकार हैं। अब इसके लिए भले भोपाल में मेरा रहना मुहाल हो जाय" तो कुछ कहने को शेष नहीं रहता।

यहाँ शब्द ही व्यंग्य है। इसलिए वे हमारी समझ की प्रजातांत्रिकता का विस्तार करने वाले वे तत्त्व बन गए हैं, जिनसे शब्दों की सामाजिकता

का एक मारक पहलू सामने आ रहा है। यह मार तो नहीं रहा है लेकिन इससे “सोचता हुआ मनुष्य” या थिंकिंग ह्यूमन बीइंग का एक पहलू सामने आता है। इस तथ्य की वकालत हमारे एक बड़े कवि स्व. कुंवर नारायण ने अपनी कविताओं में खूब की है।

अब चूंकि ज्ञान चतुर्वेदी का ऊपर का जवाब सुनकर हम अक्सर हँस देंगे, इसलिए व्यंग्य के पहले अक्सर “हास्य” नामक उपसर्ग लगा दिया जाता है। लेकिन “मेरा रहना मुहाल हो जाय” सिर्फ हास्य का वाहक ही नहीं है। दुःख का ऐसा तार इस वाक्य खंड में है जिसका पाठ कुछ लोगों के चरित्र-चित्रण की तरह भी किया जा सकता है। वह समाज का एक ऐसा पक्ष भी है जिसमें साहित्य समाज की एक गहरी सच्चाई छिपी हुई है। इसे कुंठा या जलन या अहमकपन कुछ भी कहा जा सकता है। इसे ज्ञान के किसी भी अनुशासन से जोड़कर एक नया पाठ निर्मित किया जा सकता है। व्यंग्य विधा में बोला गया यह वाक्य समाज के एक तबके की मानसिक बनावट का मनोविज्ञान भी है। व्यंग्य इसीलिए हमेशा से विश्लेषकों के लिए चुनौती रहा है। यह साहित्य की गतिकी का ऐसा हिस्सा रहा है जिसे साहित्य या ज्ञानानुशासनों की रीढ़ की हड्डी कहा जा सकता है। व्यंग्य नाम का बिन बुलाया मेहमान जीवन के चप्पे-चप्पे पर मौजूद है।

एक उदाहरण स्व. नामवर सिंह से जुड़ा है जो सामाजिक जीवन में व्यंग्य के भारी रसिया थे। एक बार वे जोधपुर किसी कार्यक्रम में गए थे। वहाँ उनके एक पुराने शिष्य एकदम पारंपरिक राजस्थानी लिवास में मिलने आए और बोले, “सर पहचान रहे हैं।” नामवर जी अपने अंदाज में बोले, “हाँ, हाँ। तुम फलां हो। तुम्हें देखते ही पहचान गया था। तुम बुरके में भी आते तो मैं

तुम्हें पहचान लेता।”

इसलिए बिना हिचक कहा जा सकता है कि व्यंग्य किताबों और ज्ञानानुशासनों में तो उपस्थित है ही, जिसका हवाला आलोचिन्तना के तर्क देते रहे हैं, लेकिन ज्यादा सशक्त विधा इसलिए भी है, क्योंकि इसके प्राण-तंतु सामाजिक-जीवन को लोकधर्मी संस्कृति से नाभि-नाल आबद्ध हैं। लोकभाषाओं, लोकगाथाओं और लोकाचार की लोकोक्तियों में व्यंग्य की उपस्थिति पर ग्रंथ-के-ग्रंथ का हवाला सागर विश्वविद्यालय के पूर्व प्राध्यापक सुरेश आचार्य की डी.लिट् थीसिस में बिखरे पड़े हैं। और हिंदी अपनी लोक भाषाओं के बिना है ही क्या? व्यंग्य हँसने-हँसाने के साथ सोचते हुए मनुष्य के रूप में उसकी भूमिका की तरफ भी इशारा करता है। इस तरह के व्यंग्य सोच, दुःख, सामाजिकता, क्रोध, ज्ञानानुशासन, लोक-जीवन, व्यक्ति जीवन आदि का एक ऐसा मीठा घोल है जिसका सेवन व्यक्ति को सिर्फ हल्का ही नहीं करता बल्कि फ्रेंच लेखक ज्यॉ पॉल सार्त्र के इस सूत्र की पूर्ति भी करता है कि “मैं सोचता हूँ, इसलिए मैं हूँ।” यानि आई थिंक देयरफोर आई एम। सोचना क्रांति की तरह सातत्य की एक प्रक्रिया भी है जिससे सभ्यता का क्रम आगे बढ़ता है। इसलिए यह कहना एकदम सच है कि अगर आजादी के पहले के भारत को, खासकर हिंदी हृदय प्रदेश को समझना हो तो आदमी प्रेमचंद को पढ़ ले और आजादी के बाद के समूचे भारत को समझना हो तो शरद जोशी, परसाई और ज्ञान चतुर्वेदी समेत आज के व्यंग्यकारों को पढ़ ले। पूर्वी और पश्चिमी दोनों साहित्य के उदाहरणों से मैं अपनी आगे की बात करूँगा। इसलिए केशव, कबीर, धर्मवीर भारती, कुंवर नारायण, अष्टभुजा शुक्ल, राजेश शुक्ल, राजेश जोशी, ज्ञानेन्द्रपति, शेक्सपीयर

आदि के उदाहरण हमारे पथ—प्रदर्शक होंगे।...

“केशव की कविताई” नामक अपनी एक टिप्पणी में अज्ञेय लिखते हैं, “कहीं—कहीं जहाँ चमत्कार की कोई तारीफ करता है और कोई निंदा, वहाँ भी केशव असल में थोड़ा सा व्यंग्य जरूर करते होंगे। जैसे—

“ऐरी गोरी भोरी तेरी थोड़ी—थोड़ी हॉसी मेरी
मोहन की मोहिनी की गिरा की गुराई है।”

स्मरणीय है कि केशव उस रीतिकाल के कवि हैं जिसके नाम से हिंदी आलोचिंतना के एक नकारा वर्ग को छींक आने लगती है। रीतिकाल में भूषण जैसे वीर—रस के असमानान्तर कवि हुए हैं उन पर अभी बात होना बाकी है। किसी बात पर या किसी तथ्य पर बात न करके उसे एकदम दृश्य के बाहर कर देना किसी गदहेपन से कम नहीं है। सारी दुनिया मानती है कि “कवित्व” की दृष्टि से रीतिकाल की कविता अपना शानी नहीं रखती। और यह कहने लिखने के लिए डॉ. नगेन्द्र होना जरूरी नहीं है। अज्ञेय ऊपर की पंक्तियों पर अपनी टिप्पणी देकर नामवर सिंह की मदद कर रहे हैं जिन्होंने अज्ञेय को “कविता के नये प्रतिमान” में उद्धृत किया है—“इस पंक्ति को कोई तो मिठास से भरी हुई बतलाएगा, कोई निरा शब्दाडंबर कहेगा, पर मुझे तो लगता है कि असल में केशवदास उस गोरी की प्रशंसा करने के साथ—साथ उसे थोड़ा बना भी रहे थे।”

लेकिन एक और गोरी है जिसे प्रेम के अनोखे कवि स्व. धर्मवीर भारती अपनी कालजयी रचना ‘कनुप्रिया’ में व्यंग्य और प्रेम के ऐसे असाधारण हथियार के रूप में इस्तेमाल करते हैं जिसका समानांतर ढूँढ़ना विश्व साहित्य में भी आसान नहीं है। देखिए:

ओ पथ के किनारे खड़े

छायादार अशोक वृक्ष!

आज तू अपनी डालें नीचे कर ले

तुझे पता नहीं

यहाँ से कृष्ण की अट्टारह अक्षौहिणी

सेनाएँ गुजरने वाली हैं

और तुम्हारी ऊँची डाल

कृष्ण के रथियों की

पताकाओं में उलझती है—

इन पंक्तियों के उदात्त व्यंग्य का सौन्दर्यशास्त्र राजनीति, समय, चिंतन, भय और प्रेम के जिस अद्भुत रसायन का निर्माण करता है; उसे पकड़ना सिर्फ भारती के वश की ही बात थी। अट्टारह—अक्षौहिणी सेनाओं के रथियों की पताकाओं में उलझने की धृष्टता करने वाले वृक्ष को ऐसी हिदायत प्रेम में जली कोई राधा ही दे सकती थी। अब प्रेम गाली तो नहीं देगा, कुछ करेगा भी नहीं तो एक प्रतीक को माध्यम बनाकर इशारे में सेनाओं के भय से एक रूपक रचेगा और उसे व्यंग्य के हवाले कर देगा। दुनिया जानती है कि संसार के इस सबसे बड़े युद्ध के नायक तो कृष्ण के अलावा कोई हो ही नहीं सकता था। यह अनायास नहीं है कि अट्टारह दिनों के इस युद्ध की समाप्ति पर जब बर्बरीक से पूछा गया था कि उसने इन दिनों में क्या देखा; तो उसने जवाब दिया था कि उसे तो सुदर्शन चक्र के अलावा कुछ दूसरा दिखा ही नहीं! यानि युद्ध के चप्पे—चप्पे पर वही कृष्ण पहरेदार, नियंता, मैनेजर सबकी भूमिका में, सबकी आत्मा, चेतना, गुस्सा सब कुछ के कारक और कर्ता! और ये वही कृष्ण हैं जिनको संबोधित करते हुए राधा शुरुआती पंक्तियों में प्रेम की उदात्तता का एक ऐसा चित्र खींचती हैं जो सिर्फ औरत के ही वश की बात है:

यह जो अकस्मात् मेरे

जिस्म के सितार के एक—एक तार में

तुम झंकार उठे हो
सच बताना मेरे स्वर्णिम संगीत
सो रहे थे।

पहले उद्धृत पंक्तियों में व्यंग्य का गरिमाकर उत्स कथा इन पंक्तियों में खोजने वाले नहीं खोजेंगे! मतलब यह कि व्यंग्य इतना ताकतवर है कि ज्ञान और मीमांसा के हर विषय से अपना प्राप्य, प्राप्त करके अपनी पताका फहरा लेगा। “कनुप्रिया” और भारती जी के दूसरे काव्यनाटक “अंधायुग” में व्यंग्य की व्युत्पत्ति मनुष्य की लिप्सा वर्चस्वी राजनीति और अति-महत्वाकांक्षा से हुई है और स्व. कुंवर नारायण तक आते-आते वह अपने समय की तहों में ऐसा धँसा है कि “आत्मजयी” होकर हमारा पथ-प्रदर्शक बन गया है। ध्यान देने की बात है कि भारती और कुंवर जी दोनों अपनी आधारभूमि का निर्माण भूतकाल की सामग्री पर करते हैं और हमारे सामने उसका वह रूप खड़ा करते हैं; जो भविष्य के प्रति एक सचेत संकेतक की तरह है। कुंवर जी के इस अद्भुत क्षमतावान कृति का नायक कठोपनिषद का एक बालक नचिकेता भी राजनीति और समय यानि “काल” के व्यूह में झूलता एक ऐसा मनुष्य है जो दुनियावी सुखों और इन्द्रियबोधों के उत्तर अपनी “आत्मा” की आवाज में सुनता है और सर्वसमर्थ पिता को ही चुनौती दे डालता है—
पिता, तुम भविष्य के अधिकारी नहीं
क्योंकि तुम ‘अपने’ हित के आगे नहीं
सोच पा रहे,
न अपने हित को ही
अपने सुख के आगे।

तात्पर्य यह कि राजनीति और समय चाहे कोई भी हो वह व्यंग्य के लिए एक सार्थक जमीन देता रहा है। इसीलिए व्यंग्य को अपने समय का सबसे बड़ा पहलू मानना चाहिए।

कुंवरजी के बाद कवियों की तो ताजा खेप हमारे सामने है उसमें अष्टभुजा शुक्ल का जीवन और कविता दोनों में व्यंग्य का भरपूर मसाला है। शुक्लजी खाद कंपनियों को चोरों की श्रेणी में तो रखते हैं, लेकिन एक खाद बनाने वाली कंपनी से कुछ वर्ष पहले ग्यारह लाख का लखटकिया पुरस्कार झटक चुके हैं। देखिए उनके व्यंग्य की धार की कटान—

किसी जाति का दो बटा तीन भाग
कीचड़ में
एक बटा चार भाग पानी में
शेष पानी के ऊपर है
तो जाति का कौन सा भाग
हवा में है?
कोई दुकानदार एक बोरी
यूरिया में जब
एक बोरी पिसा नमक मिलाता है
तो उसकी आय उसकी
लागत की तिगुनी हो जाती है
वही खाद जब एक
लघुसीमांत किसान
अपने खेत में डालता है तो
उसकी उपज लागत की
आधी आती है
किसान की किस पीढ़ी का बच्चा
सोने की कटोरी में
दूध-भात खाएगा
एवं किस युग के किस चरण में
रामराज्य अथवा समाजवाद आएगा।

यह उद्धरण उनकी एक कविता “गणित के कुछ प्रश्न” से उद्धृत हैं। वैसे शुक्ल जी गंवई काईयापन और भोजपुरी कुटर्नइ के भी माहिर हैं। और जाहिराना तौर पर ये सब सगुण-दुर्गुण भी व्यंग्य को सामग्री तो देते ही होंगे।

हमारे समय के एक और बड़े कवि लीलाधर जगूड़ी जो 'व्यास-सम्मान' और साहित्य-अकादमी पुरस्कार से सम्मानित हैं, ने अद्भुत ढंग से व्यंग्य का इस्तेमाल किया है। हालांकि वे उस सातवें दशक के अकविता-दौर के कवि हैं जब कविता में कुंठा, हाहाकार, तांडव, गाली-गलौज आदि का बोलबाला हुआ था। लेकिन उन्होंने जल्दी ही अपना रास्ता धूमिल और राजकमल चौधरी आदि से अलग कर लिया और सामाजिक जीवन को कविता की चाशनी में पकाकर बारह से ज्यादा कविता संग्रह हिंदी को दिए। उनके पास शब्दों से तरह-तरह के काम लेने की क्षमता एक सधे हाथों वाले कुम्हार जैसी है और संस्कृत साहित्य का उनका अध्ययन मनन इसमें उनकी भरपूर सहायता करता है। उत्तराखंड के वासी श्री जगूड़ी पहाड़ के जीवन को उसी नरमाई के साथ पकड़ते हैं और उसमें जब समय, उसके दबाव और उसकी सूंअर के थूथने जैसी हर जगह थूथना घुसाती राजनीति मुँह मारती दिखती है; तो जो जगूड़ीजी पकड़ते हैं, वह उन्हीं की क्षमता का नमूना बनकर रह जाता है। उनकी कुछ कविताओं से इन बातों को समर्थन मिलेगा—

सनसनी फैलाने की कहानी
बनाते पत्रकार यह जनवाते
रहते थे कि साहित्य के
कहानीकार सिर्फ औरत-मर्द
संबंधों में गुत्थमगुत्था हैं
नाराज कवि विरोध का
अनुरोध करते हुए
स-रोद वादन शैली में
कविता कर रहे हैं
तुष्ट आलोचक पुष्ट, विचारों के साथ
दुष्टों से हमें क्या वाली मुद्रा में

कह रहे हैं
“हत्या कोई रचना नहीं
जिसकी हम विवेचना करें”
तरह-तरह के प्रभुकृपा प्राप्त ठाठ काटते
हत्याओं के बीच
खुद को जीवित या अखबार पढ़कर
जाति सहित सहसा उसे अपना
सम्प्रदाय याद आया
शरीफ घबराया कि अब
मारा जाऊंगा क्योंकि धर्म के नहीं
हत्यारे सम्प्रदाय के पक्के होते हैं!!

जगूड़ी जी की यह कविता “पलटवार” क्या अपनी सारी इयत्ता के साथ ‘सभ्यताओं के संकट’ पर एक गंभीर टिप्पणी नहीं करती, जिसे क्लैश ऑफ सिवलाइजेशन का नाम दे दिया गया है। जबकि इससे कट्टरता के कसाई-मनोविज्ञान की रोशनी, संदर्भ और नित्ये के “इतिहास के पागलपन” को सामने रखकर अपने समय की उदात्त आवश्यकताओं की रोशनी में समझने की उदार कोशिश करनी चाहिए। सच पूछा जाय तो व्यंग्य क्रोध की उदारता का द्योतक भी है; क्योंकि वह दुर्योधन जैसा सर्वदा उत्तेजित-अनुदार पात्र नहीं, युधिष्ठिर जैसा उदार-नैतिकता से लबालब पात्र है जो दोनों डटी हुई सेनाओं के बीच रथ से उतर, पैदल चलकर भीष्म के पास आता है, उन्हें प्रणाम करता है और युद्ध आरंभ करने की आज्ञा मांगकर “विजयी” होने का आशीर्वाद भीष्म से युद्धभूमि में ही पा लेता है। रामायण में सीता ने भी बिना कुछ कहे सिर्फ एक वाक्य में सब कुछ कह दिया है। वे धरती माँ से प्रार्थना करती हैं कि ‘माँ! मैं आपसे आई हूँ। अब आप की ही शरण में आना चाहती हूँ। क्योंकि “माँ, मैं परीक्षाएँ देते-देते थक गई हूँ”। धरती फटती है, शेर पर सवार धरती माँ प्रगट

होती हैं, और सीता माँ को गोद में लेकर धरती में समा जाती हैं। हमारे स्त्री विमर्शकारों को सीता, द्रौपदी, मंदोदरी, कुंती, गांधारी को भी समझने की कोशिश करनी चाहिए; क्योंकि ये मिथकीय चरित्र सिमन दो बोरूआ, बर्जीनिया उल्फ, सिलविया प्लाथ और बहुत सारे छिछोरे उदाहरणों से ज्यादा महत्वपूर्ण सार्थक, आवश्यक, शाश्वत और अनुकरणीय हैं; और व्यंग्य सहित साहित्य की हर विधा के लिए भरपूर सामग्री उपलब्ध कराते हैं। और यहीं से आज की कविता में एकदम नए विमर्शों या कहें कि हाशिये के लोगों के विमर्शों के अद्भुत कवि—जिनकी कविताओं की कसी हुई उर्जा उनके कवि—सामर्थ्य का लोहा मनवाती है,—ज्ञानेन्द्रपति पर नजर स्वाभाविक है जिनकी ताजा किताब “गंगा बता गंगू तेली की जबानी” का शीर्षक ही सब कुछ कह देता है। व्यंग्य को जिस कवि—सार्थकता या कविता की ताकत को सार्थक करने वाले अंदाज में वे बरतते हैं, वह उनकी कविताओं के पाठ का मूल्य बढ़ा देता है। संस्कृत और भोजपुरी का जैसा इस्तेमाल वे अपनी कविताओं में करते हैं, उस पर भाषा—विज्ञान की प्रजातांत्रिकता को नहीं समझने वाले अलग—अलग टिप्पणियाँ भले करते रहे हों, उनकी विषय—वस्तु को कविता का कलेवर देने की क्षमता पर कोई प्रश्नचिन्ह नहीं है।

उनकी कविताओं की विशेषता ही यही है कि वे भरतमुनि और वोद्लेयर दोनों की काव्य—मीमांसाओं पर खरे उतरते हैं और उनकी कविता के पात्र अपनेआप में पाठों का एक अछूता रूप प्रस्तुत करते हुए अपने समय का सार्थक रूपक व्यंग्य की छाया में पढ़ते गढ़ते हुए कविता में कहानी का आनंद पैदा कर देते हैं। यह अनायास नहीं है कि किसी ने ज्ञानेन्द्रपति

जी की कविताओं को कहानी की तरह पढ़ने की सलाह भी दे रखी है। उनकी कविता में व्यंग्य खोजना आह्लादक परिघटना है। देखा जाय...

ज्ञानेन्द्रपति जी की एक छोटी—सी कविता है “नौका—विहार”, जो उनकी व्यंग्य की समझ का अद्भुत नमूना है। उन्होंने इस कविता का शीर्षक सुमित्रानंदन पंत की इसी नाम की कविता से लिया है और उनका आभार व्यक्त किया है—

बीमार है और तिमरदार के बगैर

इससे क्या...

नदी का भी मन करता है— नहाए

करियाये पानी वाली नदी

उजियार रातों में

चौदनी से नहाती है...

उस समय नौका—विहार करते

घूमते हैं नगर के

सुरुचि—संपन्न लोग

अघायी दिखती सुरुचि से

ढँके भोग—भूखी क्रूरता कि

नदी मर रही है,

और वे बजरे पर बुढ़वा मंगल

मना रहे हैं: शहर के

कुलीन—शालीन, शहर के सहृदय...

इस कविता की शब्दावली में संस्कृत और भोजपुरी (करियाये) शब्दावली लोक, समय और इस देश के मध्यम वर्ग के जिस चरित्र पर उंगली रखती है; वह सर्वत्र दृष्टिगोचर है। इगनजी—जैसा कि वे मित्रों में संबोधित हैं—अपादमस्तक कवि हैं और उन पर ईश्वर की एक और कृपा है कि शक्ल—सूरत से भी बिल्कुल निराला जैसे हैं। कविता को वे ओढ़ना—बिछौना की तरह बरतते हैं और उसके लिए उन्होंने जिन—जिन दुनियावी चीजों की तिलांजलि दे काशी—वास कर रखा है; वह कविता के प्रति

उनकी प्रतिबद्धता का एक “कन्सन्ड” नमूना है। कविता को जीने वाले इस अद्भुत प्रतिभाशाली आदमी पर काफी काम होना बाकी है।

इसी क्रम में राजेश जोशी, बद्रीनारायण और पवन करण की कुछ कविताओं की चर्चा हो सकती है। श्री जोशी पर तो मैं अपने तीन लेखों में भरपूर चर्चा कर ही चुका हूँ। बद्रीनारायण को पढ़ रहा हूँ, इसलिए जल्दबाजी नहीं है। और वह इस लेख के कलेवर से बाहर भी हैं। हरिशंकर परसाई, शरद जोशी, ज्ञान चतुर्वेदी, प्रेमजनमेजय आदि को काफी छीला-रगड़ा गया है; हालांकि ज्ञान चतुर्वेदी के उपन्यासों— खासकर “हम न मरब” आदि पर बात होना बाकी है।

सारांशतः कहा जा सकता है कि करीब सात सौ वर्ष पहले कबीर ने जिस विधा का सूत्रपात किया था, वही व्यंग्य विधा किसी ज्ञान चतुर्वेदी को कबीर से “हम न मरब। मरीहे संसारा” का सूत्र देकर ‘हम न मरब’ नामक व्यंग्य उपन्यास लिखवाती है और विधाओं के व्याकरण के इस टूटते हुए समय में इस विधा को अमरता का वरदान देती है। साम्य देखिए कि उधर

शेक्सपीयर भी कबीर के अनुयायी अपनी कई किताबों “द टू जेंटलमैन ऑफ बेरोना” तथा “लभ लेबर लॉस्ट” आदि में लगते प्रतीत होते हैं। चूंकि बात व्यंग्य की हो रही है और हास्य उसका एक दांत-कांटी रोटी वाला मित्र माना जाता है; इसलिए प्रसिद्ध कार्टूनिस्ट राजेन्द्र घोड़पकर के एक साहित्यिक कार्टून का हवाला यहाँ मौजूं लगता है: एक कार्टून में एक कवयित्री एक युवा कवि के पास जाती है। युवा कवि को यह सोचते हुए दिखाया गया है— इसे खुस्सट बूढ़ों से बचाना होगा।” कार्टून के दूसरे हिस्से में वही कवयित्री एक बुजुर्ग कवि के पास बैठी अपनी कविताओं की चर्चा कर रही है। बुजुर्ग कवि सोच रहा है— “इसे लफंगे नौजवानों से बचाना होगा।” साहित्य-संसार पर यह टिप्पणी क्या कहना चाहती है, कहने की आवश्यकता नहीं। इसलिए व्यंग्य की मार को समाज का दर्द समझकर देखा-परखा-हँसा जाय और सावधान रहा जाय। नहीं?? नहीं तो व्यंग्य आप को भी नहीं छोड़ेगा। यह बनारस का लड्डू है!!

संपर्क: महावीर गेस्ट हाउस, 31ए, के.सी. दे रोड, दार्जिलिंग, सिलीगुड़ी, मो. 9775938214

“सही व्यंग्य व्यापक परिवेश को समझने से आता है। व्यापक सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक परिवेश की विसंगति, मिथ्याचार, असामंजस्य, अन्याय आदि की तह में जाना, कारणों का विश्लेषण करना, उन्हें सही परिप्रेक्ष्य में देखना— इससे सही व्यंग्य बनता है।” (हरिशंकर परसाई)

हँसते-हँसाते करारी मार के उस्ताद- डॉ. ज्ञान चतुर्वेदी

राजीव कुमार रावत

आधुनिक काल में व्यंग्य के सशक्त हस्ताक्षर हैं डॉ. ज्ञान चतुर्वेदी। मऊरानीपुर (झाँसी) उत्तर प्रदेश में 2 अगस्त, 1952 को जन्मे डॉ. ज्ञान चतुर्वेदी विख्यात हृदयरोग विशेषज्ञ हैं। चिकित्सा शिक्षा के दौरान सभी विषयों में स्वर्ण पदक प्राप्त करने वाले छात्र का गौरव हासिल है। भारत सरकार के एक संस्थान (बी.एच.ई.एल.) के चिकित्सालय में कोई तीन दशक से ऊपर सेवाएँ देने के पश्चात् हाल ही में शीर्षपद से सेवा-निवृत्त हुए हैं और इंदौर में रहते हैं।

आपके लेखन की शुरुआत सत्तर के दशक से 'धर्मयुग' से हुई और प्रारम्भिक रचनाएं छपने के बाद लिखने का शौक जगा, जिसमें तत्कालीन संपादक श्री धर्मवीर भारती जी का प्रोत्साहन बहुत कारगर रहा। आपका प्रथम उपन्यास 'नरक-यात्रा' अत्यन्त चर्चित रहा, जो भारतीय चिकित्सा-शिक्षा और व्यवस्था पर था। इसके पश्चात् 'बारामासी' तथा 'मरीचिका' जैसे उपन्यास आए और 'हम न मरब' उनकी ताजा औपन्यासिक कृति है। अभी एक नए उपन्यास 'स्वांग' पर काम जोर-शोर से चल रहा है जिसमें आज के जीवन में बढ़ते हुए नाटकीय उपदेशों और व्यवहारों पर करारी चोट है। स्वांग शब्द ब्रजभाषा का है जिसका अर्थ है नाटक। ज्ञान जी निरंतर प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाएं 'इंडिया टुडे' तथा 'नया ज्ञानोदय', राजस्थान पत्रिका और 'लोकमत समाचार' एवं अन्य दैनिकों में भी व्यंग्य स्तम्भ लिखते रहे हैं। अभी तक एक हजार से अधिक व्यंग्य रचनाओं का प्रकाशन हो चुका है। 'प्रेत कथा', 'दंगे में मुर्गा', 'मेरी इक्यावन व्यंग्य रचनाएँ', 'बिसात बिछी हैं', 'खामोश! नंगे हमाम में हैं', 'प्रत्यंचा' और 'बाराखड़ी' व्यंग्य-संग्रह प्रकाशित हुए हैं और बहुचर्चित रहे हैं। आपने शरद जोशी के 'प्रतिदिन' के प्रथम खंड का अंजनी चौहान के साथ सम्पादन किया है।

डॉ. चतुर्वेदी जी को अनेक सम्मान प्राप्त हुए हैं जिनमें 'राष्ट्रीय शरद जोशी सम्मान' म.प्र. सरकार, दिल्ली अकादमी का व्यंग्य लेखन के लिए दिया जाने वाला प्रतिष्ठित दिल्ली 'अकादमी सम्मान', अन्तर्राष्ट्रीय इन्दु शर्मा कथा-सम्मान (लन्दन) तथा 'चकल्लस पुरस्कार' के अलावा कई विशिष्ट सम्मान शामिल हैं।

चतुर्वेदी जी के हालिया व्यंग्य की धार इतनी तीखी है कि पाठकों को अपनी ओर सिर्फ हास्य के जरिए खींचती ही नहीं, बल्कि हास्य और व्यंग्य में सम्यता का खोल ओढ़ी हुई सामाजिक, प्रशासनिक व्यवस्था की सच्चाई से भी रू-ब-रू करवाती है। मन में दबा गुबार जब शब्दों की कटार चलाता है तो उसकी पैनी धार व्यवस्थाजनित विसंगतियों के सफेदपोश संचालकों और रुग्ण समाज के हृदय में चुभती है। व्यंग्य के जरिए वे समय, समाज और राजनीति ही नहीं बल्कि संपूर्ण सामाजिक परिवेश का शब्दचित्र उकेर देते हैं बल्कि कहूं तो नंगा कर देते हैं और इस तरह से व्यंग्यकार के रूप में अपनी सफल भूमिका का सार्थक निर्वहन करते हैं। उनके पाठक 'नरक-यात्रा', 'बारामासी', और 'हम न मरब' जैसे उपन्यासों के आधार पर कहते हैं कि ज्ञान जी ने औपन्यासिक कृतियों में सिर्फ व्यंग्य का ठाठ ही खड़ा नहीं किया, न ही किसी भी कीमत पर पाठक को हंसाकर अपना बनाने का प्रयास किया, उन्होंने व्यंग्य की नोंक से अपने समाज और परिवेश के असली नाक-नकश उकेरे हैं, जिससे व्यवस्था तिलमिला कर रह जाती है।

डॉ. ज्ञान जी के पेशे और लेखन में जुगलबंदी करते हुए उनके मित्र कहते हैं कि उनके जो रोगी हैं उन्हें किसी इलाज के बिना भी उनकी रचनाओं एवं व्यंग्यों से ठीक किया जा सकता है। सरल, सहज, स्नेही और सीधी-सपाट बात करने वाले ज्ञान जी के लिए कहा जा सकता है

“जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।

नास्ति येषां यशः काये जरामरणजं भयम्।।”

अर्थात् सत्कर्म करने वाले, काव्यशास्त्र में कुशल और कवियों में श्रेष्ठ व्यक्ति ही सही जीवन जीते हैं और विजयी होते हैं, क्योंकि उन्हें अपने यश तथा शरीर की चिंता नहीं होती है और न ही वृद्धावस्था और मृत्यु का भय होता है। इसलिए कहा जा सकता है कि—

“वाण्येका समलंकरोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते,

क्षीयते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम्।।”

बहुमुखी प्रतिभा के धनी डॉ. ज्ञान जी से मिलना, बात करना आनंदित करता है। होली के अवसर पर लिए गए एक आत्मीय वार्तालाप में ज्ञान जी कहते हैं कि पहले व्यंग्यकार को बड़ी पत्रिकाएं तो मात्र होली संस्करणों में ही जगह देती थीं, बाद में मनोहर श्याम जोशी जी, धर्मवीर भारती जी ने नियमित स्तम्भ शुरू किए। एक आम पाठक जो कि स्वतंत्र समाज का अंग नहीं था, उसके लिए होली एक अवसर होता था, व्यंग्य के माध्यम से अपनी उन बातों को कह देने का, जिन्हें वह सामान्यतया पूरे साल भर नहीं कह पाता था। भोले किस्म की चालाकी की ओर इंगित करते हुए उन्होंने कहा कि व्यंग्य का असर तो होता है, किंतु यह नहीं कि वह एकदम विचारों की पटरी बदल देता है और यह राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक चेतना का परिष्करण कर देता है। यह लेखक पर निर्भर करता है कि वह घटना का मात्र वर्णन करता है या उसकी गहराई में उतरता है। तटस्थ भाव का

लेखन तल पर बहती हुई काई जैसा है और उसका कुछ प्रभाव किसी पर नहीं पड़ता। एक बेजान से विचार को आप कितना भी भाषाई सजा दें वह बड़ी रचना नहीं बन सकता। जो गंभीर लेखक हैं वे अपनी रचना में अपना त्राण, मोक्ष तलाश करते हैं, क्योंकि चारों तरफ अलग तरह के लालच हैं और सभी विधाओं में हैं इसलिए सभी लेखकों और व्यंग्यकारों के समक्ष बड़ी चुनौतियाँ हैं।

आपने आजकल लेखन एवं प्रकाशन में बढ़ती हुई जल्दबाजी पर करारा व्यंग्य करते हुए कहा कि आजकल अखबार वाले दो दिन पहले फोन करते हैं कि, सर कल तक एक रचना भेज दीजिए। ऐसे में मुझे धर्मवीर भारती जी याद आते हैं जो मार्च के लिए दिसम्बर में पत्र भेजते थे। अपने बचपन की याद करते हुए उन्होंने कहा कि गाँव की होली बहुत मस्त होती थी जहां हम लकड़ियाँ आदि चोरी करते थे। अपने आने वाले उपन्यास स्वांग की चर्चा करते हुए कहा कि यह गाँव की जिंदगी और तंत्र की असफलता पर आएगा। बाजारवाद ने माँ, नानी आदि पात्रों के मानक बदल दिए हैं। हमें ऐसी ताकतों के विरुद्ध सोचना है कि आज राजनीति, खेल, परिवार, सोच, रुचि, संगीत आदि जीवन की हरेक शै पर बाजार का कब्जा होता जा रहा है। आज किलो में साहित्य रचा जा रहा है और लोग छप रहे हैं। यह दुखद स्थिति है कि इतने किलो साहित्य वहाँ सड़ रहा है, पुरस्कार बांटने के तरीके और चालबाजियों ने साहित्य का बहुत नुकसान किया है। आपने आलोचना के दो बड़े अपराधों की चर्चा की कि आप अच्छे लेखक को जान-बूझकर उपेक्षित करते हैं और गलत आदमी को आगे बढ़ाते हैं। इस अपराध में बहुत बड़े-बड़े लोग शामिल हैं और अपना भरोसा तोड़ लेते हैं। उन्होंने ‘हवा बही और कचरा बह चला’ रचना

पढ़कर सुनाई। व्यंग्य में इंगित करते हुए बात कहने के नुकसान अवश्य होते हैं किंतु जब हम नहीं कहेंगे तो और कौन कहेगा— मंच की चापलूसी से अलग हमें मुंह पर सच बोलना ही होगा। आज हालात यह हो गए हैं कि लोग कहते हैं कि आप सच बोलो, हम तालियां बजाएंगे। हम सच के साथ हैं किंतु हम सच बोलते नहीं हैं। हम लालचों में फंसकर कि वह जूरी में है, कोई यह सोचकर कि हमारा पुरस्कार कट जाएगा, चुप रह जाते हैं। आपने जब 'बारहमासी' आया था तो उस समय के वरिष्ठ आलोचकों के दोनों किस्म के अपराधों की चर्चा की।

एक प्रश्न के उत्तर में आपने कहा कि यदि हम व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखें तो बौद्धिक वर्ग के सुप्रसिद्ध साहित्यकार छोटे-छोटे लालचों में फंस गए हैं और उन्होंने परामर्श दिया कि अगर आप बहुत जल्दी स्टार बनना चाहते हैं तो कृपया साहित्य में न आएं— यह दो मिनट में बनने वाली मैगी नहीं है, धीमी आँच पर लंबे समय तक पकने वाला व्यंजन है। आपने धर्मवीर भारती जी को बहुत सम्मान से याद किया कि उन्होंने शुरु-शुरु में मेरी पाँच रचनाएं छाप दी और फिर चार रचनाएं वापस कर दीं। आदमी अपनी नाकामी में षड्यंत्र खोजने लगता है तो मैंने उनसे प्रतिवाद किया कि शायद आप तक मेरी रचनाएं पहुंच नहीं रही हैं और इसलिए नीचे के उप, सहायक संपादक आदि छाप नहीं रहे हैं जब कि कुछ हल्की रचनाएं छप रही हैं। तब भारती जी ने दो लाइन का पत्र लिखा कि—ज्ञान जी आपकी प्रतियोगिता केवल आपसे है और जब तक आपकी अगली रचना पिछली से अच्छी नहीं होगी, हम नहीं छापेंगे। यह बात मेरी जिंदगी में बहुत महत्वपूर्ण है। भवानी मिश्र जी की प्रगतिशीलता को उन्होंने बहुत आत्मीयता से प्रेरणा के रूप में माना कि तू जो लिखता है उससे बड़ा दिख और

प्रतिदिन जहां सोया है, उसके अगले दिन उससे आगे निकल। लेखक को प्रतिदिन कुछ न कुछ नया रचने के लिए जीना चाहिए, एकला चलो रे और नरेश सक्सेना जी की कविता पुल पार होता है पुल पार करने से, नदी पार नहीं होती, मेरे जीवन का पाथेय है। पुल पर खड़े होकर नदी के व्यंग्य लिख रहे हो, जीवन में उतरते हो नहीं और जीवन की रचनाएं लिखते हो। तुम खुद रोते नहीं हो और करुणा के गीत लिखते हो। हर बार नदी बदलते हुए लिखना चाहिए और शरद जोशी को पढ़ना चाहिए।

अपनी प्रिय रचना के विषय में ज्ञान जी ने कहा कि लेखक अक्सर कहते हैं कि मेरी प्रिय रचना अभी आई नहीं है, फिर भी मेरी प्रिय रचना प्रश्नवाचक कथाएं हैं और उन्हें मैं पढ़ते हुए भावुक हो जाता हूँ और उपन्यास में एक तानाशाह की प्रेमकथा मुझे लगता है कि अच्छी रचना है। आपने अपनी जन्मभूमि के बेलाग भाव को रेखांकित किया कि बुंदेलखण्डी सीधी बात तो कहता ही नहीं है वह तो सामान्यतया त्रियक ही बोलता है और बचपन में वे रेल बसों पर कौतुक में ढेले पत्थर फेंकते रहे हैं। श्री चतुर्वेदी जी ने फिर कहा कि होली को व्यंग्य से जोड़ने का कोई तो गणित रहा है जिस दिन आप कड़वी बात कह लेते हैं। आज कहानी, कविता पर व्यंग्य का बहुत असर हुआ है। ज्ञान जी का मानना है कि रचना विचार केन्द्रित होनी चाहिए, विचारों में गांभीर्य हो। ज्ञान जी की बेबाकी, साहस, साधारण एवं दिलचस्प तरीके से सीधे कहना और अपनी कमियों को भी अपने पात्रों के माध्यम से स्वीकार करना उन्हें आधुनिक काल खंड का एक महत्वपूर्ण लेखक सिद्ध करता है। यह विलक्षण जीवन भाव है।

ज्ञान जी की रचना सुअर के बच्चे और आदमी के दो अंश देखिए।

“झोपड़-पट्टी की उस बेतरतीब बस्ती के पास रंगता एक नाला है। सुअर के तीन बच्चे प्रायः उस नाले में किलोल करते पाए जाते हैं। एक किंचित बड़ा बच्चा है, शेष पिद्दीनुमा। वयस्क तथा बूढ़े सुअर भी उसी नाले में लोटते हैं अथवा किनारे की घास पर पड़े हुए अपने सुअर होने की नियति पर परिचर्चा आयोजित करते हैं। कीचड़ में लथपथ तीनों बच्चे, जब सुअर सा मुंह उठाए नाले में एक-दूसरे को ठेलते, गुरगुराते इस छोर से उस छोर तक छप-छप करते भागते हैं तब किनारे बैठे बूढ़े सुअर वात्सल्य रस में नहा जाते हैं (सुअर भी नहाते हैं)। ये बूढ़े सुअर प्रायः दार्शनिक मुद्रा में बैठकर यह सोचा करते हैं कि इन नादान बच्चों को कोई यह बताए कि सुअर के बच्चों तथा उल्लू के पट्टों, किस बात पर इतना किलोल कर रहे हो? नाले में ही कट जानी है तुम्हारी यह नश्वर जिंदगी। इन झोपड़-पट्टी के आदमियों जैसी हो गई है तुम्हारी जिंदगी—बूढ़े सुअर बस्ती की तरफ थूथन घुमाकर सोचते हैं। ‘नादान तथा बेवकूफ नई पीढ़ी.. : वे सोचते हैं और थूथन पर एक भद्दी मुस्कान लिए नाले के किनारे—किनारे टहलने निकल जाते हैं।’ कितना विलक्षण दार्शनिक भाव से करारा व्यंग्य है सूअर को प्रतीक बनाकर आधुनिक समाज की विद्रूपताओं पर, कि न हँस कर उड़ाया जा सकता है न स्वीकार किया जा सकता है—कसमसाहट से भर देता है मानवीय सभ्यता और उसके अस्तित्व को।

एक और इस अंश में तो आदमी के ऊपर हँसते-हँसते ऐसा करारा तमाचा है कि बस तिलमिला कर खोखली हँसी हँसने को मजबूर हो जाता है आदमी खुद अपने अंदर की इस पाशविकता को देखकर, पर विवश है उसके

आगे, बदलने की चाह भी नहीं हैं और तंत्र, आदर्शवादिता, धर्म सबकी ध्वजाएं अपने स्तम्भों पर लाज से नीचे की ओर झुक कर फरफराती हैं।” तभी उनको आदमियों की भागती भीड़ में आदमी के वे तीन बच्चे भी दिखाई दिए, जिन्होंने इन्हें घूरे से बेघूरा कर दिया था। टूटे डिब्बे, टिन आदि सर पर लादे भयभीत और बीमार—से इन बच्चों को देखकर वे सुअर के बच्चे सहम गए। उन्हें उन पर दया आई। तभी सबसे छोटा सुअर का बच्चा बोल उठा, “अब अच्छा रहेगा, ये बच्चे नहीं रहेंगे तो अपुन कचरे के डिब्बे पर फिर आराम से खा सकेंगे...” किशोर सुअर के बच्चे ने घूरकर उसे देखा और डांटा, “शर्म नहीं आती तेरे को? इन बेचारों पर मुसीबत पड़ी है और तुझे अपनी सूझ रही है। आदमी को शर्म और दया न आए, पर हम तो सुअर हैं...” “सुअरों की भीड़ स्तब्ध खड़ी रही और झोपड़-बस्ती की जगह बंजर रह गई। आज भी कचरे के वे डिब्बे वहीं हैं। कचरा, जूठन पड़ा रहता पर सुअर के वे तीन बच्चे उस तरफ फटकते भी नहीं। आदमी के उन तीन बच्चों के साथ आदमी ने जो क्रूर व्यवहार किया, उसके विरोध में वे इतना ही कर सकते हैं। उन्हें दुःख है कि वे सुअर हुए, यदि आदमी होते तो वे इस अन्याय से लड़ते।

परंतु, आदमी होते तो क्या वे सचमुच लड़ते?”

ज्ञान जी की अनेक रचनाओं से गुजरते हुए बस यही विचार आता है कि व्यंग्य विधा का सौभाग्य है कि शरद जोशी, हरिशंकर परसाई, नरेंद्र कोहली आदि की परंपरा को वे समृद्ध कर रहे हैं और आदमी की चेतना को चेताने का व्यंग्यकार का धर्म निभाते हुए समाज की विसंगतियों के ऊपर “हँसते-हँसाते करारी मार के उस्ताद” हो गए हैं।

संपर्क: वरिष्ठ हिंदी अधिकारी, भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान खड़गपुर

खड़गपुर 721302, 9564156315, dr.rajeev.rawat@gmail.com

प्रेम जनमेजय के व्यंग्य नाटक 'सोते रहो' में अभिव्यंजित सामाजिक यथार्थ का स्वरूप साधना झा

हिन्दी व्यंग्य के क्षेत्र में नाटक-लेखन की ओर व्यंग्यकारों का रुझान कम रहा है। इस परिप्रेक्ष्य में सुभाष चन्दर का मानना है कि व्यंग्य कथाओं के नाट्य रूपान्तरण की प्रवृत्ति ने व्यंग्यकारों को हतोत्साहित किया है। परंतु प्रेम जनमेजय का विचार थोड़ा भिन्न है। उन्होंने अपनी आलोचनात्मक पुस्तक 'आजादी के बाद का हिन्दी गद्य-व्यंग्य' में लिखा है कि—

“दृश्य-वस्तु होने के कारण नाटक लेखक और पाठक की दूरी को कम करता है तथा साहित्य की सम्प्रेषणीय शक्ति में वृद्धि करता है। नाटक में दर्शक से सीधे संबोधित होने तथा दृश्य-विधान के कारण संपूर्ण परिवेश के साथ संप्रेषित होने की क्षमता होता है। व्यंग्य अपनी विशिष्टताओं के कारण पाठक से सीधे संबोधित होता है। अपने आक्रामक चरित्र के कारण वह लक्ष्य पर सीधा आक्रमण करता है। व्यंग्य का मुख्य लक्ष्य विसंगतियों का चित्रण एवं उन पर आलोचनात्मक प्रहार है।”

प्रेम जनमेजय का रुझान व्यंग्य नाटक लेखन की ओर अधिक नहीं रहा है। अब तक उनके दो व्यंग्य नाटक ही उपलब्ध हुए हैं। 'सोते रहो' और 'सीता अपहरण केस'। जिनमें 'सोते रहो' नाटक मुख्यतः सामाजिक विसंगतियों पर आधारित है, जबकि 'सीता अपहरण केस' प्रमुखतः राजनीतिक और प्रशासनिक विसंगतियों पर केन्द्रित है।

'सोते रहो' नाटक में शहरी जीवन में बढ़ती कायरता, संवेदनहीनता और भोथेरे होते जीवन मूल्यों पर तीखा प्रहार किया गया है। यह नाटक कॉलोनी संस्कृति में अकेले होते व्यक्ति के जीवन के कटु सत्य का भी आकलन करता है।

इस नाटक में उत्तर, पूर्व तथा दक्षिण भारत के परिवार को एक ही मोहल्ला में रहते हुए दिखाया गया है। इन परिवारों के चित्रण से भारत की अनेकता में एकता का दृश्य तो यहां उभरता ही है, साथ ही यह भी स्पष्ट होता है कि नाटक की स्थितियों का संबंध भारत के किसी एक क्षेत्र से नहीं बल्कि पूरे भारत से है। इन तीनों परिवारों के चरित्र अपनी क्षेत्रगत, जातिगत तथा भाषागत विशिष्टता को लिए हुए हैं। इसके साथ ही बदलते परिवेश, समाज की विसंगतियों तथा मूल्यों के अभावों का उनके चरित्रों पर स्पष्ट प्रभाव दिखता है। इस नाटक के तीन पात्र (सरदार मनजीत सिंह, बैनर्जी और महादेवन) गांधी के तीन बंदर के प्रतिनिधि हैं जिनकी इच्छा रहती है कि— “देश सुख-चैन की नींद सोता रहे और ये अपना सोना बटोरते रहें”। यहां 'सोना' का 'श्लेष' व्यंग्य को उभारता है। श्लेष का प्रयोग व्यंग्यकार एक हथियार के रूप में करते हैं। इसका सफल प्रयोग व्यंग्य को धारदार बनाता है।

नाटक का पहला दृश्य उद्घोषणा तथा मंगलाचरण के साथ समाप्त हो जाता है। उद्घोषणा तथा मंगलाचरण के माध्यम से नाटककार आज की सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक स्थितियों को उजागर कर देता है। जब वह बार-बार 'सोते रहो' कहता है

तो उसका मंतव्य स्थितियों का निवारण कर लोगों को जगाना है। लेखक ने 'सोने और जागने' की क्रिया के द्वारा तीखा व्यंग्य किया है—

जगने पे तो उजाला दिखेगा
उजाले में सब साफ दिखेगा।
साफ दिखेगा तो दिल दुखेगा।
...मुंदी आंख से अंधेरा दिखेगा
अंधेरे में न कुछ साफ दिखेगा।
न दिखेगा तो माल बनेगा।

मंगलाचरण का यह 'जागरण गीत' पूरे नाटक के सार को अभिव्यक्त कर देता है। व्यंग्य की पैनीधार वाला यह नाटक विसंगतियों को बखूबी उजागर करता है। नाटक का प्रारम्भ दूसरे दृश्य तथा उत्तर भारत के परिवार से होता है। परिवार में मनजीत, सतवंत तथा उनका बेटा बंटी है। बंटी नई पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करता है। पीढ़ियों के बीच के अंतराल को लेखक बंटी के माध्यम से उभारते हैं। माता-पिता के प्रति सम्मान का अभाव, अंग्रेजी तथा पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव, मातृभाषा की उपेक्षा, लेट नाईट पार्टी, म्यूजिक, फेन, डांस आदि सभी को लेखक ने कुछ ही क्षणों में समेट लिया है। इस नाटक में 'बंटी' के माध्यम से उस युवा पीढ़ी का चित्रण हुआ है जो— "चेहरे से ही महान भारत का आधुनिक नौजवान लगता है। शरीर और दिल माइकल जैक्सन की जूठन जैसा। मां-बाप उसके लिए वस्तु हैं"।

युवाओं के समक्ष अपनी मातृभाषा तथा राष्ट्रभाषा को छोड़ कर अंग्रेजी की पैरवी सांस्कृतिक विघटन का सूचक है। व्यंग्यकार प्रेम जनमेजय इस विघटन की जिम्मेदारी पिछली पीढ़ी अर्थात् अभिभावक को देते हैं। पिता मनजीत को संबोधित करते हुए उसका बेटा बंटी, 'ओए डेडी!' कहता है। उसके इस संबोधन से पिता नाराज नहीं होते हैं। मनजीत स्वयं अधिक पढ़ा-लिखा नहीं

है, इसलिए उसको बंटी का अंग्रेजी बोलना अच्छा लगता है। वह ठेकेदार है अतः उसकी भाषा में अशिष्टता स्वाभाविक है। जीवन में उन्नति तथा पैसा कमाने के लिए मनजीत पढ़ाई को आवश्यक नहीं समझता। उसकी दृष्टि भौतिकवादी है, "मुझे देख दसवीं भी पास नहीं हूं... पर ठेकेदारी में इतना बना लिया है कि कोई सरकारी अफसर नहीं बना सकता"। उसका तर्क है, "पढ़ाई बेकार नहीं, बेकार में पढ़ाई करना बेकार है... पढ़ने में मन न लगता हो तो उसमें बच्चे को ठूसना बेकार है"। आज की शिक्षा प्रणाली की स्थिति यह है कि पढ़-लिखकर लोग बेरोजगार ही बनते हैं। प्रेम जनमेजय पढ़े लिखे लोगों की समाज में बदहाल स्थिति पर व्यंग्य सब-इंस्पेक्टर के माध्यम से करते हैं, "आजकल पढ़े लिखों की हालत न देख रहा है तू ... मंदी के इस दौर में पढ़े-लिखे इतनी तेजी से बेरोजगार हो रहे हैं जितनी तेजी से क्राइम का ग्राफ बढ़ रहा है। क्राइम का ग्राफ बढ़ता है, तो थाने बढ़ते हैं। तेरे यहां मंदी है और अपने यहां तेजी। आजकल पढ़ा लिखा होना मतलब बेरोजगारी। ज्यादा पढ़ना-लिखना आदमी को कोल्हू का बंधवा बैल बना देता है"।

समाज में निरंतर मूल्यहीनता की स्थिति बढ़ती ही जा रही है। लोग भौतिक उपलब्धि प्राप्त करने के लिए नीचे-से-नीचे गिरने में गर्व महसूस करते हैं। बड़े-बड़े होटलों में आए दिन होने वाली पार्टियां इसका उदाहरण हैं। मनजीत को तो पार्टी देने का बहाना चाहिए क्योंकि वह जानता है कि पार्टी पर जितना खर्च होगा उससे कई गुना ज्यादा का उसे काम मिल जाएगा। इसी कारण वह नई कार खरीदने पर भी पार्टी रखता है, जिससे बैनर्जी से पुल के ठेके की फाइल क्लियर करवा सके। मनजीत पार्टियों

को उन्नति की सीढ़ी समझता है, इसीलिए पार्टी में जाने के लिए वह बंटी को खुले मन से पैसे देता है। उसका मानना है कि—“ये पार्टियां तो आजकल बहुत जरूरी हो गई हैं। पार्टी को तू यह समझ के जैसे एयरपोर्ट पर रनवे... अगर अपना हवाई जहाज ऊपर उड़ाना है तो पार्टियां करनी जरूरी हैं... पार्टियों में जाना जरूरी है... बड़े-बड़े सौदे, जाम टकराकर हो जाते हैं”। उसके इस कथन में सच्चाई है।

प्रेम जनमेजय ने इस नाटक के माध्यम से आधुनिक समाज के विघटित जीवन मूल्य को अभिव्यंजित किया है। आज भारतीय समाज बदल गया है। सामाजिक मान्यताएं बदल गई हैं। नैतिकता-अनैतिकता के मायने बदल गए हैं। पश्चिमी सभ्यता ने भारतीय समाज को अपने रंग में रंग लिया है। प्रेम जनमेजय का व्यंग्यकार इस बदलाव को स्वीकार नहीं कर पा रहा है। वे इन प्रसंगों के वर्णन के माध्यम से इस विसंगति पर कटाक्ष करते हैं। महादेवन भी मनजीत की तरह उन्नति पाने के लिए हर साधन अपनाने को तैयार रहता है। उसका बॉस विदेश में रहकर आया है, इसलिए स्त्रियों को चूम लेने में उसे कोई बुराई नजर नहीं आती। महादेवन की पत्नी कल्याणी को उसके बॉस का यह व्यवहार पसंद नहीं है। महादेवन का मानना है कि—“हमारा तो प्रमोशन किया न... बॉस बहुत अच्छा, अगले दिन हमको केबिन में बुलाया। बोला बड़ी अच्छी जगह प्रमोशन देता... बहुत कमाई वाला जगह... तुमसे बहुत खुश ... बोला उस दिन तुम्हारी पत्नी ने क्या चिकन बनाया!”

प्रेम जनमेजय ने कवि कोंचू और भौंक जी के माध्यम से साहित्यिक जगत में व्याप्त भ्रष्टाचार एवं पुरस्कारों के लेन-देन की राजनीति के यथार्थ को उभारने का प्रयास किया है। भौंक

जी का परिचय कराते हुए कवि कोंचू कहते हैं—“इनकी कृपा हो जाए तो एक-एक रात में दो-तीन कवि सम्मेलन हो जाएं! बीस टका कमीशन लेते हैं! बस! दो-तीन पुरस्कार समिति के अध्यक्ष भी हैं... अगला पचास हजार का पुरस्कार देना इनके हाथ में ही है... मैंने सोचा, आपके यहां की पार्टी तो अच्छे-अच्छों को मस्त कर लुढ़का देती है! ये मस्त हो गए और लुढ़क गए तो हमारी भी बल्ले-बल्ले हो जाएगी”।

कवि कोंचू महीना में पंद्रह से तीस कवि सम्मेलन के आयोजन और प्रत्येक सम्मेलन से दस हजार की कमाई की बात करता है। इस कमाई पर मनजीत के माध्यम से व्यंग्यकार ने कटाक्ष करते हुए ‘वेश्याओं की कमाई’ कहा, तो इसकी बात करते हुए वह संपूर्ण व्यवस्था को इसमें लपेट लेता है— “कोई खुले आम मंच पर वेश्यावृत्ति करता है और कोई खादी के कपड़े पहनकर मंच के पीछे। जिस तरह की वेश्यावृत्ति सरकारी दफ्तरों, कोर्ट-कचहरियों और धर्म की दुकानों पर होती है, उसे देखकर तो अच्छी-से-अच्छी वेश्या शरमा जाती है”।

निराला ने ‘भिक्षुक’ कविता में जूठे भोजन के लिए भिखारी के बच्चों का संघर्ष कुत्ते के साथ दिखाकर सामाजिक असमानता पर व्यंग्य किया, तो प्रेम जनमेजय चौकीदार के वक्तव्य के माध्यम से इस सामाजिक विसंगति पर व्यंग्य करते हैं—“जूठन खाने के मामले में आदमी और जानवर में कोई फर्क नहीं होता, साहब! खाना तो वही होता, जो साहब लोगों की टेबल पर सजता। बस फर्क इतना होता, साहब की टेबल पर सिर्फ आदमी लोग खाता, पर जूठन जैसे ही फेंका जाता उसे कुत्ता, कौवा, बिल्ली, सूअर और हमारे जैसा इंसान—कोई भी खा सकता। जूठन तो फ्री मिलता न, उसका कोई कीमत नहीं होता,

जूठन खाने वाले का भी कोई कीमत नहीं होता”।

पूरे नाटक में प्रारम्भ से लेकर अंत तक रोचकता बनी रहती है, जिसका श्रेय नाटक के चुस्त और चुटीले संवाद योजना को जाता है। दैनिक घटनाओं एवं पारिवारिक संबंधों के क्रियाकलापों पर आधारित व्यंग्यात्मक संवाद की योजना की गई है। सरदार मनजीत सिंह द्वारा अपनी पत्नी को कर्कश आवाज में कहे गए ‘डार्लिंग’ शब्द पर व्यंग्यकार की टिप्पणी द्रष्टव्य है—“डार्लिंग शब्द है ही खतरनाक, जवानी में दिल तोड़ता है और प्रौढ़ होने पर गिलास”।

‘सोते रहो’ नाटक प्रतीकात्मक है। जनता से सोते रहने के लिए कहा जा रहा है, ताकि प्रशासन में भ्रष्टाचार पनपता रहे। जनता के जागने से अन्याय और अंधकार का साम्राज्य समाप्त हो जाएगा। उनकी अंतरात्मा के जागने से सामाजिक-सांस्कृतिक व्यभिचार और विकृतियां खत्म हो जाएंगी। अतः प्रेम जनमेजय इस नाटक में चुभते हुए व्यंग्य का प्रयोग कर पाठकों की चेतना को जगाने का प्रयास करते हैं। उनके साहित्य में सामाजिक यथार्थ का प्रतिबिंब नहीं, वरन् अदृश्य यथार्थ का विकृत रूप देखने को मिलता है। उन्होंने अपनी रचनाओं में सामाजिक वास्तविकताओं की अभिव्यक्ति के लिए जिन अनुकूल तथा प्रतिकूल वातावरण का निर्माण किया है तथा पाठकों को प्रभावित और प्रेरित करने के लिए जिन विधियों तथा प्रविधियों का प्रयोग किया, उसमें उनका नैतिक मूल्य-बोध सतत् सक्रिय रहा है। जीवन के असत्य, अशिव तथा असुन्दर पक्ष का चित्रण करते समय, प्रेम जनमेजय का लक्ष्य अपने पाठकों के मन में सत्य, शिव और सुन्दर के प्रति आस्था तथा

विश्वास को जागृत करना रहा है।

व्यंग्य को हथियार मानते हुए उसे सावधानीपूर्वक प्रयोग करना प्रेम जनमेजय का अभिष्ट रहा है ताकि उसे भौतिक और सामाजिक यथार्थ की गहराई से जोड़कर पाठकों को सही सामाजिक परिवर्तन की ओर अग्रसर कर सके। उनका संपूर्ण साहित्य वर्तमान की वास्तविकताओं के चित्रण द्वारा उसके प्रति वितृष्णा एवं घृणा पैदाकर स्वर्णिम भविष्य की संभावनाओं से परिपूर्ण करता है। वे अपने व्यंग्य का ताना-बाना आस पड़ोस के पात्रों से बुनते हैं। उन्होंने अपने व्यंग्य साहित्य में स्थानीय समस्या को व्यापक सामाजिक सरोकारों से जोड़कर देश और दुनिया को जाना और समझा है। यह सच है कि जो चीजें हमारे आस-पास घटित होती हैं, वे समाज और राष्ट्र का परिदृश्य होती हैं। इसलिए व्यंग्यकार अपने आस-पास से होते हुए समाज और देश तक जाना चाहता है। प्रेम जनमेजय का साहित्य ताजगी से भरा हुआ आस-पास के जीवन को बेहतर बनाने की इस लेखकीय अभिलाषा से युक्त है। उन्होंने अपने साहित्य के माध्यम से परिवेशजन्य भयावह स्थितियों और उसके पीछे चल रही शोषण की गूढ़ साजिशों की परतों को खोलने का प्रयास किया है। अपने परिवेश के प्रति उनकी लेखकीय अनुभूति और उसकी सृजनशील प्रस्तुति अभिन्न है। उन्होंने सामाजिक यथार्थ को उसकी तमाम विसंगतियों के साथ व्यंग्य के स्तर पर उद्घाटित किया है। उनके व्यंग्य साहित्य की विशेषता यह है कि यहां वर्णन और विवरण सीधे, सपाट और रूखे नहीं हैं, वरन् उपहास और कटाक्ष से युक्त, अनुशासित रूप में उपस्थित हैं।

संपर्क: प्रिंसिपल, कमलादेवी सोहनराज सिंघवी जैन कालेज ऑफ एडुकेशन,

क्षितिज, 130. आर. बी. सी. रोड, दमदम, गोरा बाजार, कोलकाता-700028, मो. 9433424904

राजनीतिक व्यंग्य के माहिर खिलाड़ी हरिशंकर परसाई

डॉ.रेशमी पांडा मुखर्जी

रचना—शिल्पी का दायरा केवल साहित्य जगत है, राजनीति से उसे परहेज रखना चाहिए, राजनीतिक दलों के क्रिया—कलापों पर विमर्श क्या लेखक के अधिकार—क्षेत्र में आता है? ऐसे प्रश्न अक्सर बुद्धिजीवियों की चाय की चुस्कियों को मजेदार बनाते हैं। पर हिंदी व्यंग्य जगत में हरिशंकर परसाई एक ऐसे तेजस्वी व प्रखर कलमकार हुए हैं जिन्होंने सीना तानकर यह घोषित किया कि जो नीति देश के वर्तमान को संचालित करती है, जिस नीति पर राष्ट्र का भविष्य निर्भर करता है, उस राजनीति पर लिखने का, सोच—विचार करने का, चर्चा व विमर्श करने का पूरा अधिकार लेखक को है। मात्र अधिकार ही नहीं परसाई के अनुसार साहित्यकार का यह कर्तव्य है कि वह राजनीतिक विसंगतियों पर पैनी नज़र रखे, साफगोई से उनकी उद्दण्डताओं का पर्दाफाश करे। राजनीति पर लिखने से दामन बचाने वाले साहित्यकार आपके अनुसार कायर और सुविधाभोगी हैं। परसाई ने निर्भीकतापूर्वक आजीवन राजनीतिक मंच पर खेलने वाले खिलंदड़ों पर कॉलम लिखे, देश के प्रधानमंत्री से लेकर विपक्ष के ताबड़तोड़ नेता की दोगली मानसिकता का भंडाफोड़ किया, राजनीतिक गुंडों से टांग तुड़वाई, धमकी भरे खतों को नज़रंदाज़ किया पर अपनी प्रतिबद्धता से समझौता नहीं किया। मुझे गर्व है कि मैंने ऐसे व्यंग्य—शिल्पी के साहित्य पर पीएच.डी. के लिए शोध किया जिसका मेरुदण्ड कभी झुका नहीं।

परसाई के लेखन से ज्वलंत राजनैतिक समस्याओं का लावा फूटता था जिसके दहन के विषय में खगेन्द्र ठाकुर ने लिखा है—‘हरिशंकर परसाई जैसे लेखक जनता के बीच से आते हैं, जनता के बीच रहते हैं, जनता की समस्याएं उनकी समस्याएं हैं, जनता के प्रश्न उनके प्रश्न हैं इसलिए आम जनता की तरह वे भी मानव—जीवन को बेहतर बनाने की कोशिश में सामाजिक प्रक्रिया से जुड़ते हुए राजनीति से जुड़ते हैं। अतः परसाई जी के लेखन की राजनीति मानवीय संवेदना को सामाजिक आधार देने की राजनीति है, मानव—मूल्य को प्रतिष्ठित करने वाली राजनीति है।’ परसाई के राजनीतिक दृष्टिकोण को पंडित भवानी प्रसाद तिवारी के अद्भुत व्यक्तित्व, राजनीतिक सतर्कता, लेखन की स्वाधीनता व विश्वसनीयता ने प्रभावित किया। उनके लेखन में राजनैतिक प्रसंगों के प्रति तीव्र रुचि के बीजारोपण का श्रेय श्री महेन्द्र वाजपेयी और मुक्तिबोध को भी जाता है। सरकारी नौकरी छोड़ने के बाद उन्होंने भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के कर्मठ कार्यकर्ता श्री महेन्द्र वाजपेयी की संगत में आकर मार्क्सवादी साहित्य का अनुशीलन किया तथा अपनी क्रांतिकारी विचारधारा के लिए वाजपेयी जी के ऋणी रहे। परसाई की रचनाओं में पाठक को मुक्तिबोध की सजगता व प्रचण्ड आघात करने की क्षमता का आस्वादन भी मिलता है।

आज़ादी के बाद से राजनीतिक उत्तरदायित्व से आँख चुराने वाले नेतागण अपने खोखले मनभावन नारों के द्वारा युवा मस्तिष्क को भ्रमित करने की मुहीम चलाते रहे जिसकी टोह लेते हुए चुनाव जीतने के लिए इस ‘पब्लिसिटी स्टण्ट’ को परसाई यों उधेड़ते हैं—‘इस देश का राजनेता जनता को बदचलन औरत समझकर उसे तरह—तरह से फुसलाता है — अपनी नेताई छवि से, वादों से, नारों से, उछल—कूद से, लोभ से, छाती—पीट से, अश्रुपात से, हिंदूवाद से, गांधीवाद से,

समाजवाद से, गाने गाता है, सीटी बजाता है, हाव-भाव करता है। मगर कभी जनता पलटकर इस नेता को चप्पल जड़कर कहती है— हरामज़ादे, मैं क्या तुझे जानती नहीं हूँ, तू शोहदा है।² आज भी इतना निडर लेखन दुर्लभ है पर गज़ब की प्रासंगिकता है इस लेखन में। 2021 में पांच राज्यों में होने वाले विधानसभा चुनावों के लिए जो राजनीतिक तिकड़मबाजी की गई थी, उसका सटीक वर्णन परसाई ने आज से चालीस-पचास साल पहले ही कर दिया था। राजनेताओं के चरित्र में कोई अंतर नहीं आया और जैसा परसाई ने उनका चरित्रांकन किया था, वह आज भी शत-प्रतिशत खरा उतरता है।

परसाई ने बेलौस होकर नेताओं के दोगलेपन को बेपर्दा किया। बार-बार हमें करना है का मंत्र फूंकने वाले ये राजनीतिक बड़ी चतुराई से 'हम' में से 'मैं' को निकाल लेते हैं और सारा दायित्व जनता के कंधे पर डाल देते हैं। नेताओं के दोमुंहेपन का भंडाफोड़ किया और इस व्यंग्यकार ने किसी खेमे या संघ का आश्रय न लेकर भी वे अपनी साफबयानी के कारण जनता के सच्चे पथ-प्रदर्शक बन सके। कबीर की तरह 'आंखन देखी' को कागज़ पर उतारने का माददा रखते, अपनी सजगता के मार्फत बटोरे गए अनुभवों को व्यंग्य-वाणी में व्यक्त करते, प्रत्येक राजनीतिक कुंठा व आडंबर के भीतर झांककर-परखकर उसकी धज्जियां उड़ाते, राजनीति की कोख में पल रहे मिथ्या तत्व पर आघात करते हुए उनके व्यंग्य सुकरात व चेखव की तीक्ष्णता की याद दिला देते हैं।

'बिना स्याही के पेन की तरह बहुत शोभा देखता हूँ। वन-महोत्सव में समारोहपूर्वक, फोटो में खिंचकर, हार पहिनकर मंत्री एक पौधा लगाता है और महीने भर में पौधा सूख जाने दिया जाता है। नेता श्रमदान करने के वक्त, सड़क पर गेंती हाथों में थामे खड़ा रहता है। जब कैमरा 'क्लिक'

करता है, तब गेंती ज़मीन पर पटककर, रुमाल से हाथ पोंछ मोटर में बैठकर चल देता है।'³

परसाई ने राजनैतिक विद्रूपताओं को खरोंचने, सामाजिक विसंगतियों को जन्म देने वाले नेताओं के पैतरों से दो-दो हाथ करने के लिए राजनीति का तलस्पर्शी अन्वेषण किया। झूठ, धोखा, मसखरापन, धूर्तता नेताओं की रगों में लहू के समान दौड़ रही है जिसने परसाई जैसे समाजधर्मी रचनाकार को कटुतम शब्दों में अपनी प्रतिक्रियाएं व्यक्त करने के लिए बाध्य किया। अपने विवेकसम्मत राजनीतिक दृष्टिकोण व राजनीतिक विषमताओं की गहन समझ के बल पर आपने राजनेताओं की चारित्रिक दुर्बलताओं पर कशाघात किया है। अपनी रचनाएं जैसे ठिठुरता हुआ गणतंत्र, वैशाखनंदन नेता हो गए, भेड़ और भेड़िये, प्रजावादी समाजवादी, अरस्तू के पत्र आदि में आपने नेताओं की तुष्टीकरण की नीति, दलबदलूपन, पद-लोलुपता व छल-छद्म का भंडाफोड़ किया है।

धर्मनिरपेक्षता व सर्वधर्म समभाव के भावों को ताक पर रखकर अपने वोट बैंक को संबद्ध करने की होड़ में राजनेता जातिवाद का कार्ड खेलते हैं, सांप्रदायिकता की आग में अपनी राजनीतिक मंशाओं की रोटी सेंकते हैं। भला परसाई के व्यंग्य-बाण से ये धोखेबाजी कैसे बच सकती है, तभी तो आप लिखते हैं—'कृष्ण ने कहा, "मैं ईश्वर हूँ। मेरी कोई जाति नहीं है।"

उन्होंने कहा, "देखिए न, इधर भगवान होने से तो काम नहीं न चलेगा। आपको कोई वोट नहीं देगा। जात नहीं रखिएगा, तो कैसे जीतिएगा?"⁴

जनहित से कोसों दूर केवल कुर्सी की लड़ाई में अपने मौलिक सिद्धांतों को ताक पर धरने वाले दलबदलू नेताओं पर परसाई ने एकाधिक बार कठोर व्यंग्य प्रहार किया है। सरकार में बने रहने के लिए नैतिक पतन की चरम बिंदु तक

पहुँचने वाले नेताओं पर वे 'मुखड़ा क्या देखूँ फोटू में' में यों प्रहार करते हैं—'वह सरकार बनाने वाले गुटों के नेता से कह देता है—सरकार, कांग्रेस पार्टी एक मकान है। इसके मालिक बदलते रहते हैं। पर मैं तो इस मकान में झाड़ू लगाता था। आप नए मालिक हैं, तो आपके मकान में झाड़ू लगाऊंगा। निरंतर कांग्रेस पार्टी का मकान में झाड़ू लगाकर मंत्री बने रहने की सफलता से शायद वह हंस रहा है।'⁵ 'राष्ट्र का नया बोध', 'अभाव की दाद' जैसे लेखों में परसाई ने भ्रष्टाचारी नेताओं की पोल खोली है। भ्रष्टाचार उन्मूलन के नाम पर छोटे-छोटे ठेकेदारों, मामूली व्यापारियों को धरकर अपनी काबिलीयत के पोस्टर छपवाने वाली दोगली सरकार की आपने अपने निबंधों में बखिया उधेड़ी है। दूसरी तरफ नगरपालिका के सदस्यों की मुट्ठी गरम करने वाले कालाबाजारियों व जमाखोरों को अपनी छत्रछाया में पालने वाली सरकार को भी आपने नहीं बख्शा है। परसाई कहते हैं कि जनता मात्र एक कठपुतली है जिसकी डोर बहुरूपी नेताओं की उंगली से बंधी है, जनता वह फुटबाल है जिसे लात मारकर राजनीतिज्ञ आनंद का खेल रचाते हैं। 'आदम की पार्टी का घोषणापत्र' नामक व्यंग्यात्मक लेख में उन्होंने मंत्री पद के लिए समाज-हित और जन-कल्याण की बलि चढ़ाने वाले नेताओं की भरसक निंदा की है। बड़े-बड़े मंच, असंख्य नीतियों व समितियों के कोहरे में जनता को भटकने के लिए छोड़ दिया जाता है। टटोलते रहे परसाई नेताओं की काली करतूतों को और अपने निबंधों में नेताओं के साये में पलने वाली शराब-भट्टियों, जुआखानों, गांजा-महुआ का धंधा करने वाली टोलियों को उघाड़ा है। मध्ययुग के राजा-महाराजाओं की तरह ठाठ से रहने वाले वर्तमान राजनेताओं को भी उन्होंने नहीं बख्शा है। तेज़ धूप में खटनेवाले मजदूरों,

मूसलाधार वर्षा में अनाज बोने वाले कृषकों, भाप-धुएं के कारखानों में अपना खून जलाने वाले श्रमिकों द्वारा चुनकर संसद में आने वाले प्रतिनिधि वातानुकूलित गाड़ियों में घूमने वालों और हवाई यात्राओं के मजे लूटने वालों की जमात तैयार करते हैं। क्या ये जनता के कष्टों को दूर करने के लिए कोई कारगर कदम उठाते हैं। जनता की, जनता के लिए और जनता के द्वारा चुनी हुई लोकतांत्रिक सरकार के दावे खोखले साबित होते हैं। परसाई के मान्यतानुसार गद्देदार कुर्सियों पर बैठने वाले इन नेताओं की ऐश्वर्य-लिप्सा की तृप्ति के लिए आम भारतीय नागरिक असीमित कष्ट झेलता है जिसका जिक्र आपने 'विधायकों की महंगी गरीबी' लेख में किया है।

कमिटी, कमीशन, जांच समिति वास्तव में कब्र की मिट्टी है जिसे किसी ज्वलंत समस्या पर डालकर सरकार देश में छद्म शांति का वातावरण तैयार करती है। परसाई के अनुसार कमिटी वह दीवार है जिसके पीछे कायर की तरह छिपकर सरकार जनता के आरोप को निरस्त्र करती है। 'बेचारा भ्रष्टाचार', 'जांच कमीशन', 'सरकार का कुत्ता' जैसे लेखों में उन्होंने सरकार की इसी कायरता, शिथिलता और गैर जिम्मेदारी को व्यंग्य के माध्यम से परखा है। '...धीरे-धीरे वह जानता है कि कमेटी कितनी काम की चीज़ है। वह एक ढाल है जो मंत्री को बचाती है। साधो, जिस चीज़ के बारे में मंत्री निश्चित नहीं है और उसे करना नहीं चाहता उसे कमेटी को सौंप देता है। वह कहता है कि हम यह नहीं कहते कि हमें अमुक काम करना नहीं है। करना तो है पर अभी मामला कमेटी के विचाराधीन है। रिपोर्ट आने पर ही कुछ हो सकता है।'⁶

भारत-चीन युद्ध पर सरकार की गैर-जिम्मेदारी तथा अर्थतंत्र पर युद्ध के भीषण प्रकोप

को आपने 'रानी नागफनी की कहानी' नामक उपन्यास में उकेरा है। रंगीन मुखौटाधारी नेताओं के नकलीपन को आपने 'सज्जन, दुर्जन और कांग्रेसजन', 'एक बेकार घाव', 'गुड़ की चाय', 'अकाल उत्सव', लोहियावादी, समाजवादी, नया खून, पुराना खून, कौन कहां हैं? आदि निबंधों में जुझारू अंदाज़ में पैनी भाषा में व्यक्त किया है। कबीर की प्रखरता व सत्यान्वेषी दृष्टि को अपनाते हुए आप लिखते हैं—

'मैं हैरत में हूँ कि दूसरों का कितना ध्यान आदमी रखने लगा है। अच्छी चीज़ें दूसरों के लिए छोड़ रखी हैं, बुरी खुद ले ली है।

हमारे लिए आपने क्या रखा है भैया साब?

त्याग, बलिदान, निःस्वार्थ!

और अपने लिए?

क्षुद्र स्वार्थ, नीच लोभ!

हमारे लिए आपने क्या छोड़ रखा है राष्ट्ररत्न जी?

—सेवा, पद के लिए निर्मोह!

—और खुद क्या ले लिया है?

—घृणित पदलोलुपता!⁷

रचनावली-5 में संकलित मसानी की नेक सलाह, चरणसिंह की बाल-लीला, राजनारायण को फिर दौरा पड़ा, अन्तुले का प्रतिभा प्रतिष्ठान, महान दर्शन भजनलालवाद, विजयराजे की भावना को चोट, रामाराव ने मुंडन क्यों करवाया, माधवराव और मामाजी आंग्र, राष्ट्रपति कार्टर के नाम, लोकनायकजी, दिल्ली मत जाना, अटलजी यानी अटल बिहारी वाजपेयी, मार्गरेट थैचर को बधाई, प्यारे जार्ज से भेंट, सकलेचा से भेंट, जयप्रकाश नारायण के नाम, नानाजी का दूसरा संन्यास, लालकृष्ण आडवाणी के नाम, मोरारजी ने क्रांति शुरू करवा दी आदि लेख व पत्रात्मक निबंध

परसाई की राजनैतिक विचारधारा, सार्थक सोच व सकारात्मक प्रतिबद्धता को बयान करते हैं।

सार संक्षेप यह है कि हरिशंकर परसाई के राजनीतिक व्यंग्य अपनी संवेदनशीलता, प्रासंगिकता, व गंभीरता के लिए सदा स्मरणीय बने रहेंगे। आपने हिंदी में राजनीतिक व्यंग्य लिखने वालों की एक निर्भीक पीढ़ी तैयार की। आपके कॉलम व निबंधों में तत्कालीन भारतीय राजनीति की प्रत्येक महत्वपूर्ण घटना पर एक चिंतनशील बुद्धिजीवी लेखक का जागरूक व्यंग्य उपलब्ध है। आपके लेखन ने राजनीतिक विरोध के पथ को सशक्त बनाया। नैतिक पतन व मोहभंग के दौर में परसाई के व्यंग्य ने हिंदी के पाठकों को प्रश्न करने का साहस व जिगर दिया।

संदर्भ—संकेत

1 संपादक कमलाप्रसाद, 'आंखन देखी', वाणी प्रकाशन, 1981, नई दिल्ली, प्रथम, पृ.-322-323
2 संपादक कमलाप्रसाद, वर्मा धनंजय एवं अन्य, परसाई रचनावली-4, लेख— 'छिनाल, जनता या नेता', राजकमल प्रकाशन, 1998, नई दिल्ली, तृतीय, पृ.-242

3 परसाई रचनावली-4, लेख— शोभा बढ़ाने के लिए, पृ-306

4 परसाई रचनावली-1, लेख— हम बिहार में चुनाव लड़ रहे हैं', पृ-250

5 परसाई रचनावली-3, लेख— मुखड़ा क्या देखूं फोटू में, पृ-125

6 परसाई रचनावली-5, लेख—कमेटियों पर कयामत, पृ- 81

7 परसाई रचनावली-3, लेख— दूसरे के ईमान के रखवाले, पृ-278

संपर्क: 2-ए, उत्तरपल्ली, सोदपुर, कोलकाता-700110, मो. 09433675671

राग दरबारी : सामयिक यथार्थ की व्यंग्याभिव्यक्ति

प्रतिमा प्रसाद

‘रागदरबारी’ 1968 में प्रकाशित होकर 1969 में साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत किया जाता है। तब से आज तक इसके दर्जनों पुनःसंस्करण, आलोचनाएं और समीक्षाएं प्रस्तुत हो चुकी हैं। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह आज भी उतना ही प्रासंगिक है, जितना उस समय था। ‘राग दरबारी’ हिंदुस्तान की राजनीति को केंद्र में रखकर उसके अधीनस्थ नौकरशाही व्यवस्था भ्रष्टाचार पर तीखा व्यंग्य प्रस्तुत करता है। यदि व्यंग्य की बात की जाय तो इस संदर्भ में प्रसिद्ध व्यंग्यकार शेरजंग गर्ग की उक्ति में ‘राग दरबारी’ की अंतरात्मा स्पष्ट रूप से झलकती है— “व्यंग्य एक साहित्यिक रचना है, जिसमें व्यक्ति तथा समाज की कमजोरियों, दुर्बलताओं, करनी एवं कथनों के अंतरों की समीक्षा अथवा निंदा भाषा की टेढ़ी भंगिमा देकर अथवा कभी-कभी पूर्णतः सपाट शब्दों में प्रहार करते हुए की जाती है। वह पूर्णतः अगम्भीर होते हुए गम्भीर हो सकती है, निर्दय लगते हुए दयालु हो सकती है, प्रहारात्मक होते हुए तटस्थ लग सकती है। माखौल लगती हुई बौद्धिक हो सकती है, अतिशयोक्ति एवं अतिरंजना का आभास देने के बावजूद पूर्णतः सत्य हो सकती है। व्यंग्य में आक्रमण की स्थिति अनिवार्य है।”¹ ‘राग दरबारी’ व्यंग्य की सभी कसौटियों पर खरा उतरता है। वर्तमान व्यवस्था को लेकर गहरी वेदना को व्यंग्य के जरिए अभिव्यक्त किया गया है। इसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि जनतंत्र एक निरीह और सिकुड़ा हुआ प्राणी है जो किसी भयंकर अपराध के कारण कटघरे में खड़ा है। यहाँ नैतिकता, ईमानदारी, कर्तव्यनिष्ठा, सच्चाई, सदाचार तथा सामाजिक मूल्य ‘गदहे के सिर से सिंग’ के गायब होने की भाँति प्रतीत होते हैं। पात्रों के चरित्र—चित्रण, शिक्षा—व्यवस्था, बात—व्यवहार, वातावरण—चित्रण इत्यादि के माध्यम से हास्य व्यंग्य को लक्षित किया गया है। पाश्चात्य परम्परा के अनुसार हास्य व्यंग्य की कसौटी पर खरा उतरता है—“हास्य और व्यंग्य यानी ह्यूमर और सटायर के बीच कोई विभेदक सीमारेखा नहीं है। इसीलिए पश्चिम के विद्वानों ने व्यंग्य को हास्य के साथ जोड़कर परिभाषित करने का प्रयास किया। प्रसिद्ध विदेशी विद्वान मेरिडिथ के अनुसार महान हास्यकार की कौशलपूर्ण कृति में उसके हास्य के साथ—साथ व्यापक करुणा का भी समावेश होता है। यदि आप हास्यास्पद का इतना अधिक मजाक उड़ाते हैं कि उसमें दयालुता ही समाप्त हो जाए तो आप व्यंग्य की सीमाओं में प्रवेश कर जाते हैं।”² ‘रागदरबारी’ के संदर्भ में यह परिभाषा बिल्कुल सटीक बैठती है। ग्राम शिवपालगंज को लक्ष्य कर पूरे देश की मौजूदा स्थिति पर करारा व्यंग्य किया गया है। जिस तरह आज के समय के डिजिटल इण्डिया का अर्थ खोखला है उसी प्रकार आजाद भारत का विकासशील भारत भी पूरी तरह से खोखला था। वैद्यजी जैसे लोग जो आजादी के पहले अंग्रेजों के हितैषी और शुभचिंतक बने फिरते थे। आजादी के बाद वही लोग जनता के सामने अपनी आदर्शवादी छवि का मुखौटा ओढ़े हुए स्वयं को आदर्शवाद का पुतला घोषित किए हुए हैं। लेकिन वास्तविकता यह है कि ये सभी लाभ और रुतबे वाले संस्थानों में जोंक बनकर विकास और देश प्रेम की धज्जियाँ उड़ा रहे हैं। सुवास कुमार ‘राग दरबारी’ के व्यंग्य दृष्टिकोण के संबंध में लिखते हैं—‘राग दरबारी’ का व्यंग्य कहीं भी सतही

और भोथरा नहीं है। सफल व्यंग्य बुद्धि की तीक्ष्णता का प्रमाण होता ही है। 'राग दरबारी' में छिपी हुई व्याज स्तुतियों और अप्रस्तुत प्रशंसाओं से उसके आकर्षण की तीव्रता महसूस की जा सकती है। गाँव की गंदगी और जहालत, अंधविश्वास और भोली चालाकियाँ अपनी ऊपरी वास्तविकता में जितनी अपराजेय दिखाई देती हैं, उनकी जड़ों को श्री लाल शुक्ल व्यंग्य की उतनी ही पैनी नोंक से इस कदर कुरेद देते हैं कि ठस समस्याओं की भेद्यताएं और कमजोरियाँ साफ-साफ उघड़ आती हैं। शिवपालगंज में कालेज, थाना, डाकबंगला, कोऑपरेटिव जैसे शहरी चिह्न भी गंवई-गंवार रूप धारण कर लेते हैं। भ्रष्टता का वहाँ एक ऐसा सर्वग्राही प्रसार है कि गाँव, कस्बा, शहर तीनों ही कथाभूमियों की सीमाएं मिटती-सी घुल-मिल जाती हैं।³

श्रीलाल शुक्ल शिवपालगंज के माध्यम से पूरे देश में व्याप्त व्यवस्था के डार्कनेस को कटु व्यंग्योक्तियों के सहारे चोटिल करते हैं। मुक्तिबोध जिस तरह राजनीतिक और सामाजिक अव्यवस्था को 'अंधेरे में' के माध्यम से व्यक्त करते हैं ठीक उसी प्रकार श्रीलाल शुक्ल देश में उत्पन्न वर्तमान व्यवस्था की नकारात्मकता को भली-भाँति इस उपन्यास में व्यक्त करते हैं। श्रीलाल शुक्ल अपने संस्मरण में 'राग दरबारी' को परिभाषित करते हुए लिखते हैं— "यह उस दरबार का राग है जिसमें हम देश की आजादी के बाद और उसके बावजूद, आहत-अपंग की तरह डाल दिए गये हैं या पड़े हुए हैं।"⁴ स्पष्टतः यह कहा जा सकता है कि दरबार में रहने वाला व्यक्ति जिस प्रकार एक ही राग को अलापता रहता है उसी प्रकार इस उपन्यास में अव्यवस्था का राग शिवपालगंज के रूप में पूरे देश में व्याप्त है, जिसे किसी भी तरह से खत्म नहीं किया जा

सकता है। यहाँ व्यक्ति केवल अपने भीतर के रोष को व्यंग्य के जरिए ही अभिव्यक्त कर इन क्षुब्धताओं से कुछ देर के लिए मुक्ति पा सकता है। जैसे कि गाँव की गंदगी के संदर्भ को श्रीलाल शुक्ल जी ने अभिजात्य सौंदर्य के रूप में प्रस्तुत किया है। यथा— "प्रायः सभी में जनता का एक मनपसंद पेय मिलता था जिसे वहाँ गर्द, चीकट, चाय की कई बार इस्तेमाल की हुई पत्ती और आदी के सहारे बनाया जाता था। उनमें मिठाइयाँ भी थीं जो दिन-रात आँधी-पानी और मक्खी मच्छरों के हमलों का बहादुरी से मुकाबला करती थीं। वे हमारे देशी कारीगरों के हस्तकौशल और उनकी वैज्ञानिक दक्षता का सबूत देती थीं। वे बताती थीं कि हमें एक अच्छा रेजर-ब्लेड बनाने का नुस्खा भले ही न मालूम हो, पर कूड़े को स्वादिष्ट खाद्य पदार्थों में बदल देने की तरकीब सारी दुनिया में अकेले हमीं को आती है।"⁵ यहाँ सौंदर्य की परिभाषा में बदलाव हुआ है तथा व्यंग्य की सार्थकता परिलक्षित होती है। अब साम्यवाद की परिभाषा दूसरे अर्थों में बदल गई है जैसे— रिश्त, चोरी, डकैती का रूप एक हो गया है। क्योंकि सभी की पूर्ति सरकारी महकमों की सांठ-गांठ से संभव हो जाती है।

भ्रष्टतंत्र के प्रतिष्ठित शोषकों का रोब इस प्रकार का होता है जिन्हें जान-बूझकर सम्मान देना पड़ता है, क्योंकि शोषण के सारे हथकण्डे इन्हीं के हाथों में होता है। इससे स्पष्ट होता है कि सामंतवादी शोषण व्यवस्था चिर-परिचित और कितनी प्राचीन है जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित होकर नए फैशन में उपस्थित हो जाती है। यही कारण है कि शिवपालगंज रूपी भारत में भ्रष्टाचार शरीर में प्राण की भाँति बसा हुआ है, जिसके बिना जीने की कल्पना नहीं की जा सकती। डॉ. नित्यानंद तिवारी ने विभिन्न

आलोचकीय टिप्पणी के अंतर्गत लिखा है— “आज के भारतीय जीवन के, विभिन्न स्थितियों के बड़े प्रभावी चित्र ‘राग दरबारी’ में हैं जो हमारे अति परिचित अनुभव को फिर से ताजा कर जाते हैं।” आजाद हिंदुस्तान की राजनीति इस दौर में चले विकास कार्यों से, सरकार और उसकी नौकरशाही तथा दूसरे औजारों की गतिविधियों से इस दरम्यान किस तरह की औलादें पैदा हुई हैं, उनका व्यक्तित्वशास्त्र, नीतिशास्त्र और समाज शास्त्र क्या है—यही ‘राग दरबारी’ की वस्तु है।⁶

लेखक ने इस उपन्यास में चित्रित सभी प्रमुख चरित्रों का चित्रण बड़े ही कलात्मक ढंग से ब्याज स्तुति के माध्यम से प्रस्तुत किया है, जैसे उन्होंने वैद्यजी अर्थात् उपन्यास के केंद्रीय पात्र की भूमिका बड़े ही अनोखे ढंग से प्रस्तुत की है, जैसे असली शिवपालगंज वैद्यजी की बैठक है जो कि ताकत का रूपक है। आजादी से पहले वे अंग्रेजों की गुलामी किया करते थे और आजादी के बाद देशी हाकिमों के प्रति श्रद्धावान हो जाते हैं अर्थात् लाभ का दामन दोनों समय में ही पकड़े रहते हैं। यह सब करते हुए वे इतने ताकतवर हो गए हैं कि रातों-रात किसी भी राजनीतिक गुट की दिशा बदल सकते हैं और वे छंगामल इंटर कॉलेज के मैनेजर हैं, जहाँ मास्टर्स का आना-जाना सब इन्हीं के हाथ में है तथा दूसरी ओर कोऑपरेटिव यूनियन के मैनेजिंग डायरेक्टर हैं, जहाँ गबन को ईमानदारी समझा जाता है। इसके द्वारा ही कर्ज देने का कारोबार भी आसानी से चल रहा है। वैद्यजी बहुत ही आदर्शवादी चरित्र के रूप में स्वयं को परोसते हैं। आदर्शवाद के मामले में वे गाँधी जी को भी पीछे छोड़ जाते हैं। प्रत्यक्ष रूप में मात्र वे वैद्यकी करते हैं और सबसे उदारमना हैं, जहाँ गरीबों का मुफ्त इलाज किया जाता और जिनसे

दाम लिया जाता है, फायदा न होने पर दाम वापस कर दिया जाता है। वैद्यजी के दो उत्तराधिकारी उनके सुयोग्य सुपुत्र हैं, पहले बट्टी पहलवान जिसकी पहलवानी और अखाड़े की उसकी आड़ में चलनेवाली गुण्डागर्दी वैद्यजी का रसूख बढ़ाने में काम आते हैं। छोटू पहलवान बट्टी पहलवान के सबसे बड़े सहायक कार्यकर्ता हैं जो हर प्रकार की अनैतिकता में उनके सहायक हैं। शिवपालगंज में पीपल के पेड़ पर भूत का साया दिखाकर राहगीरों को बड़ी आसानी से लूटा जाता है या फिर बट्टी पहलवान को यदि अपने मित्र की सहायता करने में रुपए की जरूरत पड़ती तो उसकी पूर्ति आसानी से राहगीरों को लूटकर कर दी जाती है। वैद्यजी के बाद कॉऑपरेटिव यूनियन के मैनेजिंग डायरेक्टर के रूप में उनके जैसा योग्य कोई नहीं था। दूसरे सुपुत्र के रूप में रुपन बाबू आते हैं जो स्थानीय कॉलेज में पिछले तीन साल से दसवीं कक्षा में ही पढ़ते रहना चाहते हैं और कॉलेज के युवा नेता हैं जिनके एक इशारे पर विद्यार्थी तिल का ताड़ बना सकते थे। इस कारण वे पैदायशी नेता की पदवी से विभूषित किए जाते थे। वैद्यजी और बट्टी पहलवान में थोड़ी बहुत अनबन रहती थी लेकिन शोषण करने के लिए या फिर साजिश के समय बाप-बेटा एक दूसरे के पूरक हो जाते हैं। अर्थात् चोरी, डकैती, लूटपाट, भ्रष्टाचार या फिर न्याय व्यवस्था का मनमाना प्रयोग, इनके खेमों में आसानी से चला आता है। यहाँ जिसकी लाठी उसकी भैंस वाला सिद्धांत भली-भाँति व्याख्यायित हो उठता है। इनमें जातिगत दम्भ और सामंती अकड़ होने के साथ स्वार्थी गिरगिट वाली प्रवृत्ति कूट-कूटकर भरी है। इसलिए लेखक वैद्यजी के बैठक की तुलना 10 डाउनिंग स्ट्रीट, व्हाइट हाउस, क्रेमलिन आदि ताकतों के नाम से

करते हैं क्योंकि वैद्यजी एण्ड पार्टी लूट तंत्र के साक्षात् प्रतिनिधि हैं और रुपन जैसे लोग जो अर्द्धशिक्षित, अराजक तत्व के रूप में अपनी शैशवावस्था से ही विकास करने लगते हैं। लेखक इन्हें परजीवी वर्ग के नाम से अभिहित करते हैं। यही कारण है कि ग्रामीण समाज की वर्णाश्रम पर आधारित सामंती व्यवस्था दिन दूनी रात चौगुनी तरक्की कर रही है और यह परजीवी बिचौलिया वर्ग अपने स्वार्थ के लिए कुछ भी कर सकता है। यह जातिगत व्यवस्था की जड़ को और अधिक पनपा भी सकता है और अपने इस्तेमाल के समय सुविधानुसार अपनी तरफ मोड़ भी सकता है। लेखक ने जातिभेद के धूर्त जाल का माखौल उड़ाया है—“उनका पूरा कर्मयोग सरकारी स्कीमों की फिलसफी पर टिका था। मुर्गीपालन के लिए ग्राण्ट मिलने का नियम बना तो उन्होंने मुर्गियाँ पालने का ऐलान कर दिया। एक दिन उन्होंने कहा कि जाति—पाँति बिल्कुल बेकार की चीज है और हम बाभन और चमार एक हैं। यह उन्होंने इसीलिए कहा कि चमड़ा कमाने का ग्राण्ट लेकर अपने चमड़े को ज्यादा चिकना बनाने में खर्च भी कर डाली।”⁷ अर्थ यह है कि दलित जातियों में मिलने वाले लाभ के लिए ये अपनी जाति तक कुछ क्षण के बदल देने में नहीं हिचकते क्योंकि जातिगत विषमता फैलाने का हथकण्डा इनके हाथ में होता है।

इस उपन्यास में लेखक प्रमुख रूप से जातिगत समस्या को नहीं उठाते बल्कि कुलीनता से युक्त मिथ्या दम्भ पर तीक्ष्ण कटाक्ष करते हैं—“लंगड़ दरवाजे पर आ गया। शास्त्रों में शुद्रों के लिए जिस आचरण का विधान है, उसके चौखट पर मुर्गी बनकर उसने वैद्यजी को प्रणाम किया। इससे प्रकट हुआ कि हमारे यहाँ आज भी शास्त्र सर्वोपरि है और जाति प्रथा मिटाने की सारी

कोशिशें अगर फरेब नहीं हैं तो रोमांटिक कार्रवाइयाँ हैं।”⁸ इससे स्पष्ट होता है कि भारतीय ग्रामीण समाज में जाति व्यवस्था की वंश बेल फलती—फूलती है और यह कभी न समाप्त होने की द्योतक है अर्थात् दलितोद्धार की कल्पना समानता का सुखद स्वप्न जान पड़ता है। एक अन्य पंक्ति में बिल्कुल स्पष्ट हो उठती है—“चमरही” गाँव के एक मुहल्ले का नाम था जिसमें चमार रहते थे। चमार एक जाति का नाम है जिसे अछूत माना, जाता है। अछूत एक प्रकार के दुपाए का नाम है जिसे लोग संविधान लागू होने से पहले छूते नहीं थे। संविधान एक कविता का नाम है जिसके अनुच्छेद 17 में छुआछूत खत्म कर दी गई क्योंकि इस देश में लोग कविता के सहारे नहीं बल्कि धर्म के सहारे रहते हैं और क्योंकि छुआछूत इस देश का एक धर्म है।”⁹ समानता की भावना से प्रेरित संविधान की तुलना कविता से की गई है जो कि स्वच्छन्दता और क्रांति की सूचक होती है, आत्माभिव्यक्ति का पर्याय होती है। लेकिन इस देश में कविता की आवाज गौण है क्योंकि इस देश के लिए धर्म सबसे महत्त्वपूर्ण है और छुआछूत के धर्म को लोग बड़ी ईमानदारी से पीढ़ी दर पीढ़ी संकीर्ण होकर निभाते चलते हैं। कहने का अर्थ है संविधान मात्र सैद्धांतिक पक्ष बनकर रह गया है और छुआछूत व्यावहारिक बनकर समाज में अपना दबदबा बनाए हुए है। एक ओर जातिगत कुलीनता का दर्प व्याप्त है, जिसके कारण हर एक में ऊँची जाति का घमंड है। दूसरी ओर नीची जातियों के प्रति घृणास्पद रवैया भारतीय समाज का एक अभिन्न अंग है।

भ्रष्ट तंत्र में समस्त सरकारी संस्थान उसका हिस्सा बन जाने के लिए बाध्य हैं, जैसे कि शिक्षण संस्थान भी इससे अछूते नहीं रहे हैं। ग्रामीण अंचलों में शिक्षा व्यवस्था पूरी तरह से

डवांडोल है। छंगामल इंटर कॉलेज में पढ़ाई से अधिक विषाक्त राजनीति पर अत्याधिक बल दिया जाता है, शिक्षण संस्थानों में भाई-भतीजावाद की स्थिति पूरे देश में समान रूप से लागू है।

लेखक पंचवर्षीय योजनाओं की निष्क्रियता को स्पष्ट करते हैं, क्योंकि ये योजनाएँ बनती तो हैं जनता को दिवास्पन या सुखस्वप्न दिखाने के लिए लेकिन इनसे जनता का, खास कर ग्रामीण अंचलों में भ्रष्ट व्यवस्था के कारण उनका लाभ उन तक कभी नहीं पहुँच पाता। शिवपालगंज के लोग मेला देखने के लिए इतने उत्साही और आनंद में हैं कि पंचवर्षीय योजनाओं के सफल होने पर भी इतने आनंदित नहीं दिखाई देंगे।

भ्रष्टाचार का ही परिणाम है कि निचले तबके के नौकरशाह तक इसके पोषक बन जाते हैं, यथा—“इंसपेक्टर साहब उस क्षेत्र में चालीस साल से तैनात थे और उनके वहाँ होने की जरूरत आज भी वैसी ही है जैसी कि चालीस पहले थी।”¹⁰ इस कथन से स्पष्ट है कि जब देश में ऐसे भ्रष्ट अधिकारियों का राज होगा तो देश की बदहाली ऐसे ही बरकरार रहेगी। वैसे सरकारी नौकरी करने वालों की मानसिकता की भी दाद देनी चाहिए, वे जब सरकारी नौकर हो जाते हैं तो इसका स्पष्ट अर्थ हो जाता है कि उन्हें किसी भी प्रकार के काम करने से मुक्ति मिल गई है और यदि सरकारी नौकरी में काम करने की नौबत आ गई तो ऐसी जिंदगी पर लानत है और यही कारण है कि सरकारी काम—काज वर्षों तक पेडिंग रहते हैं।

ग्रामीण अंचल में अंध भक्ति का प्रकोप इस प्रकार फैला हुआ है कि जब रंगनाथ, रुपन, छोटे पहलवान और सनीचर अति उत्साहित होकर मेले में देवी के अति प्राचीन मन्दिर में दर्शन के लिए जाते हैं तो रंगनाथ एक इतिहास का

विद्यार्थी होने के नाते यह पहचान जाता है कि यह मूर्ति उतनी पुरानी नहीं जितनी कि इसे बताया जा रहा है और वह मात्र एक सिपाही की मूर्ति है। इस बात को वह सबको बताने की कोशिश करता है लेकिन पुजारी उसे गालियों से नहला देता है और कई लोग मारने को दौड़ जाते हैं। अर्थ यह है कि अंधविश्वास और श्रद्धा के नाम पर एक कारोबार शुरू हो जाता है और भोले-भाले लोग इसका शिकार बनते रहते हैं।

ग्रामीण अंचल का भ्रष्टतंत्र उसकी आत्मा के रूप में बसा हुआ है। यहाँ केवल समन्वयवादी विचारधारा पर अमल किया जाता है। लेखक ने यहाँ बहुत ही शालीन और नम्र व्यंग्य का सहारा लिया है, यथा—“ मिठाई और चाट की दुकानों के आगे काफी भीड़ थी। भारतीय मिठाइयों की सौंदर्य साम्राज्ञी बर्फी ढेर की ढेर लगी थी और हर लड़का जानता था कि मारपीट में इसका इस्तेमाल पत्थर के टुकड़े जैसा किया जा सकता है। इन मिठाइयों को बनाने में हलवाईयों और फूड—इंस्पेक्टरों को बड़े-बड़े वैज्ञानिक अनुसंधान करने पड़े थे, उन्होंने बड़े परिश्रम से मालूम किया था कि खोए घुइयां, आलू—चावल का आटा, मिट्टी या गोबर तक का प्रयोग किया जा सकता है। वे सब समन्वयवाद के अनुयायी थे और उन्होंने कसम खा ली थी कि वे बिना मिलावट के न तो कोई चीज बनाएंगे और न बेचेंगे।”¹¹ यद्यपि यह समन्वयवादी विचारधारा पूरे देश में समान रूप से लागू है और शिवपालगंज की घटना तो प्रतीक मात्र है।

‘राग दरबारी’ स्वातंत्र्योत्तर भारत में प्रजातंत्र की फटेहाल स्थिति का बड़ा ही यथार्थवादी चित्रण प्रस्तुत करता है। नैतिकता, ईमानदारी, इंसानियत सिकुड़ कर इतनी छोटी हो गई है कि उसका अस्तित्व समाप्त प्रायः लगता है।

शोषकों की मानसिकता से सामंती विचारधारा कभी नहीं जा सकती यद्यपि इस आधुनिक समय में समाजवाद, प्रजातंत्र, जनतंत्र या लोकतंत्र जैसी शब्दावलियाँ भले ही प्रचलित हों या फिर यह कहा जाय कि आजादी के बाद प्रजातंत्र जैसी कोई चीज है जिसके आधार पर शासन जैसा कुछ है। लेकिन वास्तविकता तो इनकी मुठ्ठी में बंद है, क्योंकि ये प्रजातंत्र को जैसा घुमाना चाहेंगे यह वैसा ही घूमेगा। यथा—“ उन्होंने देखा कि प्रजातंत्र उनके तख्त के पास जमीन पर पंजों के बल पर बैठा है। उसने हाथ जोड़ रखे हैं। उसकी शक्ल हलवाहों—जैसी है और अंग्रेजी, वह शुद्ध हिंदी भी नहीं बोल पा रहा है। फिर भी वह गिड़गिड़ा रहा है और वैद्यजी उसका गिड़ागिड़ाना सुन रहे हैं। वैद्यजी उसे बार—बार तख्त पर बैठने के लिए कहते हैं और समझाते हैं कि तुम गरीब हो तो क्या हुआ, हो तो हमारे रिश्तेदार ही, पर प्रजातंत्र उन्हें बार—बार हुजूर और सरकार कहकर पुकारता है। बहुत समझाने पर प्रजातंत्र उठकर उनके तख्त के कोने पर आ जाता है और जब उसे इतनी सांत्वना मिल जाती है कि वह मुंह से कोई तुक की बात निकाल सके, तो वह वैद्यजी से प्रार्थना करता है मेरे कपड़े फट गए हैं, मैं नंगा हो रहा हूँ। इस हालत में मुझे किसी के सामने निकलते हुए शर्म लगती है, इसलिए, हे वैद्य महाराज, मुझे एक साफ—सुथरी धोती पहनने को दे दो।”¹² प्रजातंत्र रूपी हलवाहा वैद्यजी रूपी शोषक सामंत के आगे गिड़गिड़ाते हुए अपने अस्तित्व की रक्षा की भीख मांग रहा है। अर्थात् प्रजातंत्र को यदि कोई शरण दे सकता है तो वह वैद्यजी सरीखा शोषक सामंत या कूटनीतिज्ञ ही दे सकता है। जातिगत वर्चस्व, धूर्तता, गुंडागर्दी इत्यादि के कारण सत्ता इनके पक्ष में बड़ी आसानी से

झोली में गिर जाती है। वैद्यजी के स्वप्न में आकर प्रजातंत्र अपनी बदहाली पर रो रहा है उसके नंगे होने और दयनीय स्थिति के कारण वैद्यजी को उस पर दया आ जाती है और वे कॉलेज की सलाना बैठक तथा कॉलेज के मैनेजर पद का चुनाव कराने की अनुमति दे देते हैं ताकि वह पाँच भले आदमियों में बैठने लायक हो जाय और झूठ ही सही यह कहने को तो जाएगा कि प्रजातंत्र में चुनाव द्वारा ही सबकुछ सम्पन्न होता है।

कॉलेज के मैनेजर पद का चुनाव पिछले वर्षों से नहीं हुआ था बहुत विरोध करने और प्रजातंत्र की करुण पुकार सुनने के बाद वैद्यजी चुनाव कराने की अनुमति देते हैं और इसमें चुनावी प्रत्याशी के रूप में वैद्यजी और रामाधीन भीखमखेड़वी आमने—सामने हैं। लेकिन प्रजातंत्र में चुनाव प्रत्याशी इतने भ्रष्ट होते हैं कि जनता द्वंद्व की स्थिति में आ जाती है कि वह किसका चुनाव करे, यथा—“चुनाव में लड़ने वाले प्रायः घटिया आदमी होते हैं, इसलिए एक नए घटिया आदमी द्वारा पुराने घटिया आदमी को, जिसके घटियापन को लोगों ने पहले से ही समझ—बूझ लिया उखाड़ना न चाहिए।”¹³ अर्थ यह है कि जो सत्ता में है वही रहना चाहिए क्योंकि नया आदमी कुछ नहीं कर पाएगा और न उसे कुछ करने दिया जाएगा। छंगामल इंटर कॉलेज के मैनेजर के चुनाव में वैद्यजी अपनी गुंडागर्दी के बल पर जबरन जीत जाते हैं। स्पष्ट है कि प्रजातंत्र की आड़ में तानाशाही और सामंती विचार धारा के पोषक तत्व खुले आम शोषण का तंत्र चलाते हैं तथा सरेआम गुंडागर्दी कर वाह—वाही लूटते हैं। प्रजातंत्र में केवल चुनाव का हो जाना ही प्रजातंत्र की रक्षा है इसमें सही गलत का कोई स्थान नहीं। चूँकि वैद्यजी पूरे

शिवपालगंज के सबसे बड़े दबंग हैं इसलिए गाँव की प्रधानी में उनका अदना सा भांग पिसने वाला चमचा सनीचर ही प्रधान बन जाता है और उनका पुत्र बट्टी पहलवान कोऑपरेटिव यूनियन का नया मैनेजिंग डाइरेक्टर, वैद्यजी के इस्तीफे बाद चुन लिया जाता है।

रुपन और रंगनाथ जैसे लोग पानी में बुलबुले के समान हैं, जिनका अदना-सा विरोध तुरंत खत्म हो जाता है। रुपन और रंगनाथ वैद्यजी और बट्टी पहलवान के विरोध में जाकर भी कुछ नहीं कर पाते हैं तो हताश होकर रुपन कहता है—“सच्चाई किस चिड़िया का नाम है? किस घोंसले में रहती है? कौन से जंगल में पायी जाती है?” रुपन बाबू ठहाका मारकर हँसे, “दादा, यह शिवपालगंज है। यह बताना मुश्किल है कि क्या सच है, क्या झूठ।... मुझे तो लगता है दादा, सारे मुल्क में यह शिवपालगंज ही फैला हुआ है।”¹⁴

स्पष्ट है कि प्रत्येक भ्रष्ट स्थान की यही कवायद होती है। यहाँ उदारवाद, नैतिकता, ईमानदारी, सच्चाई की कोई कीमत नहीं होती। यहाँ खेल दिखाने वाला मदारी प्रत्यक्ष रूप से सामने नहीं आता वह अपनी शक्ति को सुरक्षित और सर्वोपरि रखता हुआ खेल दिखाता रहता है और अपनी इच्छानुसार प्यादे बदलता रहता है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि ‘राग दरबारी’ अपनी तीक्ष्ण भाषाई क्षमता के आधार पर परिस्थितियों, घटनाओं, यथास्थिति, अव्यवस्था के मूल तत्वों का अर्थ भेदक व्यंग्य लक्षित करता है। यह समाज में घटित होने वाले यथार्थ और उसके परिणाम को भली-भाँति प्रस्तुत करता

है। खलनायक के रूप में वैद्यजी और उनकी सफलता के बीच में कोई चीज आड़े नहीं आती। सच्चे का मुँह काला और झूठे का बोलबाला केवल शिवपालगंज की घटना नहीं है बल्कि पूरे देश में व्याप्त राजनीतिक दबंगई और गुंडागर्दी इसका अन्यतम उदाहरण है। ये अपने रूपए और ताकत के बल पर किसी भी सत्ता को रातों-रात बदल सकते हैं। जनता ‘लंगड़’ की भाँति निरीह और संघर्षशील है, जो सच्चाई के रास्ते पर चलते हुए भी शोषण और भ्रष्टाचार का शिकार होती है।

संदर्भ सूची:

1. सुभाष चंदर, हिंदी व्यंग्य का इतिहास, भावना प्रकाशन, संस्करण-2008, पृ.सं.-20
2. वही, पृ.सं.-19
3. सम्पादित- नंदकिशोर नवल, कसौटी-15, पृ. सं.-200
4. सम्पादक मंडल-डॉ. भीष्म साहनी, डॉ. भीष्म साहनी, डॉ. रामजी मिश्र, भगवती प्रसाद निदारिया, आधुनिक हिंदी उपन्यास-1, पृ. सं.-227
5. श्रीलाल शुक्ल, राग दरबारी, राजकमल प्रकाशन, चौवालीसवाँ संस्करण-2020, पृ.सं.-07
6. सम्पादक मंडल-डॉ. भीष्म साहनी, डॉ. भीष्म साहनी, डॉ. रामजी मिश्र, भगवती प्रसाद निदारिया, आधुनिक हिंदी उपन्यास-1, पृ. सं.-227
7. श्रीलाल शुक्ल, राग दरबारी, राजकमल प्रकाशन, चौवालीसवाँ संस्करण-2020, पृ.सं.-07
8. वही, पृ.सं.-35, 9. वही, पृ.सं.-102
10. वही, पृ.सं.-112, 11. वही, पृ.सं.-121.
12. वही, पृ.सं.-137, 13. वही, पृ.सं.-139
14. वही, पृ.सं.-318-319

संपर्क: सहायक प्राध्यापिका, हिंदी विभाग, काजी नजरुल विश्वविद्यालय, आसनसोल, पश्चिम बंगाल, मोबाइल: 7059727641, ईमेल: prasadpratima171@gmail.com

शरद जोशी एवं हिंदी व्यंग्य

रणजीत कुमार सिन्हा

शरद जोशी हरिशंकर परसाई के बाद हिन्दी व्यंग्य जगत के सबसे महत्वपूर्ण व्यंग्यकार हैं। लेकिन जहाँ परसाई का व्यंग्य समाज के अंदर व्याप्त प्रत्येक राजनीतिक दल तथा उसके नेताओं के आडम्बरों पर करारा प्रहार करता नजर आता है, वहाँ शरद जोशी अपनी लेखनी में पार्टी लाइन को त्याग नहीं पाते हैं। लेकिन व्यंग्य को लोकप्रियता दिलाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं।

शरद जोशी का जन्म 21 मई, 1931 को उज्जैन, मध्यप्रदेश में हुआ। बी.ए. तक शिक्षा प्राप्त जोशी ने, 1958 में लेखिका, अभिनेत्री इरफाना सिद्दीकी से विवाह किया। लेखन यानी स्वतंत्र लेखन के क्षेत्र में इनका प्रवेश 1953 में हुआ। 1953 में नई दुनिया, इंदौर में परिक्रमा नामक स्तंभ लिखना शुरू किया। इन्होंने कहानी, उपन्यास, नाटक आदि विधाओं को अपने व्यंग्य माध्यम के रूप में प्रयोग किया। नव-भारत टाइम्स में प्रकाशित दैनिक व्यंग्य-स्तंभ 'प्रतिदिन' ने उन्हें पाठकों में बेहद लोकप्रिय बनाया। बहुत सारी पत्र-पत्रिकाओं से जुड़े रहे जोशी। फिल्म और टीवी लेखन और मंचों पर व्यंग्य पाठ भी जमकर करते थे जोशी जी। 1990 में पद्मश्री की उपाधि से अलंकृत हुए।

5 मार्च, 1991 को शरद जोशी की मृत्यु के बाद भी उनके कई व्यंग्य-संग्रह प्रकाशित हुए जिनमें, 'नाविक के तीर' और 'यत्र तत्र सर्वत्र' प्रमुख हैं।

आलोचक एक ओर हरिशंकर परसाई को वामपंथी कहते नजर आते हैं, लेकिन परसाई रचनावली का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि हरिशंकर परसाई मानवतावादी साहित्यकार हैं, वे वामपंथी नहीं हैं। वहीं शरद जोशी वामपंथी पार्टी लाइन पर चलते हुए व्यंग्य विधा को एक विशेष तगमा देते हैं।

जोशी जी की व्यंग्य कृतियाँ-परिक्रमा, किसी बहाने, जीप पर सवाल इल्लियाँ, रहा किनारे बैठ, तिलिस्म, दूसरी सतह, पिछले दिनों, मेरी श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाएँ, यथासंभव, हम भ्रष्टन के भ्रष्ट हमारे, दो व्यंग्य नाटक, मैं केवल मैं, कमलसुख बी.ए. आदि हैं।

शरद जोशी के कुछ बहुपठित व्यंग्य निबंध- संत सीकरी में बड़े व्यस्त हैं, हम भ्रष्टन के भ्रष्ट हमारे, समाजवाद एक उपयोगी चिमटा, काली लक्ष्मी का प्रजातंत्र, प्रेमचंद के बासी आलोचक, आधुनिकता: एक सुविधाजनक स्थिति, मेघदूत आदि हैं।

शरद जोशी के व्यंग्य की सबसे बड़ी विशेषता उनकी कलात्मकता है। शिल्प को लेकर जितने प्रयोग उन्होंने किये हैं, उतने कहीं नहीं मिलते हैं। परसाई की तरह जोशी के यहाँ भी विषयों का विस्तार दिखलाई पड़ता है। राजनीतिक उठा-पटक, भ्रष्टाचार, सामाजिक पाखंड, धार्मिक कठमुल्लापन, सांस्कृतिक अवमूल्यन, संयुक्त परिवारों का विभाजन, कार्यालयीन विसंगतियाँ सभी जोशी के व्यंग्य में दिखलाई देते हैं। जोशी का व्यंग्य अपनी विशिष्ट शैली के लिए विख्यात है।

शरद जोशी की व्यंग्य भाषा सहज होते हुए भी नये तेवर लेकर नुकीली है। भाषा की व्यंजना क्षमता को बढ़ाने के लिए शरद जोशी कहावतों—मुहावरों का खुलकर प्रयोग करते हैं। 'सरकार का जादू' जैसी व्यंग्य रचनाओं की भाषा में एक विशेष बाँकपन नजर आता है। वाक्यों का प्रयोग यथास्थिति करने में सफल हैं शरद जोशी।

शरद जोशी की व्यंग्य भाषा बेहद लचकदार है। इनमें उर्दू, अंग्रेजी, मराठी, पंजाबी, बंगला के अतिरिक्त देशज भाषाओं के भी शब्द बहुत—से मिलते हैं। इंद्र, कारक, इसकू जन्मे कये, करवाया, नरभषियाना आदि मुहावरे और लोकोक्तियों का प्रयोग भी खूब किया गया है। बल्कि अनेक मुहावरे और उक्तियाँ तो उन्होंने खुद भी गढ़ी हैं—'सीकरी में बिकने से आलू कट्टू नहीं हो जाता,' 'आवश्यकता आविष्कार की अम्मा है', आदि।

व्यंग्य लेखन की जितनी भी शैलियाँ हैं, हम शरद जोशी के यहाँ पाते हैं—पत्र शैली, पैरोडी शैली, डायरी शैली, स्वप्न शैली, संवाद शैली आदि। सामाजिक विसंगतियों पर लिखे गये व्यंग्य का विषय है—क्या वर्ग के लोग, पश्चिमी संस्कृति, आधुनिकता, मानवीय स्वभाव आदि तो चरित्र पर व्यंग्य, गरीबी पर व्यंग्य, बुद्धिजीवियों पर व्यंग्य, कला—संस्कृति पर व्यंग्य, सामाजिक व्यावहारिकता पर व्यंग्य।

मध्यवर्ग के लोगों पर व्यंग्य करते हुए शरद जोशी लिखते हैं—“हमारे देश में यह एक निश्चित ही अनिश्च स्थिति है। मध्यम यह एक वर्ग है। लोग स्वयं को मध्यम वर्ग कहलाना पसंद करते हैं। जो अमीर हैं, वे नम्रतावश स्वयं को मध्यम वर्ग कहलाना पसंद करते हैं। जो गरीब हैं, वे अहं के मारे स्वयं को मध्यम वर्ग कह देते हैं।”

मध्यम वर्ग के लोगों में होने वाली प्रतिस्पर्धा

का उल्लेख करते हुए शरद जोशी लिखते हैं—“आज दोपहर को खाना चन्दूलाल के यहाँ खाया। उसके घर का घी मेरे से अच्छा है।” इसी में वे आगे लिखते हैं—“हमारा सारा दिन दूसरों को देखते बीत जाता है। इस नजर से कि कहीं वह हमसे आगे न बढ़ जाए।”

शरद जोशी के व्यंग्य लेखन में व्यापक अनुभव दिखाई देता है। कारण उनका बचपन पिता के साथ घूम—घूम कर बिता है। सरकारी नौकरी और तबादला के चलते उन्हें जो अनुभव हुआ है उसका चित्रण वे अपनी लेखनी में किए हैं। आम आदमी के अभावग्रस्त जीवन को बहुत करीब से देखा है शरद जोशी ने। एक मध्यमवर्गीय व्यक्ति के लिए जरूरत से अधिक सुविधा किस तरह की परेशानी खड़ी कर सकती है इसका भी हास्यास्पद चित्रण करते हैं—ऊपर उठने की मुसीबत में मध्यवर्गीय व्यक्ति की उच्च वर्ग में दाखिल होने के बाद की परेशानी का जिक्र करते हुए लिखते हैं—“मेरे लिए हवाई जहाज वह चीज है जिसे हम नीचे से ऊपर देखते हैं, वह नहीं जहाँ से मैं नीचे देखूँ।”

‘मनी प्लांट’ और ‘केक्टस’ में मध्यवर्गीय परिवार का यथार्थ चित्रण करते हैं। एक ही वाक्य में सम्पूर्ण चित्र को जनसमूह के समक्ष रख देते हैं जोशी—“सारी जिंदगी अपने तीन कमरों की समस्या सुलझाने में गुजर जाती है।”

गरीबी पर व्यंग्य करते हुए जोशी लिखते हैं—“गरीबी शब्द गरीबों से निकला है। गरीबी वह चीज है, जो गरीबों में होती है। अमीरों में इनका नितांत अभाव पाया जाता है।”

गरीबी रेखा पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं—“आँगन में बँधी एक डोर है गरीबी रेखा—उसका अधिकांश भाग नीचे हैं, फिर भी कहने को वह डोर के ऊपर है। बड़ी मजेदार स्थिति है।”

पाश्चात्य संस्कृति का बढ़ता प्रभाव किस तरह से भारतीय समाज पर अपना दुष्प्रभाव छोड़ रहा है, उसका जिक्र करते हुए शरद जोशी लिखते हैं—“मुझे भारतीय तथ्य कला की अपेक्षा अंग्रेजी तथ्य कला अधिक प्रिय है—अंग्रेजी तथ्य कला में हम नारी के ज्यादा निकट पहुँचते हैं।”

मानवीय चरित्र एवं स्वभाव पर व्यंग्य करते हुए शरद जोशी लिखते हैं—“कहते हैं कि मनुष्य के चरित्र का निर्माण मौसम करता है। यदि इसी तरह की हालत रही और सारे देश का मौसम एक जैसा हो गया तो मुझे लगता है कि 21वीं सदी तक पहुँचते-पहुँचते राष्ट्रीय चरित्र में एकता स्थापित हो जाएगी।”

ईमानदारी मनुष्य की पहचान को विशेष रूप से स्थापित करती है। इस ईमानदारी शब्द पर शरद जोशी व्यंग्य करते हुए लिखते हैं—“युद्ध और प्रेम में काहे की ईमानदारी, सब जायज है।”

मनुष्य बहुत ही भावुक प्राणी है, पर यह भावुकता भी व्यवहारिक चीज बन गई है। भावुकता पर विचार करते हुए शरद जोशी लिखते हैं—“घर का पेड़ हो, बाप ने बोया हो, तो भावुकता का अधिकार पुश्तैनी हो जाता है।”

प्रेरणा को लेकर शरद जोशी ने जिस तरह से कटाक्ष किया है। वह आज की वर्तमान राजनीति हो या सामाजिक आचरण, पर यथार्थ प्रतीत होता है—“आजकल तो यह है कि प्रेरणाएँ अपनी जगह, काम अपनी जगह।”

भौतिकवाद पर व्यंग्य करते हुए शरद जोशी लिखते हैं—“हमारे देश में यहाँ पूँजी लगाकर स्वयं काम करने की बजाय भाड़े या किराए पर देना या पूँजी पर बैठ कर ब्याज खाना अधिक लाभप्रद है।”

बुद्धिजीवी शब्द वर्तमान समय में सम्मान का न होकर गाली बन गया है। आजकल लोग

बुद्धिजीवी कहकर लोगों का सम्मान नहीं अपमान करते हैं। शरद जोशी इस तथाकथित बुद्धिजीवी वर्ग की कड़ी आलोचना करते हुए कहते हैं—“उसके पास बुद्धि का एक कुआँ है, वह बाल्टी डालकर उस कुएँ से विचार निकालता है, फिर बाल्टी भरकर विचार बेचता है।”

शरद जोशी के अनुसार बुद्धिजीवी व्यक्ति के खोखले पुरुषत्व और निहायत ही स्वार्थी व्यक्तित्व को उभारता है।

हमारे देश के अधिकांश बुद्धिजीवी व्यावहारिक एवं किसी-न-किसी दल के दंगल से जुड़े रहने वाला परजीवी प्राणी है। औरतें खिंची जा रही हो, पतन की गलियों में, बुद्धिजीवी पीठ घुमा लेगा। आगे बूढ़ा निर्वाह खाँसता अंतिम क्षण की साँसें ले रहा हो, बुद्धिजीवी पीढ़ियों से अलगाव का विश्लेषण करता बैठ जाएगा यारों के बीच। फिर बुद्धिजीवी का महज बुद्धिजीवी होना उसकी सबसे बड़ी ढाल है, तलवार है, वह बचाव भी करता है उस से जिससे मारता है। इसलिए वर्तमान समय में कोई भी सभ्य व्यक्ति खुद को बुद्धिजीवी कहलाना पसंद नहीं करता है।

अध्यक्ष पद को लेकर कुछ लोगों के मन में जो ऐंट होती है, उसपर भी शरद जोशी जमकर प्रहार करते हुए अध्यक्ष महोदय निबंध में लिखते हैं—“अध्यक्ष बनने वाले कई तरह से अध्यक्ष बनते हैं, कुछ चौककर अध्यक्ष बनते हैं, कुछ दूल्हे की तरह लजाते-मुस्कुराते अध्यक्ष बनते हैं, कुछ अध्यक्ष बनते हैं जैसे शहीद होने जा रहे हों, कुछ मास्टर की अदा से अध्यक्ष बनते हैं और कुछ ऐसे सिर झुकाए बैठे रहते हैं, जैसे मंडप में लड़की का बाप बैठता है।”

इस तरह शरद जोशी का व्यंग्य—लेखन बहुत ही लोकप्रिय एवं समसामयिक है।

संपर्क: अध्यक्ष हिन्दी-विभाग, मिदनापुर कालेज (ऑटोनोमस), मिदनापुर, प. मिदनापुर, मो. 9434153501

नारद जी खबर लाये हैं- समकालीन व्यंग्य का निष्पक्ष दस्तावेज

राजीव रंजन राकेश

‘नारद जी खबर लाये हैं’— नामक साप्ताहिक व्यंग्य कॉलम करीब 52 वर्षों से दैनिक ‘हिन्दुस्तान’ में निरंतर छपता रहा। गोपाल प्रसाद व्यास द्वारा लिखित ये कॉलम प्रथम बार 26 दिसम्बर 1958 को हिन्दुस्तान में छपा था। फिर 1 मार्च 1978 से हर सप्ताह राष्ट्रीय डायरी के रूप में छपता रहा। इतने वर्षों तक किसी कॉलम का लगातार छपना, अपने आप में एक रिकार्ड और उपलब्धि दोनों है। यह कॉलम अपने तत्कालीन समाज, राजनीति, अर्थव्यवस्था का आईना है। यह समकालीन घटनाओं का लिखित दस्तावेज है। व्यासजी एक सफल व्यंग्यकार, पत्रकार थे। अपनी मृत्यु के पूर्व तक इस कॉलम को वो निर्बाध, निरंतर, बिना क्रमभंगता के लिखते रहे। यही इस कॉलम की विशिष्टता और अद्वितीयता रही है।

एक व्यंग्यकार के तौर पर जब उन्होंने स्तंभ लेखन शुरू किया था, उस समय सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक अवमूल्यन शुरू हो गया था। लेकिन स्थितियाँ—परिस्थितियाँ उतनी भयावह नहीं थी जितनी की 80 से दशक के बाद हुई। संसदीय लोकतंत्र में जो भूमिका विपक्ष की होती है, वही भूमिका साहित्य के स्तर पर जितनी विधाएँ हैं, उनमें व्यंग्य की होती है। व्यासजी ने सरल—सपाट, निष्कण्टक राह की जगह व्यंग्य की पथरीली राह को अपनाया। उन्होंने शालीनता की सारी औपचारिकताएँ छोड़कर व्यंग्य रचना को आमने—सामने सीधी मुठभेड़ के लिए इस्तेमाल किया।

व्यासजी के लेखन का कैनवास इतना व्यापक एवं विशाल है कि अपने समय के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक प्रश्नों एवं सवालों को पूरी प्रमाणिकता के साथ समेटे हुए है। उनका व्यंग्य विसंगतियों, को खत्म करने के साथ स्वस्थ वातावरण सृजित करने पर बल देता है। समाज एवं परिस्थितियाँ क्या हैं? कैसी हैं? की जगह कैसा होना चाहिए पर ज्यादा फोकस है।

राजनीति का क्षेत्र व्यंग्य विधा एवं पत्रकारिता के लिए उर्वर भूमि प्रदान करता रहा है। व्यासजी ने भी भारतीय राजनीति के साथ—साथ वैश्विक राजनीतिक पटल को भी अपनी लेखनी में प्रमुखता दी। व्यंग्य साहित्य राजनीति से खाद—मिट्टी पाता है। वे व्यवस्था में आये ह्रास एवं गिरावट को लक्ष्य कर उसके निवारण पर भी बल देते हैं। वे राजनीतिज्ञों के कथनी और करनी के फर्क को उभारते हैं। आजादी के बाद आम आदमी के सपने दिन प्रतिदिन दरकते चले गए। हर जगह भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी, भाई—भतीजावाद, अनैतिकता का बोलबाला बढ़ता चल गया। राजनीति भ्रष्टों का अड्डा बनकर रह गई। हर तरह के गठजोड़, अनाचार, नैतिक ह्रास का अड्डा बनकर रह गई। राजनीति के अपराधीकरण के बाद, अपराधियों का राजनीतिकरण होता चला गया।

व्यासजी कहते हैं कि हमारा गण—तंत्र अब गनतंत्र बनकर रह गया है। चुनावी हिंसा पर तीखा व्यंग्य करते हुए कहते हैं—“चुनावी हिंसा, हिंसा न भवति। जैसे—जैसे चुनावी मौसम गरमा रहा है, वैसे—वैसे गुंडे सीना तान रहे हैं। अभिनेता नई भूमिका में आ रहे हैं। खिलाड़ियों को भी राजनीति का खेल सूझ रहा है। सट्टेबाज, जुआरियों ने दांव लगाने शुरू कर दिये हैं।”

व्यासजी मध्यस्थों एवं दलालों की संस्कृति पर भी चोट करते हैं। वे इनकी प्रकृति की अच्छी परख रखते हैं। कहते हैं कि कुछ प्रधान चमचे होते हैं। फिर इनके स्थानीय स्तर के उपचमचे और अतिरिक्त उपचमचे होते हैं। ये सब हीनता, मुप्तखोरी, लाभ और कुछ वफादारी की डोर से अपने नेता से बंधे होते हैं। इनमें गजब की अनुशासन भावना होती है। चमचा बनना आसान नहीं है। एक अच्छे चमचे का निर्माण कई सालों में होता है।

नेताओं पर व्यंग्य करते हुए वे कहते हैं कि एयरकंडीशन्ड बंगलों में बादशाहों की तरह रहने वाले और इम्पाला गाड़ियों में मचकते हुए सैर करने वाले लोग आज समाजवाद के संवाहक हैं। जिन लोगों ने गरीबी देखी नहीं, वे उसके दर्द को क्या समझेंगे? जिनकी भैसों और कुत्तों का इलाज भी राजकीय स्तर पर होते हों, वे क्या गरीबी मिटायेंगे। जो भारत की बहुसंख्यक जनता को अनपढ़, अशिक्षित, अस्वस्थ मानकर उनसे दूर रहते हों, वे वर्णभेद और असमानता कैसे मिटायेगें?

व्यासजी की प्रखर दृष्टि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति पर भी जाती है। वे व्यापारिक, आर्थिक हितों एवं गतिविधियों को भी ओझल नहीं होने देते। 'लोकतंत्र की खातिर' टॉपिक में लिखते हैं—'लोकतंत्र की खातिर ही मुशर्रफ ने पाकिस्तानी लोकतंत्र को फौजी वर्दी पहना दी। बुश ने इराक पर हमला किया और सद्दाम को चूहा बनाया—लोकतंत्र की खातिर। अमेरिका ने अफगानिस्तान पर कब्जा किया, लोकतंत्र की खातिर। बुश, सीरिया और ईरान को धमका रहे हैं, लोकतंत्र की खातिर। बांग्लादेश को अफगानिस्तान बनाने की सजिश हो रही है लोकतंत्र की खातिर।'

जो देश कभी 'जय जवान' और 'जय किसान' का नारा बुलंद किया करता था, आज वही दोनों

स्तंभ हाशिये पर हैं। एक ओर देश साइबर युग, डिजिटल क्रांति, स्टारवार, मंगल यान युग में प्रवेश कर रहा है वहीं आंध्र और उड़ीसा में आज भी किसान ऋणग्रस्तता के कारण आत्महत्या कर रहे हैं। लोकतंत्र के बावजूद सारी व्यवस्था उनके प्रतिकूल है। पूंजीपतियों, व्यापारियों, महाजनों, अफसरशाही, पुलिस—प्रशासन, राजनेताओं में गठजोड़ है। M.N.C. कंपनियां यहीं के संसाधनों का उपयोग कर मोटी कमाई कर रही हैं। व्यासजी कहते हैं कि मुगल काल में एक विदेशी कंपनी आई थी और पूरे भारत पर कब्जा कर लिया था। तब तो एक कंपनी थी अब तो दर्जनों कंपनियां भारत में घुस आई हैं। आज छोटे पूंजीपतियों, व्यापारियों, कारोबारियों की शामत आई हुई है। बड़ी कंपनियाँ छोटी कम्पनियों को बड़ी मछली की तरह निगली जा रही है। जहां रिलायंस जैसी बड़ी कम्पनियां सब्जी बेचने तक के धंधे में उतर चुकी है, वहीं टाटा जैसी बड़ी कम्पनी नमक भी बना रही है। मुख्तसर ये कि सारा धन बड़े पूंजीपतियों के हाथों में सिमटता जा रहा है। पूँजीवाद भी मत्स्य—न्याय पर काम करता है।

व्यासजी बजट पर अपनी प्रतिक्रिया देते हुए कहते हैं—“सच तो यह है कि हर बजट आम आदमी को ध्यान में रखकर बनाया जाता है और उसका लाभ कुछ खास आदमियों तक ही पहुँच पाता है। हर बजट के बाद गरीब और गरीब हो जाता है और अमीर और अमीर। भूख, गरीबी, बेकारी किसी बजट ने दूर नहीं की।”

भ्रष्टाचार पर व्यंग्य करते हुए व्यासजी कहते हैं, “कण—कण में भगवान की जगह भ्रष्टाचार घुस चुका है। आज गंगोत्री ही गंदी हो चुकी है। समाज में नैतिक मूल्यों का ह्रास और क्षरण द्रुतगति से जारी है। इंसान पशु से भी ज्यादा क्रूर

और निर्दयी होता जा रहा है।" राम-रावण युद्ध के प्रसंग पर विचार करते हुए वे टिप्पणी करते हैं—“यह रामलीला नहीं मेरी रावण-लीला है। मेरे पुतले को हर साल फूंककर खाक किया जाता है। परन्तु मैं साल-दर-साल और भी बड़ा होकर, ऊँचा होकर, ढाल-तलवार लेकर खड़ा हो जाता हूँ। समझ लो नारद, राम शाश्वत नहीं, मैं शाश्वत हूँ।”

व्यासजी आज के छद्म बुद्धिवादियों की भी पोल खोलते हैं। उनकी कथनी और करनी के फर्क को उजागर करते हैं। उनकी खामियों, कमियों एवं दोम्मेपन पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं—“तब मोहिनी ने हर असुर को छला था और आज भी मोहिनी हर बुद्धिवादी को कभी वित्तेषणा, कभी लोकेषणा, कभी यशेषणा तो कभी कामेषणा के रूप में छल रही है।... ढोल बजाना इनका सनातन पेशा है। आप भी थोड़े से साधन और थोड़ी सी सुविधाएँ इन्हें जुटा दीजिए। कल से ये आपके गीत गाने लगेंगे।”

इस व्यंग्य कॉलम की भाषा बहुत ही लुभावनी, मनोरंजक और ध्यानाकर्षक है। इसकी भाषा पद्यात्मक गद्य है। वाक्यों में तुकात्मकता है। उनके गद्य भी पद्य जैसे लगते हैं। भाषा, सहज, सरल और प्रवाहमान है। वे चुनावी नारों, मुहावरों, लोकोक्तियों, सूक्तियों, शेरों-शायरी का भी प्रयोग करते हैं। फिल्मी गीतों के गानों को भी थोड़ा बहुत परिवर्तित कर, अपनी बात बहुत सलीके से कह जाते हैं। वे शब्दों, वाक्यों के क्रम उलट-पुलट कर कहने की शैली अपनाते हैं। अपनी जरूरत के अनुसार नये शब्दों के गठन में भी सिद्धहस्त हैं। वे शब्दों में नाद-योजना का भी ख्याल रखते हैं। ताकि ध्वन्यात्मक एवं दृश्यात्मक चित्रों को

भी पाठकों के मन-मस्तिष्क में उकेरा जा सके। वे एक उत्कृष्ट साहित्यकार और पत्रकार दोनों थे। व्यंग्य विधा में उन्हें महारत हासिल थी। उनकी भाषा में पैनापन, तीखापन, चुटीलापन, गुदगुदापन सब कुछ मौजूद है। वे भाषा की अभिधा, लक्षणा, व्यंजना, तीनों शक्तियों का बखूबी प्रयोग करते हैं। भाषा में प्रतीकात्मकता और संकेतिकता के भी गुण हैं। वे अर्थवत्ता के कई संस्तरों की सृष्टि करते हैं। वे संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, जनभाषा के प्रचलित शब्दों और बोलियों का भी बखूबी प्रयोग करते हैं। उनकी भाषा में ब्रज का प्रभाव ज्यादा है। सच मायने में व्यंग्य लिखना तलवार की धार पर चलने के समान है। उनके अनुसार, “भाषा एक नदी के समान है जो अपना रुख और तेवर सदैव बदलती रहती है। अपने तटबंधों को स्वयं काटती रहती है। कभी वह संक्षिप्त होती है तो कभी उफनती है।...उसके प्रवहमान वेग में न जाने कितने दुस्साहसी डूब-डूब गए हैं। इसलिए मैंने भाषा को मुक्त रूप में स्वीकार किया है।”

संक्षेप में वे एक प्रखर, सजग एवं सूक्ष्म व्यंग्यकार हैं। उनमें कल्पना शक्ति, विचार तत्त्व, व्यंग्य-विनोद के साथ-साथ सूचनाओं का भंडार हैं। वे इतिहास एवं भविष्य को भी ओझल नहीं होने देते। उन्हें प्रत्यक्ष के साथ-साथ अप्रत्यक्ष को भी देखने की दृष्टि प्राप्त है। उनके कॉलम में सूचना, मनोरंजन, विचार, भावनाएँ, दर्शन, साहित्य सब कुछ का पुट है। उनके कॉलम साहित्यिक आनंद की दुनिया की सृष्टि करने में सक्षम हैं। उनके व्यंग्य दुनिया को पहले से और बेहतर बनाने का संकल्प लिये चलते हैं।

संपर्क: असि. प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, एस.बी. कॉलेज, चाण्डिल कोल्हान वि.वि.

मो. 790309490, Email: rajeev_ranjan0100@rediffmail

जैसे आज कोरोना-वायरस महामारी बनकर पूरे विश्व में तांडव मचा रहा है, वैसे ही आज से 105 वर्ष पूर्व 1896 ई. में भारत में प्लेग की महामारी फैली थी। वह महामारी भी तब चीन से ही भारत में दाखिल हुई थी। उस समय के एवं बाद के अनेक लेखकों ने उस महामारी का वर्णन या उल्लेख किसी-न-किसी रूप में अपने लेखन में किया है। पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी गंभीर लेखक के रूप में जाने जाते हैं। बहुत कम लोगों को पता है कि उनमें विनोद की भी प्रवृत्ति थी और वे मँजे हुए व्यंग्यकार भी थे। प्लेग महामारी पर उनकी एक हास्य-व्यंग्यात्मक रचना 'प्लेगस्तवराज' शीर्षक से 'भारत मित्र' के 19 मार्च, 1900 अंक में प्रकाशित हुई थी। प्रस्तुत है उस रचना के कुछ अंश। **अतिथि संपादक**

प्लेगस्तवराज

पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी

अथ स्तवराजः। हे प्लेग! हे प्लेगराज! हे मारकासुर! आपको हम किस नाम से पुकारें? विष्णुसहस्रनाम के समान यदि एक प्लेग सहस्रनाम बनता तो भी आपके नामों की गणना निःशेष न होती। कोई आपको मरी कहता है, कोई विसर्प कहता है, कोई प्लेग कहता है और कोई ग्रंथिक सन्निपात कहता है। परंतु ठीक-ठीक कोई नहीं कह सकता कि आप कौन हैं। रूप तो आपका समझ में आ गया है, परंतु नाम अभी तक किसी को समझ में नहीं आया। अतः हे बोखार के खालू! हे बद के दादा! हे सन्निपात के प्रपितामह! आप तब-तक यही नाम ग्रहण करें!

आप ब्रह्मा हैं। इसमें कोई संदेह नहीं। नहीं, नहीं, ब्रह्मा से भी आप बड़े हैं। ब्रह्मा बिचारे को उत्पन्न करना ही आता है, मारना नहीं आता। मार वह एक खटमल तक भी नहीं सकता। परंतु आप विलक्षण स्वयंभू देव क्या दानव हैं। बिना सूचना के, बिना पूर्व रूप के, अकस्मात् कुश्क में रूसी सेना के समान, आप प्रकट हो जाते हैं और एक-एक का संहार करते जाते हैं। अतः हे रुद्रब्रह्मरूपिणे युगपत् सृष्टिसंहारकारिणे तुभ्यं नमोस्तु।

हे सर्वापहारिन्! जिस कृपाकटाक्ष से, जिस दयार्द्रभाव से, जिस प्रेमदृष्टि से आप इस समय डॉक्टर और दाइयों को देख रहे हैं, उसका विचार करके बुद्धि चक्कर में आ जाती है। आप ही के प्रभाव से आज-कल इनकी धेली छटके की चल रही है। आपकी कृपा का एक कण इस ओर भी आने दीजिए। स्त्री को पति से, पुत्र को माता से और सेवक को स्वामी से पृथक् होते देख अपने वज्रहृदय को द्रवीभूत होने दीजिए। घरों की तोड़-फोड़ और गृहस्थी के सामान का सत्यानाश होते देख क्या आपका कठोर कलेजा जरा भी नहीं दहलता? आपका स्तवन करने की हममें शक्ति नहीं। हम एक यः कश्चित् मनुष्य हैं। अतः हमारे थोड़े ही कथन को आप बहुत समझिए। हे ज्वर-ज्वालामालिन्! हे प्रतिप्रलयकारिन्! हे करालदंष्ट्राल! हे मनुष्य-क्षयकारक प्रचंड पेंच! अब हम आपका स्तोत्र समाप्त करते हैं। इसका हम यही फल आपसे चाहते हैं कि इस स्तोत्र के पढ़नेवालों की ओर आप कभी भूलकर भी दृक्पात न करें! ॐ शांति! शांति!! शांति!!

इमां प्लेग महाराज! पूजामादाय मामकीम। गच्छ त्वं रौरवं घोरमित आयायि मा पुनः।।

यदक्षरपदभ्रष्टं मात्राहीनंच यद्भवेत्। तत्सर्वं क्षम्यतां प्लेग शिरसा प्रणमाम्यहम्।।

हँसी (संक्षिप्त)

प्रेमचंद

हर देश या जाति का साहित्य उस देश की सर्वोत्तम भावनाओं और विचारों का संग्रह होता है और हालाँकि किसी जाति के साहित्य में हँसी-दिल्लगी को वह स्थान नहीं दिया जाएगा जिसका उसे सर्वसाधारण में अपने प्रचलन की दृष्टि से अधिकार है और प्रेम की भावनाओं को उससे ऊँचा स्थान दिया जाता है जो एक सीमाबद्ध भावना है और जिसका प्रभाव मानव-जीवन के लिए एक विशेष अंग तक सीमित है, तब भी यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि उनका प्रभाव हर एक साहित्य पर स्पष्ट है और चूँकि हँसने-हँसाने की इच्छा हर दिल में रहती है, हास्य-कृतियाँ पसंद भी की जाती हैं। अंग्रेजी में शेक्सपियर का मसखरा फॉल्स्टाफ, स्पेनी लिटरेचर का डान कुइकजोट और उर्दू लिटरेचर का खोजी कैसे गम भुला देने वाले हैं। कितने रंज और गम के सताए हुए दिल उनके एहसानमंद हैं। यह कहने में कोई अत्युक्ति नहीं कि गद्य हो या पद्य, हँसी-दिल्लगी उसकी आत्मा है और उसके बगैर वह रूखी-सूखी और बेमजा रहती है।

विद्वानों ने हँसी को छः श्रेणियों में विभाजित किया है—

1. होंठों-ही-होंठों में मुस्कराना, 2. खुलकर मुस्कराना, 3. खिलखिलाना, 4. जोर से हँसना, 5. कहकहे लगाना, 6. हँसते-हँसते पेट में बल पड़ जाना और आँखों से आँसू बहने लगना।

इनमें पहली और दूसरी किस्मों का स्थान सबसे ऊँचा है, तीसरी और चौथी का मध्यम और पाँचवीं और छठी किस्में सबसे निकृष्ट समझी जाती हैं और उनकी गिनती अशिष्टता में होती है। जिस समय गालों पर हल्की-सी शिकन पड़ती है, नीचे के होंठ फैल जाते हैं, दाँत नहीं दिखाई देते हैं, आँखें चमकने लगती हैं, उसे होठों-ही-होठों में मुस्कराना कहते हैं। जिस हँसी में मुँह लाल और आँखें फूली हुई नजर आती हैं और दाँतों की लड़ियाँ किसी कदर दिखाई देने लगती हैं, उसे खुलकर मुस्कराना कहते हैं। खिलखिलाने की व्याख्या करने की जरूरत नहीं। इसमें आँख कुछ सिकुड़ जाती है। कहकहा लगाना अशिष्टता है, खासतौर बड़े-बूढ़ों के सामने जोर से हँसना बुरी बात है। डाक्टरी दृष्टि से कहकहा तंदुरुस्ती के लिए बहुत अच्छा माना गया है। इससे सीने और फेफड़ों को ताकत पहुँचती है और तबीयत खिल उठती है। मनोविज्ञान के पंडितों का विचार है कि हँसी खुली हुई तबीयत की पहचान है और जिस आदमी के इरादे नेक न हों और जिसके हृदय को शांति और इतमीनान हासिल न हो वह कभी खुलकर नहीं हँस सकता।

हम ऊपर लिख आये हैं कि संस्कृत साहित्य में हँसी-दिल्लीगी के बारे में बड़ी गहरी छान-बीन के साथ विचार किया गया है। उपरोक्त विचार बड़ी हद तक उसी के हैं। अब हम कुछ हास्य-रस के संस्कृत श्लोकों का अनुवाद लिखकर इस लेख को समाप्त करेंगे। उर्दू हास्य की शैली से हम परिचित हैं, संस्कृत साहित्य के भी कुछ उदाहरण देखिए—

1. यह देखिए कुक्कुट मिश्र आए। आपने अपने गुरु से कुल पाँच दिन शिक्षा पायी। सारा वेदांत तीन दिन में पढ़ा है और न्याय को तो फूल की तरह सूँघ डाला है।

2. विष्णु शर्मा नामक किसी दुश्चरित्र विद्वान की बुराई यों की गई है—विष्णु शर्मा हाय-हाय करके रोते और कहते थे कि मेरे जिस मस्तक पर मंत्रों से पवित्र किया गया, पानी छिड़का गया था उसी पर प्रेमिका के पवित्र हाथों ने तड़ातड़ चपत लगाई।

3. एक कोमल भावनाओं से अपरिचित ब्राह्मण अपनी प्रेमिका से कहता है—ए देवी, मेरे ये होंठ सामवेद गाते-गाते पवित्र हो गये हैं। इन्हें तुम जूठा मत करो। अगर तुमसे किसी तरह नहीं रहा जाता, तो मेरे बायें कान को ही मुँह में लेकर चुबलाओ।

4. जबान कट नहीं जाती, सर फट नहीं जाता, तब फिर जो कुछ मुँह में आये कह डालने में हर्ज ही क्या है। निर्लज्ज व्यक्ति विद्वान बनने में आगा-पीछा क्यों करे?

5. दो औरतों वाले मर्द की हालत उस चूहे की सी होती है जिसके बिल में साँप है और बिल के बाहर बिल्ली।

6. दामाद दसवाँ ग्रह है। वह हमेशा टेढ़ा और तीखा रहता है, हरदम पूजा की माँग किया करता है और हमेशा कन्याराशि पर चढ़ा रहता है।

7. जैनियों का मजाक उड़ाते हुए एक लेखक कहता है कि ये लोग एकांत में भी सुंदरी के लाल-लाल होंठों से बचे रहते हैं, क्योंकि होंठ में दाँत लगाने से उन्हें माँसाहार का आरोप लगाने का भय है।

8. एक जिंदादिल बुद्धा कहता है—क्या करें सिर के बाल सफेद हो गये हैं, गालों पर झुर्रियाँ पड़ गई हैं, दाँत टूट गये हैं, पर इन सब बातों का मुझे कुछ दुख नहीं। हाँ, जब रास्ते में मृगनयनी सुंदरियाँ मुझे देखकर पूछती हैं, “बाबा किधर चले?” तो उनका यह पूछना मेरे दिल में बिजलियाँ गिरा देता है। (प्रेमचंद रचनावली, खंड-7 से)

“पुराने जमाने के हीरो का आम कायदा है कि वह उसी वक्त पैदा होते हैं जब उसके निराश माँ-बाप पहुँचे हुए फकीरों और अल्लाह के दोस्तों की चौखटों पर माथा रगड़ते-रगड़ते बूढ़े हो जाते हैं। मजनूँ ने भी यही ढंग अपनाया। आप पैदा हुए तो बाप ने सारी दौलत लुटा दी। यह बच्चा माँ के पेट से आशिक पैदा हुआ, बूढ़ी दाई की गोद में उसे चैन न आता, रो-रोकर दुनिया सिर पर उठा लेता मगर जब कोई खूबसूरत औरत गोद में ले लेती तो आप खिल जाते।” (प्रेमचंद)

बायें क्यों चलें?

हरिशंकर परसाई

साधो, इधर कुछ दिनों से मुझे पुलिस—ही—पुलिस नजर आ रही है। सड़क पर, चौराहों पर, कालेजों के आसपास पुलिस—ही—पुलिस होती है। सड़कों पर चलना मुश्किल हो गया है। पुलिस—गाड़ी से लाउडस्पीकर पर आवाज आती है—बायें चलिए। साधो, मैं बड़ी मुश्किल में पड़ जाता हूँ। एक तरफ तो यह हाल है कि जरा भी बायें चलें, तो 'वामपंथी' हो जायें। उसका पीछा चोर—सरीखा होता है, उसकी आत्मकथा सी.आई.डी. लिखती जाती है और उसे कोई सरकारी या गैरसरकारी नौकरी कभी नहीं मिलती। दूसरी तरफ पुलिस खुद कहती है कि बायें चलो। बताओ मैं क्या करूँ? दाहिने बाजू चलने से बड़ा फायदा होता है। इसीलिए बेचारी पी.एस.पी. बायें किनारे से धीरे—धीरे सड़क पार करके दाहिने किनारे पर आ गयी है। साधो, कांग्रेस का यह हाल है कि आधी कांग्रेस बायें किनारे चल रही है और आधी दाहिने किनारे। सड़क के बीचों—बीच अवसरवादी चल रहे हैं। बायें बाजू वाले दाहिने बाजू वालों को आवाज लगाते हैं इधर आ जाओ, एक साथ मिलकर इस देश का निर्माण कर लें। मगर दाहिने बाजू वाले उनसे कहते हैं कि इस तरफ आने से देश का लाभ होगा। साधो, बीच वाले का यह हाल है कि कभी इस बाजू की जय बोलते हैं और कभी उस बाजू की। इस तरह पूरी सड़क पर यह रेला चल रहा है, और मुझसे यह पुलिस मैन कहता है कि बायें चलो!

साधो, मैं ही क्यों बायें तरफ चलूँ? मैं आसपास देखता हूँ कि मेरे जैसे कई विद्रोही हैं। पुलिस लाख कहे, वे सड़क के बायें बाजू नहीं चलेंगे। ये सच्चे गांधीवादी हैं। गांधी जी 50 सालों तक पुलिस से लड़ना सिखाते रहे। भला यह कैसे हो सकता है कि उनकी मृत्यु के 15 साल के बाद ही भारत से गांधीवाद समाप्त हो जाय। जो सच्चे गांधीवादी हैं, वे अभी भी पुलिस को कुछ नहीं समझते। जो पुलिस कहती है, उसका ठीक उलटा करते हैं। वे ठीक बीच चौराहे पर खड़े होकर दोस्तों से सिनेमा के कार्यक्रम तय करते हैं। वे बिना बत्ती साइकिल चलाते हैं। वे बीच शहर में तेज रफ्तार से ट्रक चलाते हैं। वे जुआ खेलते हैं, चोरी करते हैं, झगड़ा करते हैं, दंगा करते हैं। ये विद्रोही

आत्माएँ हैं। इस शताब्दी के आरंभ से इस देश में सत्याग्रह, असहयोग और अवज्ञा आंदोलन चल रहे हैं। गांधी जी के नेतृत्व में हमने यह आंदोलन किये। उन्होंने हमें शिक्षा दी। हमने 50 वर्षों तक इन सबकी अवज्ञा करने का अभ्यास किया जो शासन चलाते हैं। इनमें पुलिस के प्रति हमारा विरोध विशेष रहा है। अब हम पक्के गांधीवादी हो गये हैं। पुलिस कितनी भी कोशिश करे हम उसकी बात नहीं मानेंगे। हम बायें नहीं चलेंगे।

साधो, मैं बड़ा खुश हूँ। अभी लोग काफी विद्रोही हैं। बहुत लोग बायें चलना अपमान का काम समझते हैं। उनसे यह ओछापन नहीं हो सकता कि पुलिस कहे और वे बायें चलने लगे। साधो, कल मैंने 5-6 तरुणों को बीच सड़क पर खड़े खिलखिलाते देखा। आसपास से मोटरें निकल रही हैं, पर वे सब राजा विदेह की तरह बेखबर खड़े हैं। पुलिस की गाड़ी आयी, उनसे बाजू होने के लिए कहा, पर वे बहस करने लगे। मैंने सोचा, ये उच्च गांधीवादी वीर हैं। जान हथेली पर रखकर पुलिस का विरोध कर रहे हैं। अंग्रेज पहले ही चले गये, वरना उनकी गोलियाँ ये वीर ही सीने पर झेलते। ये सच्चे गांधीवादी हैं। मेरा मन हुआ कि इनके चरण छू लूँ। पर जरा आगे बढ़ा तो देखा कि बीच सड़क पर 4-5 भैंसें पड़ी हैं। ठेले निकल रहे हैं, मोटरें निकल रही हैं। मगर वे बैठी ही हैं। मेरे मन में

दुविधा पैदा हुई कि कौन श्रेष्ठ है? मैं किसके चरण छू लूँ—बीच सड़क पर चलने वालों या खड़े होने वालों के या इन भैंसों के? इनमें कौन बड़ा सत्याग्रही है?

साधो, मुझे यह बायें चलना बहुत गलत लगता है। संविधान में जो मौलिक अधिकार लिखे हैं उनमें एक यह भी है कि भारतीय नागरिक भारत में कहीं भी जा सकता है। जब वह कहीं भी जा सकता है, तो बीच सड़क से या दाहिने बाजू से क्यों नहीं चल सकता? आखिर यह प्रजातंत्र है, कोई तानाशाही तो है नहीं। हमें आजादी मिली है तो क्या इसलिए कि मनचाहा चल-फिर न सकें।

साधो, हमारे देश का आदमी नियम मान ही नहीं सकता। वह मुक्त आत्मा है। वह सड़क के बीच चलकर प्राण दे देगा, पर बायें नहीं चलेगा। मरकर स्वर्ग पहुँचेगा, तो वहाँ भी सड़क के नियम नहीं मानेगा। फरिश्ते कहेंगे कि बायें चलो, तो वह दाहिने चलेगा। साधो, आत्मा अमर है। सड़क पर ही दुर्घटना से सिर्फ देह मरती है, आत्मा थोड़े ही मरती है। इस तुच्छ देह के लिए ज्ञानी इतना अनुशासन क्यों सीखे कि सड़क के बायें बाजू चले। साधो, मैं तो पुलिस का भक्त हूँ। सो फौरन बायें बाजू हो जाता हूँ। मैं कायर हूँ। मगर उन्हें नमन करता हूँ, जो सड़क के कोई नियम नहीं मानते।

(परसाई रचनावली से साभार)

“उस गधे को देखो। वह मैदान की सारी घास चर जाने की महत्वाकांक्षा से कितना प्रसन्न है, जैसे कोई लेखक एक विध्वंसक लेख लिखकर साहित्यिक नेता बनने के मनसूबे बाँधे।” (हरिशंकर परसाई)

बुद्धिजीवियों का दायित्व

शरद जोशी

लोमड़ी पेड़ के नीचे पहुँची। उसने देखा ऊपर की डाल पर एक कौवा बैठा है, जिसने मुँह में रोटी दबा रखी है। लोमड़ी ने सोचा कि अगर कौवा गलती से मुँह खोल दे तो रोटी नीचे गिर जाएगी। नीचे गिर जाए तो मैं खा लूँ।

लोमड़ी ने कौवे से कहा, “भैया कौवे! तुम तो मुक्त प्राणी हो, तुम्हारी बुद्धि, वाणी और तर्क का लोहा सभी मानते हैं। मार्क्सवाद पर तुम्हारी पकड़ भी गहरी है। वर्तमान परिस्थितियों में एक बुद्धिजीवी के दायित्व पर तुम्हारे विचार जानकर मुझे बहुत प्रसन्नता होगी। यों भी तुम ऊँचाई पर बैठे हो, भाषण देकर हमें हमें मार्गदर्शन देना तुम्हें शोभा देगा। बोलो, मुँह खोलो कौवे!”

इमरजेंसी का काल था। कौवे बहुत होशियार हो गये थे। चोंच से रोटी निकाल अपने हाथ में ले धीरे-से कौवे ने कहा, “लोमड़ी बाई, शासन ने हम बुद्धिजीवियों को यह रोटी इसी शर्त पर दी है कि इसे मुँह में ले हम अपनी चोंच को बंद रखें। मैं जरा प्रतिबद्ध हो गया हूँ आजकल, क्षमा करें। यों मैं स्वतंत्र हूँ, यह सही है और आश्चर्य नहीं, समय आने पर मैं बोलूँ भी।”

इतना कहकर कौवे ने फिर रोटी चोंच में दबा ली।

चौथा बंदर

एक बार कुछ पत्रकार और फोटोग्राफर गांधी जी के आश्रम में पहुंचे। वहां उन्होंने देखा कि गांधी जी के तीन बंदर हैं। एक आंख बंद किए हैं, दूसरा कान बंद किए हैं, तीसरा मुँह बंद किए हैं। एक बुराई नहीं देखता, दूसरा बुराई नहीं सुनता और तीसरा बुराई नहीं बोलता। पत्रकारों को स्टोरी मिली, फोटोग्राफरों ने तस्वीरें लीं और आश्रम से चले गए।

उनके जाने के बाद गांधी जी का चौथा बंदर आश्रम में आया। वह पास के गांव में भाषण देने गया था। वह बुराई देखता था, बुराई सुनता था, बुराई बोलता था। उसे जब पता चला कि आश्रम में पत्रकार आए थे, फोटोग्राफर आए थे, तो वह बड़ा दुखी हुआ और धड़धड़ाता हुआ गांधी के पास पहुंचा।

सुना बापू, यहां पत्रकार और फोटोग्राफर आए थे। बड़ी तस्वीरें ली गईं। आपने मुझे खबर भी न की। यह मेरे साथ बड़ा अन्याय किया है बापू।

गांधी जी ने चरखा चलाते हुआ कहा, ‘जरा देश को आजाद होने दे बेटे! फिर तेरी ही खबरें छपेंगी, तेरी ही फोटो छपेगी। इन तीनों बंदरों के जीवन में तो यह अवसर एक बार ही आया है। तेरे जीवन में तो यह रोज-रोज आएगा।’

(दुर्भाग्य से आज इन्हीं चौथे बंदरों का जमाना है)

दो बाँके

भगवतीचरण वर्मा

शायद ही कोई ऐसा अभागा हो जिसने लखनऊ का नाम न सुना हो; और युक्तप्रांत में ही नहीं, बल्कि सारे हिंदुस्तान में, और मैं तो यहाँ तक कहने को तैयार हूँ कि सारी दुनिया में लखनऊ की शोहरत है। लखनऊ के सफेदा, आम, लखनऊ के खरबूजे, लखनऊ की रेवड़ियाँ; ये सब ऐसी चीजें हैं जिन्हें लखनऊ से लौटते समय लोग सौगात की तौर पर ले जाया करते हैं, लेकिन कुछ ऐसी भी चीजें हैं जो साथ नहीं ले जायी जा सकतीं, और उनमें लखनऊ की जिंदादिली और लखनऊ की नफासत विशेष रूप से आती हैं।

ये तो वे चीजें हैं, जिन्हें देशी और परदेशी सभी जान सकते हैं, पर कुछ ऐसी भी चीजें हैं जिन्हें कुछ लखनऊवाले तक नहीं जानते, और अगर परदेशियों को इनका पता लग जाय, तो समझिये कि उन परदेशियों के भाग खुल गये। इन्हीं विशेष चीजों में आते हैं लखनऊ के 'बाँके'।

'बाँके' शब्द हिंदी का है या उर्दू का, यह विवादग्रस्त विषय हो सकता है, और हिंदीवालों का कहना है— इन हिंदीवालों में मैं भी हूँ— कि यह शब्द संस्कृत के 'बंकिम' शब्द से निकला है; पर यह मानना पड़ेगा कि जहाँ 'बंकिम' शब्द में कुछ गंभीरता है, कभी-कभी कुछ तीखापन झलकने लगता है, वहाँ 'बाँके' शब्द में एक अजीब बाँकापन है। अगर जवान बाँका—तिरछा न हुआ, तो आप निश्चय समझ लें कि उसकी जवानी की कोई सार्थकता नहीं। अगर चितवन बाँकी नहीं, तो आँख का फोड़ लेना अच्छा है; बाँकी अदा और बाँकी झाँकी के बिना जिन्दगी सूनी हो जाय। मेरे ख्याल से अगर दुनिया से बाँका शब्द उठ जाय, तो कुछ दिलजले लोग खुदकुशी करने पर आमादा हो जायेंगे। और इसीलिए मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि लखनऊ बाँका शहर है, और इस बाँके शहर में कुछ बाँके रहते हैं, जिनमें गजब का बाँकपन है। यहाँ पर आप लोग शायद झल्लाकर यह पूछेंगे— 'म्याँ, यह 'बाँके' है क्या बला? कहते क्यों नहीं?' और मैं उत्तर दूँगा कि आपमें सब्र नहीं; अगर इन बाँकों की एक बाँकी भूमिका नहीं हुई, तो फिर कहानी किस तरह बाँकी हो सकती है!

हाँ, तो लखनऊ शहर में रईस हैं। तवायफें हैं और इन दोनों के साथ शोहदे भी हैं। बकौल लखनऊ वालों के, ये शोहदे ऐसे-वैसे नहीं हैं। ये लखनऊ की नाक हैं। लखनऊ की सारी बहादुरी के ये ठीकेदार हैं और ये जान ले लेने तथा जान दे देने पर आमादा रहते हैं। अगर लखनऊ से ये शोहदे हटा दिये जायें, तो लोगों का यह कहना 'अजी,

लखनऊ तो जनानों का शहर है—' सोलह आने सच्चा उतर जाय।

जनाब, इन्हीं शोहदों के सरगनों को लखनऊवाले 'बाँके' कहते हैं। शाम के वक्त तहमत पहने हुए और कसरती बदन पर जालीदार बनियाइन पहनकर उसके ऊपर बूटेदार चिकन का कुरता डाटे हुए जब ये निकलते हैं, तब लोग—बाग बड़ी हसरत की निगाहों से उन्हें देखते हैं। उस वक्त इनके पट्टेदार बालों में करीब आध पाव चमेली का तेल पड़ा रहता है, कान में इत्र की अनगिनती, फुरहरियाँ खुँसी रहती हैं और एक बेले का गजरा गले में तथा एक हाथ की कलाई पर रहता है। फिर ये अकेले भी नहीं निकलते, इनके साथ शागिर्द—शोहदों का जलूस रहता है, एक—से—एक बोलियाँ बोलते हुए, फबतियाँ कसते हुए और शेखियाँ हाँकते हुए। उन्हें देखने के लिए एक हजूम उमड़ पड़ता है।

तो उस दिन मुझे अमीनाबाद से नख्खास जाना था। पास में पैसे कम थे; इसलिए जब एक नवाब साहब ने आवाज दी, 'नख्खास' तो मैं उचककर उनके इक्के पर बैठ गया। यहाँ बतला देना बेजा न होगा कि लखनऊ के इक्केवालों में तीन—चौथाई शाही खानदान के हैं, और यही उनकी बदकिस्मती है कि उनका वजीफा बंद या कम कर दिया गया, और उन्हें इक्का हाँकना पड़ रहा है।

इक्का नख्खास की तरफ चला और मैंने मियाँ इक्केवाले से कहा— "कहिये नवाब साहब! खाने—पीने भर को तो पैदा कर लेते हैं?"

इस सवाल का पूछा जाना था कि नवाब साहब के उद्गारों के बाँध का टूट पड़ना था। बड़े करुण स्वर में बोले— "क्या बतलाऊँ हुजूर, अपनी क्या हालत है, कह नहीं सकता! खुदा

जो कुछ दिखलायेगा, देखूँगा! एक दिन थे जब हम लोगों के बुजुर्ग हुकूमत करते थे। ऐशो—आराम की जिंदगी बसर करते थे; लेकिन आज हमें—उन्हीं की औलाद को—भूखों मरने की नौबत आ गयी। और हुजूर, अब पेशे में कुछ रह नहीं गया। पहले तो ताँगे चले, जी को समझाया—बुझाया, म्याँ, अपनी—अपनी किस्मत! मैं भी ताँगा ले लूँगा, यह तो वक्त की बात है, मुझे भी फायदा होगा; लेकिन क्या बतलाऊँ हुजूर, हालत दिनों—दिन बिगड़ती ही गयी। अब देखिये, मोटरों पर मोटरें चल रही हैं। भला बतलाइये हुजूर, जो सुख इक्के की सवारी में है, वह भला ताँगे या मोटर में मिलने का? ताँगे में पलथी मारकर आराम से बैठ नहीं सकते। जाते उत्तर की तरफ हैं, मुँह दक्खिन की तरफ रहता है। अजी साहब, हिन्दुओं में मुरदा उलटे सिर ले जाया जाता है, लेकिन ताँगे में लोग जिन्दा ही उलटे सिर चलते हैं। और जरा गौर फरमाइये! ये मोटरें शैतान की तरह चलती हैं, वह बला की धूल उड़ाती हैं कि इन्सान अंधा हो जाय। मैं तो कहता हूँ कि बिना जानवर के आप चलनेवाली सवारी से दूर ही रहना चाहिए, उसमें शैतान का फेर है।

इक्केवाले नवाब और न जाने क्या—क्या कहते, अगर वे 'या अली!' के नारे से चौंक न उठते।

सामने क्या देखते हैं कि एक आलम उमड़ा पड़ा है। इक्का रकाबगंज के पुल के पास पहुँचकर रुक गया।

एक अजीब समौ था। रकाबगंज के पुल के दोनों तरफ पन्द्रह हजार की भीड़ थी; लेकिन पुल पर एक आदमी नहीं। पुल के एक किनारे करीब पचीस शोहदे लाठी लिये हुए खड़े थे, और दूसरे किनारे भी उतने ही। एक खास बात और थी कि पुल के एक सिरे पर सड़क के

बीचों-बीच एक चारपाई रक्खी थी, और दूसरे सिरे पर भी सड़क के बीचों-बीच दूसरी। बीच-बीच में रुक-रुककर दोनों ओर से 'या अली!' के नारे लगते थे।

मैंने इक्केवाले से पूछा—"क्यों म्यों, क्या मामला है?"

म्यों इक्केवाले ने एक तमाशाई से पूछकर बतलाया— 'हुजूर, आज दो बाँकों में लड़ाई होने वाली है, उसी लड़ाई को देखने के लिए यह भीड़ इकट्ठी है।'

मैंने फिर पूछा—"यह क्यों?"

म्यों इक्केवाले ने जवाब दिया— "हुजूर, पुल के इस पार के शोहदों का सरगना एक बाँका है और उस पार के शाहदों का सरगना दूसरा बाँका। कल इस पार के एक शोहदे से पुल के उस पार के दूसरे शोहदे का कुछ झगड़ा हो गया और उस झगड़े में कुछ मारपीट हो गयी। इस फिसाद पर दोनों बाँकों में कुछ कहा-सुनी हुई और उस कहा-सुनी में ही मैदान बद दिया गया।"

चुप होकर मैं उधर देखने लगा। एकाएक मैंने पूछा— "लेकिन ये चारपाइयाँ क्यों आयी हैं?"

"अरे हुजूर! इन बाँकों की लड़ाई कोई ऐसी-वैसी थोड़ी होगी; इसमें खून बहेगा और लड़ाई तब-तक खत्म न होगी, जब तक एक बाँका खत्म न हो जाय। आज तो एक-आध लाश गिरेगी। ये चारपाइयाँ उन बाँकों की लाश उठाने आई हैं। दोनों बाँके अपनी बीबी-बच्चों से रुखसत लेकर और कर्बला के लिए तैयार होकर आवेंगे।"

इसी समय दोनों ओर से 'या अली!' की एक बहुत बुलन्द आवाज उठी। मैंने देखा कि पुल के दोनों तरफ हाथ में लाठी लिये हुए दोनों बाँके

आ गये। तमाशाइयों में एक सकता-सा छा गया; सब लोग चुप हो गये।

पुल के इस पार वाले बाँके ने कड़ककर उत्तर दिया— "उस्ताद, आज खून हो जायेगा, खून!"

पुल के उस पार वाले बाँके ने कहा— "उस्ताद, आज लाशें गिर जायेंगी, लाशें!"

पुल के इस पार वाले बाँके ने कहा— "उस्ताद, आज कहर हो जायेगा, कहर!"

पुल के उस पार वाले बाँके ने कहा— "उस्ताद, आज कयामत बरपा हो जायेगी, कयामत!"

चारों ओर एक गहरा सन्नाटा फैला था। लोगों के दिल धड़क रहे थे, भीड़ बढ़ती ही जा रही थी।

पुल के इस पार वाले बाँके ने लाठी का एक हाथ घुमाकर एक कदम बढ़ते हुए कहा— "तो फिर उस्ताद होशियार!"

पुल के इस पार वाले बाँके के शागिर्दों ने गगन-भेदी स्वर में नारा लगाया— "या अली!"

पुल के उस पार वाले बाँके ने भी लाठी का एक हाथ घुमाकर एक कदम बढ़ते हुए कहा, "तो फिर उस्ताद सम्हलना!"

पुल के उस पार वाले बाँके के शागिर्दों ने गगन-भेदी स्वर में नारा लगाया— "या अली!"

दोनों तरफ से दोनों बाँके, कदम-ब-कदम लाठी के हाथ दिखलाते हुए तथा एक-दूसरे को ललकारते आगे बढ़ रहे थे, दोनों तरफ के बाँकों के शागिर्द हर कदम पर "या अली!" के नारे लगा रहे थे, और दोनों तरफ के तमाशाइयों के हृदय उत्सुकता, कौतूहल तथा इन बाँकों की वीरता के प्रदर्शन के कारण धड़क रहे थे।

पुल के बीचों-बीच, एक-दूसरे से दो कदम की दूरी पर दोनों बाँके रुके। दोनों ने एक-दूसरे को थोड़ी देर गौर से देखा। फिर दोनों बाँकों

की लाठियाँ उठीं, और दाहिने हाथ से बायें हाथ में चली गयीं।

इस पार वाले बाँके ने कहा— “फिर उस्ताद!”

उस पार वाले बाँके ने कहा— “फिर उस्ताद!”

इस पार वाले बाँके ने अपना हाथ बढ़ाया, और उस पार वाले बाँके ने अपना हाथ बढ़ाया। और दोनों के पंजे गुँथ गये।

दोनों बाँकों के शागिर्दों ने नारा लगाया— “या अली!”

फिर क्या था! दोनों बाँके जोर लगा रहे हैं; पंजा टस—से—मस नहीं हो रहा है। दस मिनट तक तमाशबीन सकते की हालत में खड़े रहे।

इतने में इस पार वाले बाँके ने कहा— “उस्ताद, गजब के कस हैं!”

उस पार वाले बाँके ने कहा— “उस्ताद बला का जोर है!”

इस पार वाले बाँके ने कहा— “उस्ताद, अभी तक मैंने समझा था कि मेरे मुकाबिले का लखनऊ में कोई दूसरा नहीं है।”

उस पार वाले बाँके ने कहा— “उस्ताद, आज कहीं जाकर मुझे अपनी जोड़ का जवाँ मर्द मिला!”

इस पार वाले बाँके ने कहा— “उस्ताद, तबीअत नहीं होती कि तुम्हारे जैसे बहादुर आदमी का खून करूँ!”

उस पार वाले बाँके ने कहा— “उस्ताद, तबीअत नहीं होती कि तुम्हारे जैसे शेरदिल आदमी की लाश गिराऊँ!”

थोड़ी देर के लिए दोनों मौन हो गये; पंजा गुँथा हुआ, टस—से—मस नहीं हो रहा है।

इस पार वाले बाँके ने कहा— “उस्ताद, झगड़ा किस बात का है?”

उस पार वाले बाँके ने कहा— “उस्ताद, यही सवाल मेरे सामने है!”

इस पार वाले बाँके ने कहा— “उस्ताद, पुल के इस तरफ के हिस्से का मालिक मैं!”

उस पार वाले बाँके ने कहा— “उस्ताद, पुल के इस तरफ के हिस्से का मालिक मैं!”

और दोनों ने एक साथ कहा— “पुल की दूसरी तरफ से न हमें कोई मतलब है और न हमारे शागिर्दों को!”

दोनों के हाथ ढीले पड़े, दोनों ने एक—दूसरे को सलाम किया और फिर दोनों घूम पड़े। छाती फुलाए हुए दोनों बाँके अपने शागिर्दों से आ मिले। बिजली की तरह यह खबर फैल गयी कि दोनों बाँके बराबर की जोड़ छूटे और उनमें सुलह हो गयी।

इक्केवाले को पैसे देकर मैं वहाँ से पैदल ही लौट पड़ा क्योंकि देर हो जाने के कारण नख्खास जाना बेकार था।

इस पार वाला बाँका अपने शागिर्दों से घिरा हुआ चल रहा था। शागिर्द कह रहे थे— “उस्ताद, इस वक्त बड़ी समझदारी से काम लिया, वरना आज लाशें गिर जातीं।”— “उस्ताद हम सब—के—सब अपनी—अपनी जान दे देते!”— “लेकिन उस्ताद गजब के कस हैं।”

इतने में किसी ने बाँके से कहा— “मुला स्वाँग खूब भरयो!”

बाँके देखा कि एक लंबा और तगड़ा देहाती, जिसके हाथ में एक भारी—सा लट्ठ है, सामने खड़ा मुस्कुरा रहा है।

उस वक्त बाँके खून का घूँट पीकर रह गये। उन्होंने सोचा— एक बाँका दूसरे बाँके से ही लड़ सकता है, देहातियों से उलझना उसे शोभा नहीं देता।

और शागिर्द भी खून का घूँट पीकर रह गये। उन्होंने सोचा— भला उस्ताद की मौजूदगी में उन्हें हाथ उठाने का कोई हक भी है?

नये वर्ष की नयी डायरियाँ

लक्ष्मीचंद्र जैन

अनेक डायरियों का एक पृष्ठ: 1 जनवरी 1960 (कुछ—कुछ लिखा हुआ: कुछ सोचा हुआ)

एक नागरिक की डायरी से

नया साल। नयी डायरी। नया पृष्ठ। बड़ा भला लग रहा है। जी होता है, अपने सभी मित्रों को शुभकामनाओं के पत्र भेजूँ। किंतु सोचता हूँ, नये साल के बारे में सभी मित्रों की एक राय नहीं। स्वाधीन भारत का निवासी अपने पुराने विदेशी प्रभुओं द्वारा चलाये गये नये साल को आज भी अपना नया साल माने, यह शोभा नहीं देता। तब फिर हमारा नया दिन कौन—सा है? कोई 26 जनवरी की बात करता है, कोई 15 अगस्त की। कहीं दिवाली से साल शुरू होता है, कहीं चैत से। सरकारी चिट्ठे का साल और हमारी पंचवर्षीय योजनाओं का साल भी शायद अप्रैल से शुरू होता है— ठीक भी है। पहली अप्रैल— मूर्खों का दिन। नहीं, आज नये वर्ष की मंगलकामनाओं के दिन मुझे कोई कड़वी या व्यंग्य की बात नहीं कहनी चाहिए। हर चीज का उज्ज्वल पक्ष देखना चाहिए। हमारे देश में आबादी बढ़ रही है, सरकारी नौकर बढ़ रहे हैं, बजट के आँकड़े बढ़ रहे हैं, थानों एवं कचहरियों में काम बढ़ रहा है, बाजार में चीजों का भाव बढ़ रहा है, विश्वविद्यालयों में अनुशासन का अभाव बढ़ रहा है। 'बढ़ना' शब्द में जो विशालता, जो ऊँची दृष्टि है, आज के दिन हमें उसी का चिंतन मनन करना चाहिए। गोरखपुर की गीता डायरी मैंने खरीदी है। मुझे यही पसंद है। इसमें भी नया साल पहली जनवरी से प्रारंभ होता है। इसी को प्रामाणिक मानना चाहिए। यह पृष्ठ भगवान की वाणी से प्रारंभ होता है—

“धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः। मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय॥”

भगवान ने कुरुक्षेत्र को धर्मक्षेत्र कहा है। कैसी अच्छी दृष्टि है। वहाँ युद्ध भी हो रहा है और धर्म की स्थापना भी है। इसी को कहते हैं पवित्र भाव। मैं भी अपने राष्ट्र के दोषों को नहीं देखूँगा। दोषों में भी गुण खोजूँगा। महंत जी के उपदेश का पालन करूँगा। उनके चरित्र में दोष है, वह नशा—पानी करते हैं, नेहरू जी की निंदा करते हैं, इस बात की ओर मेरा ध्यान नहीं जायेगा। मैं डायरी रोज लिखूँगा। बजट के हिसाब से चलूँगा। आलस नहीं करूँगा। नीचे उन सब प्रतिज्ञाओं को पुनः लिख लेता हूँ, जो पिछले साल 1 जनवरी को लिखी थीं। डायरी रखने से बड़ा लाभ है। गीता डायरी के प्रत्येक श्लोक का रोज पाँच बार पाठ किया करूँगा। इससे बड़ी शांति मिलती है। 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे...' कितनी अच्छी बात कही है! कुरुक्षेत्र भी है और धर्मक्षेत्र भी है। कैसी अच्छी दृष्टि है! आज वह दृष्टि कहाँ?

पुनश्च: वर्ष में 500 रुपये से अधिक उधार नहीं लूँगा। व्यायाम करूँगा।

एक पाठक की टिप्पणी

इस पृष्ठ को पढ़कर मुझे इस डायरी लेखक पर तरस आ रहा है। मैं उसे बताना चाहता हूँ कि आज भी धर्मक्षेत्र और कुरुक्षेत्र साथ—साथ चल रहे हैं। पेरिस और जिनेवा आज के धर्मक्षेत्र और कुरुक्षेत्र हैं। वहाँ युद्ध की इच्छा रखने वाले बड़े—बड़े महारथी इकट्ठे होते हैं और धर्म की, शांति की बात करते हैं। दुनिया भर के संजय (रिपोर्टर) इकट्ठे होकर उनके क्रिया—कलाप का वायरलेस द्वारा वर्णन करते हैं। आशा है, यह टिप्पणी पढ़कर उस नागरिक की धार्मिक आस्था बढ़ेगी और इससे स्वयं उसे, राष्ट्र को, नेहरू जी को और महंत जी को लाभ पहुँचेगा।

मूँछ नहीं तो कुछ नहीं (संक्षिप्त)

के.पी. सक्सेना

यूँ तो पूरे शहर में हमारा घराना लल्लू पंजू गिना जाता था, मगर एक चीज की हनक थी कि लोग डरते-डरते दर्शनार्थ आते थे। क्या चीज? मूँछ! रिश्तेदारी में हमारा घर 'मूँछों वाला घर' के नाम से मशहूर था।

दादा जी खौफनाक पावभर की मूँछ रखते थे, जो भेड़िये के दुम के सिरे जैसी घनी थी और थोड़ा झुककर ऊपर उठ गयी थी। मूँछ दर्शन को आये लोग कहते थे, "हाय! अब ऐसी मूँछ इंडिया में क्यों नहीं पैदा होती? दादी जी से ज्यादा दादा जी मूँछ की हेल्थ का ध्यान रखते थे। रात में कटोरी भर मलाई खाते, पर आधी मलाई मूँछों के हिस्सों में आती थी। परिवार के हर सदस्य को सख्त ताकीद थी कि कवाब, पराठा या हलवा जैसी चिकनी चीजें खाने के बाद घर वाले अपने हाथ तौलिये के बजाय दादा जी की मूँछ में पोंछें, ताकि शाइन बनी रहे।

पिता जी का दौर आया। वह अपनी मूँछ मोम और जाने किस-किस लोशन की मदद से ठीक दस बजकर दस मिनट पर खड़ी रखते थे। अम्मा-करवा चौथ पर बाबू जी की मूँछों का व्रत रखती थीं कि घड़ी की सुइयाँ नीचे न सरकने पाएँ।

जब हमारी शादी हुई तो दुल्हन ने हमें आँख भरकर देखा भी नहीं और खुशी से उछलकर वरमाला हमारी ठीक सवा नौ बजाती मूँछों पर डाल दी। बकाया के.पी. सक्सेना पर वह बाद में फिदा हुई। उन दिनों आई लव यू कहने का रिवाज नहीं था। वरना कह उठती, "डियर आई लव योर मुस्टैशेज ओनली।"

आज जो हमारे इकलौते वन पीस नूरचश्म साहबजादे उम्र को आ लगे, तो हमें चिंता सवार हुई कि कहीं उनकी मूँछें गलत राह न पकड़ लें। हमने उनकी माँ को बुलाया और पूछा, "आपके प्रिंस कहाँ हैं?" वे बोलीं, "अभी-अभी कॉलेज में हड़ताल कराकर और एकाध बस फूँककर थका-मादा लौटा है।" हमने कहा, "प्रभु कृपा से अब उनकी नाक तले टेरेलीन जैसी नर्म महीन मूँछ उगने लग पड़ी है। सोचा कि लाओ जरा उनकी मूँछ की प्लानिंग और डेवलपमेंट कर दें।" जब साहबजादे आये, तो हमारी नजर उनके चेहरे पर पड़ी। हम घबरा गये। बाप-दादों की मूँछ की अजमत जैसे चूहे कतरते जा रहे थे। मूँछ के नाम पर नाक तले दोनों तरफ जैसे मरी हुई चुहिया की दुम लटकी थी। बीच में सफाचट। दुखी स्वर में पूछा, "आपकी बाकी मूँछ कहाँ हैं?" वे बोले, "डेडी, मूँछ भी कोई गैरमुनासिब धन है, जिसे स्वीस बैंक में रख दूँगा? दिस इज चाइनीज स्टाइल ऑफ मूँछ।" हमने सिर पीट लिया। दहाड़कर कहा, "नामाकूल, फोटो में अपने पर दादा की गबरू मूँछ देख, दादा की टेन बाई टेन मूँछों पर नजर डाल। मेरी मूँछ देख। इस उम्र में भी राइट टाइम सवा नौ बजा रही है और तेरी यह नाकिस मूँछ उठती जवानी में ही लटक कर साढ़े छह बजा रही है? लानत है।" साहबजादे चुपचाप बाहर हो गये।

मेरा दुख भाँपकर पत्नी ने समझाया, "आज जब ईमान, इंसाफ, इंसानियत, सच्चाई सब कुछ गड्ढे में जा रहा है, तो मूँछ कहाँ तक उठी रह सकती है? मुझे यही खुशी क्या कम है कि मेरी खुशी इन सवा नौ बजाती अधेड़ मूँछों से जिंदा है।"

मैंने उसकी नम आँखें पोंछ दी। (साभार)

हमारा मुल्क

इब्ने इंशा

“ईरान में कौन रहता है?”

“ईरान में ईरानी कौम रहती है।”

“इंगलिस्तान में कौन रहता है?”

“इंगलिस्तान में अंग्रेजी कौम रहती है।”

“फ्रांस में कौन रहता है?”

“फ्रांस में फ्रांसीसी कौम रहती है।”

“ये कौन-सा मुल्क है?”

“ये पाकिस्तान है।”

“इसमें पाकिस्तानी कौम रहती होगी?”

“नहीं, इसमें पाकिस्तानी कौम नहीं रहती है। इसमें सिंधी कौम रहती है। इसमें पंजाबी कौम रहती है। इसमें बंगाली कौम रहती है। इसमें यह कौम रहती है। इसमें वह कौम रहती है।”

“लेकिन पंजाबी तो हिंदुस्तान में भी रहते हैं। सिंधी तो हिंदुस्तान में भी रहते हैं। फिर से अलग मुल्क क्यों बनाया था?”

“गलती हुई, माफ कर दीजिए, आइंदा नहीं बनायेंगे।”

(उर्दू की आखिरी किताब से साभार)

“यदि आप बीमार हों, तो डॉक्टर को जरूर दिखाइये, क्योंकि डॉक्टर को जिंदा रहना है। नुस्खे में लिखी दवाएँ जरूर खरीदिए, क्योंकि मेडिकल स्टोर वाले को जिंदा रखना है और अंत में वे दवाएँ नाली में फेंक दीजिए, क्योंकि आप को भी जिंदा रहना है।” (प्रो. आत्मानंद मिश्र)

“ऊँचे नेता अपने बच्चों की लाश पर नहीं बनते, मुन्नी के बापू! औरों के बच्चों की लाश पर बनते हैं। और ये औरों के बच्चे भी कोठीवालों, ओहदेवालों, टोपीवालों के नहीं... हम जैसे मूली-गाजरों, हल-फावड़ों, नंगे-सिरवालों के होते हैं।” (शंकर पुणतांबेकर)

भारतेन्दु की मुकरियाँ

सब गुरुजन को बुरो बतावै,
अपनी खिचड़ी अलग पकावै।
भीतर तत्व न झूठी तेजी,
क्यों सखि साजन, नहिं अँगरेजी।

तीन बुलाए तेरह आवैं,
निज निज बिपता रोइ सुनावैं
आँखों फूटे भरा न पेट,
क्यों सखि सज्जन, नहिं ग्रेजुएट।

रूप दिखावत सरबस लूटै,
फंदे मैं जो पड़ै न छूटै।
कपट कटारी जिय में हुलिस,
क्यों सखि साजन, नहिं पुलिस।

दगा की निराला

चेहरा पीला पड़ा।
रीढ़ झुकी।
हाथ जोड़े।
आँख का अंधेरा बढ़ा।
सैकड़ों सदियाँ गुजरीं।
बड़े-बड़े ऋषि आये, मुनि आये, कवि आये,
तरह-तरह की वाणी जनता को दे गये।
किसी ने कहा कि एक तीन हैं,
किसी ने कहा कि तीन तीन हैं।
किसी ने नसें टोई, किसी ने कमल देखे।
किसी ने विहार किया, किसी ने अँगूठे चूमे।
लोगों ने कहा कि धन्य हो गये।
मगर खंजड़ी न गई।
मृदंग तबला हुआ,
वीणा सुर-बहार हुई।
आज पियानों के गीत सुनते हैं।
पौ फटी।
किरणों का जाल फैला।
दिशाओं के होंठ रंगे।

दिन में, वेश्याएँ जैसे रात में।
दगा की इस सभ्यता ने दगा की।

जनकवि नागार्जुन

मैं भी तो पहले देखा करता था सपने
साथी, अब तो रंग-ढंग ही बदल गए हैं
समझ गया हूँ
जीवन में इस धरा-धाम का क्या महत्व है
कैसे कहलाता कोई धरती का बेटा
आसमान में सतरंगी बादल पर चढ़कर
कैसे जनकवि धान रोपता
समझ गया हूँ
कैसे जनकवि जमींदार के उन अमलों को
मार भगाता
हरे बांस की हरी-हरी वह लाठी लेकर!

देखिए न मेरी कार गुजारी अज्ञेय

अब देखिए न मेरी कारगुजारी
कि मैं मँगनी के घोड़े पर
सवारी कर
ठाकुर साहब के लिए उन की रियाया से लगान
और सेठ साहब के लिए पंसार-
हट्टे की हर दूकान
से किराया
वसूल कर लाया हूँ।
थैली वाले को थैली
तोड़े वाले को तोड़ा
—और घोड़े वाले को घोड़ा।
सब को सब का लौटा दिया
अब मेरा यह घमंड है
कि सारा समाज मेरा एहसानमंद है।

फुलझड़ी

हुल्लड़ मुरादाबादी

कविता जब पढ़ने लगे कविवर बंटाधार।
जनता चीखी जोर से— कविता है बेकार।
कविता है बेकार, और नहीं ये आपकी,
पढ़ रहे हो मित्र तुम, कविता अपने बाप की।
कह हुल्लड़ कविराय, यूँ बोले एक मुनीम,
कविता लिखना छोड़ दो, बेचो आइसक्रीम।

विरोधाभास

हुक्का

नगर में
शांति समिति की बैठक
अजब रंग लायी,
सदस्यों में
शांति स्थापित करने के
प्रस्ताव पर
बहस करते—करते
हो गयी हाथापाई।

कुत्ता

धूमिल

उसकी सारी शख्सियत
नखों और दाँतों की वसीयत है
दूसरों के लिए
वह एक शानदार छलांग है
अंधेरी रातों का
जागरण है नींद के खिलाफ
नीली गुर्राहट है
अपनी आसानी के लिए तुम उसे
कुत्ता कह सकते हो।
उस लपलपाती हुई जीभ

और हिलती हुई दुम के बीच
भूख का पालतूपन
हरकत कर रहा है
उसे तुम्हारी शराफत से कोई वास्ता
नहीं है उसकी नजर
न कल पर थी
न आज पर है
सारी बहसों से अलग
वह हड्डी के एक टुकड़े और
कौर भर
(सीझे हुए) अनाज पर है
साल में सिर्फ एक बार
अपने खून से जहर मोहरा तलाशती हुई
मादा को बाहर निकालने के लिए
वह तुम्हारी जंजीरों से
शिकायत करता है
अन्यथा, पूरा का पूरा वर्ष
उसके लिए घास है
उसकी सही जगह तुम्हारे पैरों के पास है।
मगर तुम्हारे जूतों में
उसकी कोई दिलचस्पी नहीं है
उसकी नजर
जूतों की बनावट नहीं देखती
और न उसका दाम देखती है
वहाँ वह सिर्फ बित्ता—भर
मरा हुआ चाम देखती है
और तुम्हारे पैरों से बाहर आने तक
उसका इंतजार करती है।
(पूरी आत्मीयता से)
उसके दाँतों और जीभ के बीच
लालच की तमीज जो है तुम्हें

जायकेदार हड्डी के टुकड़े की तरह
प्यार करती है।
और वहाँ हृदय दर्जे की लचक है
लोच है
नमी है
मगर मत भूलो कि इन सबसे बड़ी चीज
वह बेशर्मी है
जो अंत में
तुम्हें भी उसी रास्ते पर लाती है
जहाँ भूख—
उस वहशी को
पालतू बनाती है।

शायरी के चौखटे

सूर्यभानु गुप्त

उम्र के उल्टे पत्तीले हो गये,
बुढ़िया-बूढ़े रसीले हो गये।
ऐसे ठोका प्रेमिका के बाप ने,
प्रेमी के नट-बोल्ट ढीले हो गये।
यों वसंत आया है भारतवर्ष में,
चौखटे जनता के पीले हो गये।
हाय नेता जी के मादक वायदे,
कान पब्लिक के नशीले हो गये।
मुफ्त भी पूछे न अब कोई हमें
हाथियों के नैन गीले हो गये।
उम्र का अनुमान उनको हो गया,
वो इधर जब से सजीले हो गये।
जब से देखे शहर के कुछ आदमी,
शेर जी बेहद लजीले हो गये।
एक मुद्दे हो गये खुद से मिले,
एक मुद्दत घास छीले हो गये।

बस इसी का शोर है

हरिओम बेचैन

चमचागीरी में सभी चमचों को पीछे छोड़कर
चुटकुलों की कतरनों में कुछ घटा कुछ जोड़कर
गीत की गर्दन दबा छंदों के बंधन तोड़कर
मंच पर बैठा हुआ चोरी का कंबल ओढ़कर
खोपड़ी से तिकड़मी है चौखटे से चोर है
आज कवि सम्मेलनों में बस इसी का शोर है।

व्यंग्य बतलाकर मजे से गा रहा है गालियाँ
देखिए हर पंक्ति पर बजवा रहा है तालियाँ
पान के बदले मिली खाने को जैसे छालियाँ
नाम को कविता बताई पेश की कव्वालियाँ
दम नहीं है गीत में पर जम रहा घनघोर है।
आज कवि-सम्मेलनों में बस इसी का शोर है।

फाँस ले संयोजकों को जानता ऐसी कला
हो गयी चिकनी हथेली इस कदर मक्खन मला
एक अद्धे के बिना खुलता नहीं इनका गला
खूब सँके हाथ इसने जब किसी का घर जला
शक्ल से लगता सिकंदर अक्ल से कमजोर है
आज कवि सम्मेलनों में बस इसी का शोर है।

कोयलें चुपचाप हैं कौआ गजब ढाने लगा
देखिए अब कार्टून भी स्टेज पर आने लगा
हास्य रस के नाम पर पैरोडियाँ गाने लगा
आँखें मिचका, मुँह बना, कूल्हों को मटकाने लगा
यह जिएगा जब तलक इसके गले में जोर है
आज कवि सम्मेलनों में बस इसी का शोर है।

होनहार चोर
ओमप्रकाश आदित्य

दोपहरी में चोर द्वार का
तोड़ रहा था ताला।
पुलिसमैन था खड़ा सड़क पर,
बोले उससे लाला—
खड़े-खड़े क्या देख रहे हो,
पकड़ो इसे सिपाही।
कहा सिपाही ने इसको मैं
नहीं पकड़ता भाई।
आगे चलकर यह मेरी
सर्विस खो सकता है।
खुलेआम चोरी करता है,
मंत्री हो सकता है।

शक शंका
काका हाथरसी

एक गाँव में चल रहा था, नसबंदी अभियान।
सहमत थे सब वहाँ के, बुद्धिमान इंसान।
बुद्धिमान इंसान, न थी कोई पाबंदी।
फिर भी सब मर्दों ने करवा ली नसबंदी।
सिर्फ रह गया एक युवक मलखान कुआँरा।
सोच समझकर अस्पताल को चला बिचारा।
हाथ जोड़कर कहने लगा, डाक्टर से मलखान,
मेरी भी कर दीजिए नसबंदी श्रीमान।
नसबंदी श्रीमान, नीयत का हूँ मैं सच्चा,
किंतु किसी औरत को अगर हो गया बच्चा,
तो हुजूर मैं बेकसूर क्या कर पाऊँगा?
शक-शुबहा में बिना मौत मारा जाऊँगा।

आत्मकथा की झाँकी

भारत भूषण अग्रवाल

मैं जिसका पट्टा हूँ
उस उल्लू को खोज रहा हूँ।
डूब मरूँगा जिसमें
उस चुल्लू को खोज रहा हूँ।

अध्यापक
ऋषि गौड़

आज का सफल अध्यापक
जिसकी कक्षा में
छात्र हों कम
किंतु घर पर
संख्या हो व्यापक

चाँदी के पहिये
दिनकर सोनवलकर

फाइलों के
पैर नहीं होते
वे चाँदी के पहियों पर
चलती हैं।
दफ्तर से दफ्तर तक
अफसर से अफसर तक।
दौड़ाना चाहते हो
अगर अपनी फाइल,
तो लगवाओ
चाँदी के पहिये
अक्लमंद को इशारा काफी है
अब विस्तार से क्या कहिए।

भेड़िया मुर्गे के पास आया
उसने कहा,
हमें एक दूसरे को
जानना चाहिए
जानना चाहिए,
पहचानना चाहिए
मुर्गे को यह बात अच्छी लगी
मुर्गा भेड़िए के साथ गया
यही वजह है कि
मैदान में पंख बिखरे हैं।
(बर्तोल्त ब्रेख्त)

जनतंत्र

नरेन्द्र कोहली

भोलाराम बहुत जल्दी में था। वह हाथ में डंडा और झंडा लिए भागा जा रहा था। “कहाँ जा रहे हो भोलाराम?” मैंने पूछा। “स्टेशन।” “गाड़ी पकड़नी है?” “नहीं। रेलगाड़ी में आग लगाने जा रहा हूँ।” “क्यों?” मैंने पूछा, बेचारी रेलगाड़ी ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है? वैसे भी वह देश की संपत्ति है। “तो देश ने बिहार में हमारे दल की सरकार क्यों नहीं बनाई?” वह बिगड़ कर बोला, “हमारी सरकार नहीं बनेगी तो हम देश में आग लगा देंगे।” “यह तो कोई जनतंत्र न हुआ।” मैंने कहा, ‘जो विधायक चुनाव में जीत कर आए हैं, वे सब विधानसभा में होंगे। वे वहाँ यह निर्णय कर सकते हैं कि बहुमत किसका है, उसी दल की सरकार बने।’ “हम तो विधायक उन्हीं को मानते हैं, जो हमारे दल के हैं।” वह बोला, “हमारे दल के बाहर के लोग बेईमानी से आए हैं।” “क्यों?” मैंने पूछा, “ऐसा कहने का कारण?” “हमने सारे बूथों के चुनाव अधिकारियों को समझा दिया था कि भोट कैसे छापना है। जहाँ नहीं समझा पाए वहाँ अपने लोगों को समझा दिया था कि बूथ लूटना कैसे है।” वह बोला, “ऐसे में किसी और दल का कोई आदमी जीत ही कैसे सकता है?” मैं उसकी ओर देखता ही रह गया, बोला कुछ भी नहीं। शायद वह समझ नहीं रहा था कि वह क्या कह रहा है। “इसलिए हमारे दल के बाहर का जो आदमी जीत कर आया है, वह बेईमानी से आया है।” भोलाराम बोला, ‘वह विधायक हैये नहीं। उसे न विधान सभा में बैठने का अधिकार है और न सरकार बनाने का। सरकार तो हमारे ही दल की बनेगी।’ “यह तो कोई जनतंत्र न हुआ।” मेरे मुँह से निकला। “हम जनतंत्र को वहीं तक मानते हैं, जहाँ तक वह हमारे पक्ष में है।” उसने कहा, “जहाँ वह हमारे विरुद्ध जाता है, वहाँ से हम जनतंत्र विरोधी हो जाते हैं।” इसका अर्थ हुआ कि तुम देश के संविधान को नहीं मानते। मानते हैं, किंतु वहीं तक, जहाँ तक वह हमारे पक्ष में जाता है।” उसने कहा, “हमारा दल चुनाव जीते तो संविधान हमारे सिर माथे पर, किंतु यदि हमारा दल चुनाव नहीं जीतता तो हम किसी और को सरकार बनाने नहीं देंगे।” “इसका क्या अर्थ हुआ?” “अर्थ तुम्हारी समझ में नहीं आता तो हम क्या करें।” वह बोला, ‘यहाँ भोटर लोग हमारे पक्ष में हैं। सारे भोटर हमारे हैं। तो फिर दूसरा कोई दल सरकार बना कैसे सकता है।’ “जिन लोगों ने तुम्हारे दल के विरुद्ध मतदान किया है, मतदाता नहीं है?” “होंगे

मतदाता, पर वे भोटर नहीं हैं। वह बोला, “उ सब बाहर से लाए गए हैं। हमारे प्रदेश का भोटर तो वही हैं, जो हमारे दल को भोट दे।” “जो तुम्हारे पक्ष में मत नहीं देता, उसे बिहार से निकाल दोगे?”

“निकाल क्यों देंगे।” वह प्रखर स्वर में बोला, “अरे उसे हम गंगा जी में डुबो देंगे।” “तुम्हें मालूम है कि चीन में किसी ने रेलगाड़ी में आग लगाई थी, तो उसे मृत्युदंड दिया गया था।” “दिया होगा।” वह लापरवाही से बोला, “अपने देश में उ सब नहीं होता। इहाँ तो केवल हम ही दूसरों को मृत्युदंड देते रहते हैं।” “क्यों?” “क्योंकि इहाँ एकतरफा यातायात है। वन वे टिरैफिक।” “उन यात्रियों ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा

है, जो रेलगाड़ी में यात्रा कर रहे हैं।” “बिगाड़ा? अभी कुछ बिगाड़ा ही नहीं है?” वह चिल्लाया, “इहाँ हमारे विरोधी दल की सरकार बन गई है और वह रेल में यात्रा कर रहा है। उसे इहाँ आ कर हमारे साथ मिलकर देश को आगी लगाना चाहिए या नहीं?” “तुमको राज्य करने का विशेषाधिकार प्राप्त है क्या?” “विशेषाधिकार? अरे हमारा तो जन्मै हआ है राज करने के लिए। उसने रुक कर मेरी ओर देखा, “हम राज करेंगे तो प्रदेश का ही नहीं, सारे देश का रक्त पिँगेंगे। और राज करने नहीं दोगे तो...” उसने आग्नेय नेत्रों से मेरी ओर देखा, “तो सारे देश में आग लगा देंगे। हमारा तो जनतंत्र यही है। और किसी जनतंत्र को न हम जानते हैं, न जानना चाहते हैं। उ सब फासीवाद है।”

और यह वही था

शंकर पुणतांबेकर

तस्कर ने जब सौगंध खाई कि अब मैं यह धंधा नहीं करूँगा तो इधर उसने उस पर तमंचा दाग दिया। तमंचा सिर्फ आवाज करके रह गया। तस्कर जिंदा का जिंदा। यह देख उसने तमंचा देने वाले की गर्दन पकड़ी। उस गरीब ने बताया, ‘मेरी क्या गलती है! यह तो मैंने खासी भरोसे की जगह सरकारी आर्डनेंस फैक्टरी से चुराया था। उसने जाकर आर्डनेंस फैक्टरी के बड़े अफसर की गर्दन पकड़ी। उसे अफसर ने बताया, ‘मेरा क्या दोष! ऊपर आप अपने पिताजी की गर्दन पकड़िए।’ और उसने जाकर सचमुच अपने पिता की भी गर्दन पकड़ी। बोला, ‘आपकी वजह से देश की फैक्टरियों में ऐसे गलत तमंचे बन रहे हैं।’ इस पर पिता ने कहा, ‘तुमसे क्या छिपाऊँ बेटे! इसमें दोष मेरा है, पर पूरी तरह से मेरा ही नहीं, माल जुटाने वाले ठेकेदार का भी है। पर ठेकेदार की गर्दन न पकड़ना। हम कहीं के नहीं रहे जाएँगे।’ और पिता से जब उसने ठेकेदार का नाम पूछा, तो ज्ञात हुआ वह और कोई नहीं, वही तस्कर था, जिस पर उसने तमंचा दागा था।

हिंदी में मनहूस रहने की परंपरा

ज्ञान चतुर्वेदी

हिंदी साहित्य में गंभीर रहने पर विकट जोर है। साहित्य के स्तर से ज्यादा जोर मनहूसियत की मात्रा पर। आप अच्छा साहित्य रचें और ज्यों-ज्यों अच्छा रचते जाएँ, त्यों-त्यों और गंभीर होते चले जाएँ— हिंदी में यह अलिखित नियम—सा है। और बाकायदा इसे माना तथा सराहा जाता है। धीरे-धीरे हुआ यह है कि यह नियम इस कदर हिंदी साहित्य जगत पर काले कानून की तरह छा गया है कि सारा जोर गंभीर रहने पर हो गया है, साहित्य रचना प्रासंगिक नहीं रही। आप रचें, न रचें या जैसा रचना हो रचें। बहुत से लोग यहाँ मात्र इसी कारण से बड़े पाए के साहित्यकार कहलाए जाने लगे, क्योंकि उनमें गंभीरता कूट-कूटकर भरी थी। वे बचपन से ही मनहूसियत के शिकार थे, उदास रहते थे, झोले जैसा लंबा—सा मुँह लटकाए घूमते थे, गोष्ठियों में यूँ जाते थे, मानो किसी के उठावने पर पहुँचे हों— बस, इन्हीं कारणों से वे हिंदी के ख्यातनाम साहित्यकार हुए। हिंदी साहित्यकार का एक विशिष्ट पोज है। आप हिंदी की किताबें उठाकर देखिए, यदि उसमें लेखक का फोटो छपा होगा, तो आप उसे देखकर मेरी बात समझ पाएँगे। हर लेखक मनहूसियत की सीमा तक गंभीर। वह न जाने कहाँ देख रहा है तथा न जाने क्या सोच रहा है, पर सोचते हुए नितांत गंभीर हैं, सो कोई ऊँची बात ही सोच रहा होगा, ऐसा जतला रहा है वह। हिंदी में मनहूसियत को ऊँचे चिंतन की निशानी मान लिया गया है। एक जमाने में हिंदी साहित्यकारों, विशेष तौर पर कवियों के बीच फोटो खिंचवाने का एक पोज बड़ा लोकप्रिय हुआ करता था, जिसमें वे अपनी टुड्डी के नीचे हाथ के पंजे का सहारा देकर उदास आँखों से उस ओर देखकर फोटो खिंचाते थे, जिस ओर प्रायः फोटोग्राफर के स्टूडियो में कंधा—शीशा लटका रहता है। छायावादी कवियों में तो खैर यह अत्यंत लोकप्रिय पोज हुआ करता था, पर बाद के बहुत से प्रगतिशील मित्रों ने भी ऐसे गंभीर फोटो खिंचवाए और कविता, कहानी आदि के साथ छपवाए। अच्छी रचना के साथ ऐसा फोटो आम पाठक पर एक रुआब—सा छोटता, उसे थानेदारी अंदाज में धमकाया हुआ आगाह करता था कि बेट्टा, हमें अपने जैसा आम आदमी मत समझ लेना। लेखक एक विशिष्ट जन है, यह सिद्ध करने के लिए ऐसे फोटो काफी थे। वैसे हाथ पर टुड्डी रखकर कितनी देर ठीक—ठाक चिंतन किया जा सकता है, यह अपने आप में चिंता का विषय हो सकता है। मैंने तो रखकर देखा। पहले तो टुड्डी पर उगी दाढ़ी के पैने बाल ही गड़ने लगे, और सारा ध्यान उस तरफ ही चला गया। फिर हाथ दर्द करने लगा। फिर भी मैंने गंभीर चिंतन की जी—तोड़ कोशिश जारी रखी, तो गर्दन टेढ़ी होने लगी। एकमात्र गंभीर या जैसा भी कहिए वैसा विचार जो इस प्रकार बैठकर मेरे मन में आया, वह यही था कि यार, कब तक ऐसा बना बैठा रहेगा तू— ठीक से क्यों नहीं बैठता? और यह रोना मुँह क्या बनाए है तू?

बाप मर गया क्या? बात क्या है? उदास क्यों है? यह गंभीरता का क्या चक्कर है? तो मेरे से तो नहीं सधा। पर मैंने देखे हैं ऐसे हिंदी के पुरोधा, जो घंटों ऐसे ही पोज में बैठे—बैठे पूरी गोष्ठी निकाल देते हैं। वे न केवल ऐसी सायास मनहूसियत ओढ़ते हैं, वरन लगातार चौतरफा देखते रहते हैं कि आस—पास वाजिब असर हो रहा है या नहीं? और असर होता भी है। हिंदी साहित्य में यह नुस्खा अचूक है। असर होता ही है। लोग दूर से हाथ पर टिकी टुड्डी या घुटनों तक लटक आए मुँह को देखकर ही बता सकते हैं कि इस गोष्ठी में कौन कितना बड़ा साहित्यकार है। यूँ भी ऐसी

मुद्रा साधना आसान नहीं है। मेहनत तथा साधना लगती है। शुरु-शुरु में आप कुछ मिनटों तक ही ऐसा कर पाते हैं और थोड़ी देर बाद अपनी औकात अर्थात् ही-ही, ठी-ठी पर आ जाते हैं। पर ज्यों-ज्यों हिंदी साहित्य में गहरे धंसते हैं, त्यों-त्यों आप इसे लंबे समय तक प्राणायाम की भाँति खींचना सीख जाते हैं। धीरे-धीरे आप पूरी गोष्ठी या समारोह ही इसी मनहूसियत के साथ सफलतापूर्वक निकाल ले जाना सीख जाते हैं। फिर एक दिन वह भी आता है कि आपको मनहूसियत में ही मजा आने लगता है। तब आप हिंदी साहित्य की एक अनिवार्य शर्त वह भी मानने लगते हैं कि आपको मनहूस होना ही होगा। साहित्य रचने और गंभीर रहने के बीच सीधा तार जोड़ लेते हैं आप। आपको डर लगने लगता है कि गंभीर नहीं रहे तो अच्छा साहित्य नहीं रच पाएँगे आप, या आपके रचे साहित्य को शायद कोई गंभीरता से लेगा नहीं। पहले आप गोष्ठियों, सार्वजनिक स्थानों तथा लोगों के सामने ही गंभीर रहते हैं ताकि लोग आपको अच्छा हिंदी लेखक माने, परंतु फिर यह आपकी आदत हो जाती है। आप पूरे मनहूस हो जाते हैं और यही कारण है कि हिंदी साहित्यकारों की पत्नियाँ प्रायः हिंदी साहित्य के विरुद्ध हैं, जिसने उनके अच्छे खासे पति को ऐसा मातमी बना दिया।

हिंदी लेखकों के परिचय में प्रायः कहा जाता है कि अमुकजी हिंदी कहानी के (या कविता या नाटक या जिस भी विधा के फटे में वे अपनी डेढ़ टाँग फँसाये बैठे हों, उसके) गंभीर प्रणेता हैं। कैसे हैं वे? बड़े गंभीर हैं वे। वे गंभीरतापूर्वक कहानी लिख रहे हैं, सो महान हैं। उनका फोटो देखकर बच्चे माँ से चिपक जाते हैं और 'माँ, उई माँ' करने लगते हैं। वे जो अभी गोष्ठी में पधारें, वे जो अभी कॉफी हाउस से निकले, वे जो अभी

मुख्यमंत्री के बँगले में अपनी किताब की सरकारी खरीद का डौल जमाकर बाहर आए। वे जो अभी चोरी की रचना को फेरबदल कर अपनी बनाकर डाक के बंबे में डालकर पान की दुकान पर खड़े हुए, वे जो अपने समकालीन लेखक की अच्छी रचना पढ़कर जल-भुन गए और उसकी टाँग खींचने के लिए कूच कर रहे हैं, वे जो अपना सारा कचरा समेटकर ग्रंथावली के कचरेदान में डालने ले जा रहे हैं, वे जो पुरस्कारों के शिकार पर निकले हैं, वे जो उस कमेटी की बैठक से निकलकर इस कमेटी में बैठे ऊँघ रहे हैं, वे जो कस्बा-कस्बा हिंदी कहानी-कविता आदि की दुर्दशा का रोना फर्स्ट क्लास का किराया वसूलते तथा चेला-चाँटी पनपाते रोते घूम रहे हैं, वे जो हिंदी साहित्य के उदीयमान हैं, वे जो हिंदी साहित्य में मात्र शौकीन तबीयत के कारण घुसे हैं और इसे ताशपत्ती की भाँति मानते हैं, वे जो तुकबंद हैं, वे जो अपनी उसी कहानी-कविता या व्यंग्य को अपने चार अलग-अलग संकलनों में डालकर किताबों का ढेर तैयार कर रहे हैं, वे जो जहाँ-जहाँ भी जैसी भी 'हिंदी कर रहे हैं'— वे तथा ये, इन सबमें एक ही बात समान है कि ये सभी गंभीर हैं। हिंदी में तो भई, जो करना, गंभीर होकर करना। कुछ नहीं भी करना, तो गंभीर होकर ही करना। बिना मनहूस दिखे हिंदी में गुजारा नहीं। बड़ा सरल-सा सिद्धांत है। मुँह लटकाए और रुआँसे होकर हिंदी साहित्य के दरवाजे की घंटी बजाइए। वे झाँकेंगे और मनहूसियत नापने का फीता आपके लटके मुँह पर लगाकर नापेंगे, फिर मुस्कराकर कहेंगे कि आइए, हिंदी साहित्य में पधारिए। बस, यही एक दुर्लभ क्षण होगा, जब वे मुस्कराएंगे। वरना तो एक सतत स्यापा है, जो हिंदी साहित्यकारों के बीच चल रहा है।

संपर्क: 1-40, अलकापुरी, भोपाल-402024 (म.प्र.)

तेरा गांधी, मेरा गांधी

प्रेम जनमेजय

मैं बीच चौराहे पर बैठा था। मेरे साथ गांधी जी भी चौराहे पर थे। जहां गांधी, वहां देश। देश भी चौराहे पर था। इसे आप देश का गांधी चौराहा भी कह सकते हैं। मैं जिंदा था और किसी उजबक—सा आती—जाती भीड़ को देख रहा था। गांधी जी मूर्तिवान थे और भीड़ में से कुछ उजबक उन्हें देख रहे थे। और देश..! सत्तर वर्षीय देश को जो करना चाहिए वही कर रहा था। या कह सकते हैं जो करवाया जा रहा वह कर रहा था। सत्तर की उम्र होती ही ऐसी है।

मैं देश की आजादी के डेढ़ वर्ष बाद पैदा हुआ हूँ, और गांधी जी को पैदा हुए डेढ़ सौ वर्ष होने वाले हैं। अभी दो अक्टूबर दूर था इसलिये चौराहे पर साफ—सफाई कम थी और सजावट, विरोधी पार्टी—सी, खिसियाई हुई थी। मूर्ति पर बाढ़ का असर नहीं पड़ा था अतः धुलनी शेष थी।

देखा एक मार्ग से पांडेय जी आ रहे हैं। शेयर बाजार के सैंसेक्स—सी तेजी में थे। चेहरा आर्थिक मंदी में मिली राहत—सा प्रसन्न था। मुझे देख मेरे पास आए, हाउडी किया और बोले—सब बढ़िया हो गया।”

मैंने पाकिस्तानी स्वर में पूछा—क्या बढ़िया हो गया?”

पांडेय जी आर्टिकल 370 के हटने की प्रसन्नता वाले स्वर में चहके—गांधी जी पर सेमिनार का बड़ा बजट अप्रूव हो गया। बड़े—बड़े लोगों को बुलाऊंगा और बड़े हॉल में गांधी जी पर बड़ा सेमिनार करवाऊंगा। बड़े लोग हवाई जहाज से आएंगे, बढ़िया होटल में ठहरेंगे। जल्दी में हूँ फिर मिलता हूँ...देखता हूँ... तुझे भी शायद बुलाऊँ ... विराट आयेजन होगा।” पांडेय जी ने मेरी ओर चुनावी आश्वासन—सा टुकड़ा फेंका। मुझे आज तक माता के विराट जगरातों के निमंत्रण मिले थे,...गांधी पर विराट आयोजन...

पांडेय जी सेमिनार प्रस्ताव के मार्ग से आए थे और विराट आयोजन की ओर चल दिए। मैं वहीं का वहीं चौराहे पर था। तभी देखा राधेलाल जी बगल में गांधी के विचारों की किताबों के बंडल से लदे आ रहे हैं। बोझ से इतने दबे थे कि ढेंचू भी नहीं बोल पा रहे थे। मैंने पूछा— अरे! पूरी लाइब्रेरी लिए कहाँ जा रहे हैं?”

गांधीवादी तोता बोला— कम्पीटिशनवा की तैयारी कर रहे हैं, न। गांधी पर बहुत कुछ पूछा जाने वाला है। बहुत कुछ रटना है। टाईमों नहीं है। कुछ जुगाड़ जमा सकते हो तो बोलो, रुक जाते हैं। हमका किसी तरह पास करवा दो...”

मैंने कहा— आप तो जानते हैं राधेलाल जी कि मैं...”

“हम खूब जानते हैं आपको मास्टर जी! आप तो गांधी के सिद्धांत ही पढ़ा सकते हो... बकरी की मेंगने हो... चलते हैं।”

तोता जी चले गए और देशसेवा मार्ग से सेवक जी आ गए। सेवक जी शाम को स्कॉचमय होते हैं, इस समय खादीमय हो रहे थे। दो अक्टूबर को हाथ भी नहीं लगाते। सब सेवक उन जैसे नहीं हैं। कुछ ने तो गांधी जी के आदर्श पर चलते पूरी तरह अपनी शराब बंदी कर ली है पर सत्ता का नशा नहीं त्यागा जाता। गांधी जी ने बहुत मार्ग बताए हैं, चलने के लिए। सब पर चलना कोई जरूरी है? अब गांधी जी ने कहा कि आजादी के बाद कांग्रेस पार्टी भंग कर दी जाए... अब पार्टी भंग हो जाएगी तो हमारी देशसेवा का क्या होगा? प्रजातंत्र बर्बाद नहीं हो जाएगा!

दो मिनट मौन जैसा, सादगीपूर्ण गांधी होना बहुत है। एक सौ पचासवें पर भी हो लेंगे। हर देशसेवक अपनी पसंद के गांधी की महक से स्वयं को महका रहा है। गांधी जी का सत्य एक

था, पर गांधीवादियों के सत्य अनेक हैं। गांधीवादी अनेक हैं, पर अनुयायी इक्का-दुक्का हैं। गांधी वोट-भिक्षा का साधन बन रहे हैं।

ब्लैक कैट से घिरे सेवक जी ने मुझ गरीब की ओर हाथ हिलाया और मुस्कराए जैसे बरसों से जानते हों। इससे पहले कि मैं उनके अभिवादन का उत्तर देता वे तेज कदम एक सौ पचास वाले राजमार्ग की ओर चल दिए।

चौराहे के चौथे मार्ग पर कुछ-कुछ वीरानगी थी। उत्सुकतावश मैं उठा और उधर चल दिया। वहां जर्जर पड़ा आश्रम-सा मिला। जर्जर से आश्रम में जर्जर मनुष्य-से दिख रहे थे। वे न तो गांधीवादी थे और न गांधी के अनुयायी। इन अज्ञानियों को गांधी का ज्ञान भी न था, डेढ़ सौ वर्षीय उत्सव का ज्ञान कैसे होता! पर वे जी गांधी-सा जीवन रहे थे। वे अपना पखाना खुद साफ कर रहे थे। वे केवल लंगोटी जैसा कुछ पहने थे। वहां इक्का दुक्का बकरी भी मिमिया रही थी। वे आजादी से पहले के गांधी को, बिना जाने, जी रहे थे और आजाद हिंदुस्तान के वोटर थे।

संपर्क: 73, साक्षर अपार्टमेंट्स, ए-3, पश्चिम विहार,
नई दिल्ली-110063, मो. 9811154440

दंपति के रस रीति में तनिक भयो रस रीस।
अबही रह्यो तिरसठ छन में भयो छतीस॥
घट्यो मान तैंतिस भयो पय पिय मान्यो नाँहि।
ह्वै छतीस छाछठ भयो, पुनि तिरसठ छन माँहि॥
(केशवदास)

अंतरात्मा का जंतर मंतर !

अनूप श्रीवास्तव

कहा जाता है कि एक बार पंडित जवाहर लाल नेहरू संसद की सीढ़ियों से उतरते वक्त लड़खड़ा गए तभी उनके पीछे चल रहे राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' ने आगे बढ़कर नेहरू जी को सम्भाल लिया। उन्होंने आभार व्यक्त किया। जवाब में दिनकर जी ने कहा धन्यवाद की कोई आवश्यकता नहीं है, राजनीति जब भी लड़खड़ाती है साहित्य हमेशा आगे बढ़कर उसे संभाल लेता है। जब इस प्रकरण की चर्चा हरिशंकर परसाई तक पहुंची तो उन्होंने इस पर और मजेदार टिप्पणी की। उन्होंने कहा— “दरअसल दिनकर जी साहित्यकार थे इसलिए हर बात पर साहित्य का मुलम्मा चढ़ा देते थे। बेचारा साहित्य खुद तो सम्भल नहीं रहा है, राजनीति को क्या संभालेगा?” दरअसल संभालने वाली अंतरात्मा थी जो अवसर की तलाश में थी और मौका पाते ही चलते-चलते उसने राजनीति पर एक अहसान और लाद दिया। यानी जो मौके पर काम आ जाये वही अंतरात्मा है। आत्मा और परमात्मा हमें कदम-कदम पर साथ देती हैं, पर अंतरात्मा गाढ़े वक्त पर बैसाखी बनकर मदद करती है। और यह मदद अंदर से नहीं बाहर से मिलती है। खुद से नहीं औरों के मार्फत मिलती है, क्योंकि आत्मा टू इन वन और अंतरात्मा थ्री इन वन यानी त्रिआयामी होती है। आत्मा परमात्मा की छाया होती है, पर अंतरात्मा उसकी भी प्रतिछाया होती है। इसीलिए छाया पर प्रतिछाया भारी पड़ती है। आत्मा भले ही परमात्मा का कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती है पर हर तरह के उलटफेर में माहिर होती है। वह उजड़ रहे को बसा सकती है और बसे बसाए को उजाड़ सकती है। आत्मा बंधन युक्त होते हुए ही कुछ कर-धर पाती है। बंधन मुक्त होते ही उसके हाथों से तोते उड़ जाते हैं, जबकि अंतरात्मा को हर तरह की छूट है। वह खुद कुछ न करते हुए भी औरों से बहुत कुछ करा लेती है। सब कुछ देखते हुए भी कुछ भी न देखने, सुनकर भी न सुनने और न बोलकर भी बोलने में सक्षम है। अंतरात्मा आत्मा को कभी भी अंगूठा दिखा सकती है।

अंतरात्मा के आस्तित्व के बारे में वेद, उपनिषद और पुराण तक मौन हैं। वह आत्मा में दूध के साथ पानी की तरह मिली हुई है इसलिए योगेश्वर कृष्ण ने भगवत् गीता के अठारह अध्यायों में आत्मा और परमात्मा की विशद व्याख्या तो की पर अंतरात्मा की चर्चा वे भी गोल कर गए। वे भी जानते थे कि अंतरात्मा का कोई भरोसा नहीं है, वह कभी भी किसी करवट बैठ सकती है। हालाँकि अर्जुन का मोहभंग करने के लिए उन्होंने अंतरात्मा का ट्रम्प कार्ड की तरह इस्तेमाल किया।

राष्ट्रपिता (मोहनदास करमचंद) गांधी ने भी समझदारी से इसी अंतरात्मा पर कवर चढ़ा कर अंग्रेजों को देश छोड़ कर जाने पर मजबूर कर दिया। पूर्व प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी ने भी इसी अंतरात्मा को भुना कर राष्ट्रपति के चुनाव में अपने प्रत्याशी को जीता लिया था।

चाहे हस्तिनापुर रहा हो या देश की राजधानी दिल्ली, अंतरात्मा हमेशा इसके आस-पास डोलती रही है।

महाभारत की तकरार से लेकर एटमी करार तक इसी की चाणक्य-बुद्धि ने भूमिका निभाई है। जो भी खिलाफ गया उसको इसने धूल चटाई। वामपंथियों ने भी मुँह की खाई। जो संसद में दाखिल होने से पहले कहीं और ब्याहे थे, विश्वास मत की चौखट पर इसने उनकी भी मुँह दिखाई तय कर दी।

अंतरात्मा के सभी आभारी हैं इसीलिए यह सब पर भारी है। कभी वह नार्थ कोरिया के तानाशाह किंग जोंग के सिर पर बैठती है, कभी

वह श्रीलंका के माओवादियों के बल पर ऐंठती है, तो कभी-कभी अमेरिकी कंधों को टटोलती है और कभी इमरान के पर खोलती है। आडवाणी के साथ माया को भी धता बताती है। सभी उसके करम पर हैं इसीलिए मोदी और अमित शाह तक इसके रहमोकरम पर हैं। महाराष्ट्र में सजी हुई बाजी पलटने का करिश्मा इसी अंतरात्मा का खेल है। यह अंतरात्मा जो न करा दे थोड़ा है।

वक्त की नब्ज हर जगह अंतरात्मा ने थाम रखी है। आप इसे आत्मा का अंतर कहें या अंतर की आत्मा! कुछ खास फर्क नहीं पड़ने वाला। सच कहें तो अंतरात्मा ही आज का सबसे बड़ा जंतर मंतर है।

संपर्क: अनूप श्रीवास्तव (प्रधान संपादक: अट्टहास), 9, गुलिस्ता कॉलोनी लखनऊ-226001, मो. 9335276946

कहावतों/लोकोक्तियों में हास्य-व्यंग्य

1. बाप न मारी मेढकी, बेटा तीरंदाज
2. बेटा की शादी, माँ के फेरे
3. अंग्रेजी राज्य, तन को कपड़ा न पेट को रोटी
4. अंधा गुरु, बहरा चेला, माँगे छड़, दे बहेड़ा
5. अंदर छूत नहीं, बाहर कहे दुरदुर
6. अजब तेरी कुदरत, अजब तेरा खेल
छछूंदर भी डाले, चमेली का तेल।
7. अड़सठ तीरथ कर आयी तुमड़ी,
तऊ न गयी करुवाई
8. कमावे धोतीवाला, उड़ावे टोपीवाला
9. चलनी दूसे सूप को, जिसमें बहत्तर छेद
10. जिजमान चाहे स्वर्ग को जाए या नरक को,
मुझे दही-पूड़ी से काम।
11. नये नवाब, आसमान पर दिमाग
12. पैसा नहीं हाथ, चले नवाब के साथ

पांडे जी के अंतहीन किस्से

लालित्य ललित

आज बैठे हुए सोच रहे हैं कि मनुष्य प्रगतिशील हुआ है या उसकी सोच का विस्तार हुआ है। अभी कुछ भी कह पाना संभव नहीं। उधर अंतर्मन कुमार का यह कहना है, पांडे जी जब सोचते हैं स्थितियां संभल जाती हैं। यह जीवन के लिए भी बहुत जरूरी है और जीवन तो आगे बढ़ना ही चाहिए, लेकिन एक बात समझ में नहीं आती कि मौसम कितना खराब क्यों न हो रेलगाड़ी को चलना है, जहाज को आसमान पर जाना है, हर व्यक्ति को वह सब काम करने हैं, जो निहायत जरूरी है। बिना काम किए आपको वेतन नहीं मिलेगा। वेतन नहीं मिलेगा तो चूल्हा नहीं जलेगा। चूल्हा नहीं जलेगा तो बिरयानी नहीं बनेगी। अब बिरयानी नहीं बनेगी तो आपकी जुबान चटोरी कैसे होगी?

यही सोचते-सोचते पांडे जी ने सोचा दिसंबर का महीना है, छुट्टियां बची रहती हैं, क्यों न छुट्टियां ले ली जाए।

छुट्टियों के बाद जब पांडे जी ऑफिस पहुंचे तो देखते हैं कि असंतुष्ट कुमार विभागीय कार्य प्रणाली से संतुष्ट नहीं, कभी भी नहीं। नाक पर गुस्सा बिठाए रखना उनका ही पुराना किस्सा है। उनकी प्रमोशन नहीं हो रही। उनकी तरक्की नहीं हो रही है। जब उनसे पूछा गया तो वह कहते हैं मेरे साथ अन्याय हो रहा है। मैं किसान का बेटा हूं। इधर आप सोचने लगे कि आप के साथ अन्याय कब हुआ किसान आंदोलन अभी हुआ और आप कह रहे हैं कि मैं किसान का बेटा हूं। हम चुप बैठने वाले नहीं, उधर दयाल बाबू भी मुंडी हिलाते रहे और पूछते रहे कुमार साहब चाय पिएंगे क्या?

असंतुष्ट कुमार वह व्यक्ति है जो कभी संतुष्ट नहीं होता। उन्होंने कहा कि चाय तो हम पी लेंगे। अपने स्टाइल की ही पिएंगे। दयाल बाबू ने कहा कि हमारे स्टाइल का मतलब? बोले, आप चाय में उबाल कम लगवाते हैं। आप ठहरे सीधे-साधे लोग। हम स्पेशल चाय पीते हैं। अरे यार यह भी क्या बात हुई फोन असंतुष्ट कुमार को पकड़ा दिया। अब असंतुष्ट कुमार कैंटीन वाले को डिक्टेट कर रहे हैं, “हम असंतुष्ट कुमार बोल रहे हैं।” पांडेय जी ने कहा कि संतुष्ट हो कर भी इस नगरी में ही एकमात्र असंतुष्ट कुमार हैं।

कैंटीन वाले ने कहा, “बताइए साहब क्या सेवा है? क्या हुकुम बजाएं?” तो असंतुष्ट कुमार जी ने कहा कि हम विलायती राम पांडे जी के कक्ष में बैठे हैं। स्पेशल चाय जल्द भिजवा दें पांडे जी के सामने। कभी यह कहते कि मलाई मार के चाय भिजवा दें तो तुरंत कहते हैं कि तीन समोसे भी भिजवा दें। बिना समोसा के चाय तो ऐसी होती है कि जैसे पार्टी के राजनीतिक दल ने बिना घोषणा-पत्र के मुनादी पीट दी हो!

दयाल बाबू ने कहा कि किसने बना लिया और उनके पास बिना समोसा के चाय तो ऐसी होती है कि जैसे पार्टी राजनीतिक दल बिना घोषणा पत्र के हों।

किसने बना लिया और उनके पास घोषणापत्र का होना तो अनिवार्य है, उस राजनीतिक दल के लिए। ऐसा पांडे जी का मानना है। पांडेय जी के अन्तर्मन कुमार ने हामी भरी, जिसे चिलमन की भी मौखिक स्वीकृति मिल चुकी है।

राम प्यारी जी ने सुबह-सुबह अल्टीमेटम दे दिया, “पांडे जी नाश्ता-पानी तब मिलेगा जब सुबह-सुबह पार्क के दो चक्कर लगाओगे। पांडे जी ने भी सोच लिया था कि अच्छा है सैर भी कर आऊंगा और टहल भी आऊंगा। अच्छी बात है चलो इसी बहाने घुमाई भी कराएंगे और कुछ ग्राम तो वजन कम होगा ही। पानी पी कर निकल लिए पार्क में सैर के लिए। देखते हैं वहां अंधेड़ भी है, जिन्हें चक्कर लगाना है कुछ महिलाएं योगाभ्यास में तल्लीन हैं। उनको भी लगता होगा बच्चों की चिक-चिक से तो आराम मिलेगा।

साहब पार्क में जगह है तो जन्म है। कोलस्ट्रॉल भी कंट्रोल में होता है। बीपी बॉस यदि दुनिया के सभी लोग यह फार्मूला अपना लें तो कमाल न हो जाएगा। इसलिए सुबह की सैर जरूरी है। शाम की सैर भी जरूरी है। क्या मजाल है कि उनको डॉक्टर के पास जाना पड़ेगा। तो पांडे जी ने भी इसके साथ दो चक्कर लगा लिये। तीसरे चक्कर लगाने की न तो उनकी हिम्मत थी न उनकी आदत। क्योंकि उनके रास्ते में दो-तीन कुत्ते ऐसे खड़े थे जैसे अभी अपना परिचय कराना चाहते हों कि पांडे जी हमसे मिला करो। मिलना अच्छा रहता है स्वास्थ्य के लिए भी विगत संबंधों के लिए भी संबंधी चलते हैं। पांडेय जी कुत्तों के मन के पारखी थे, इसलिए दूर से ही कन्नी काट लेते। एक बार राधेश्याम गुप्ता को भी कुत्तों ने अयाचित भाव से अपना परिचय दिया जिसके एहसास इन

सर्दियों में भी महसूस करते हैं।

पांडे जी ने देखा पार्क एक ऐसी जगह है जहां शांति है। विघटनकारी शक्ति आप को पार्क की संवेदना से दूर रहती है।

जब से पार्क में पांडे जी सैर करने आए हैं, कहाँ दिमाग चल निकला कि कल्लू की याद आ गई। अरे! वही कल्लू जिसको देविका गजोधर ने खूब मारा था, पिछले दिनों। तब से उसका हाल बेहाल है। जब तक वह किसी कमसिन युवती से पिट नहीं लेता, उसका खून परिष्कृत नहीं होता। मन में भी रोमांटिक विचार नहीं आते। जैसे उसके पास मोबाइल तो है लेकिन वह किसी भी सर्विस प्रोवाइडर पर चलने को तैयार नहीं।

लेकिन पांडे जी को यह देखकर भी आश्चर्य हुआ उनके किसी चेले ने जब पार्टी में उनके फोटो ऐसे लगा रखी थी जैसे उसे बहुत बड़ा पुरस्कार मिल गया हो।

प्रेमभूषण था या कोई और चितचोर!

अरे भैया वैसे भी कहा है बुजुर्गों ने कि काम अच्छे करो तो दुनिया याद करती है। कुछ न करो तो तो भी दुनिया याद करती है। पता नहीं कल्लू कालिया कौन सी कैटेगरी में आते हैं।

लेकिन पांडे जी ने एक बार फोन लगाया था कल्लू कालिया जी नमस्ते! हम मिलना चाहते हैं। अब कल्लू कालिया यह सोचने लगे यह पांडे जी हमसे क्यों मिलना चाहते हैं? अरे भाई साहब! नमस्ते! नमस्ते! पांडेय जी। आपका स्वागत है लेकिन मैं अभी एक बैठक के लिए निकल रहा हूं। पांडे जी भी जानते हैं कि बात चाहे पॉलिटिक्स की हो या बेशक साहित्य, सामाजिक हो लेकिन साहब राजनीति भी कुछ मैटर करती है न!

पांडे जी ने आज सुबह-सुबह पार्क में दुनिया

की बेहतरीन सैर कर ली। उनके मन में विचार आता है कि दुनिया को जो पसन्द, उनको करने दे। पांडे जी ने आंखें बंद कीं। आंखें बंद कर लेते हैं तो दुनिया और समाज से कट जाते हैं। इसको एक किस्म का मेडिटेशन कहा जाता है। पंडित जी अचानक से क्रियेटिव मूड में आ गए और उनको किसी रचना की याद आने लगी। रचना यहां किसी लड़की का नाम नहीं है। यह एक अभिव्यक्ति है। जैसे चोर को चोरी करना पसंद है वैसे श्री विलायती राम पांडे जी को लिखना पसंद है। आपको पांडे जी की रचना से रुबरू कराते हैं। हम लेते हैं एक आंशिक ब्रेक: यही जिंदगी है/
 उसने लड़की से कहा
 सिगरेट एक
 जिंदगी की माफिक है
 जिसे पीकर खत्म कर दूंगा
 जिंदगी ही क्या चीज है
 जो लोग
 अक्सर जिंदगी को
 इस तरह समझ लेते हैं
 जिंदगी भी
 समझ लेती है यह जिंदगी के लायक नहीं
 वास्तव में
 कुछ लोग जिंदगी से बेखबर होते हैं
 जो भी खबरदार होते हैं
 जिंदगी उसी तरह स्वीकार करती है
 कुछ लोग
 जिंदगी के उस पहलू को
 समझना नहीं चाहते
 आखिर सुनहरे शब्द उनके साथ

सहयात्रा भी क्यों करें
 आखिर यात्रा
 उसी के साथ करने में आनंद आता है
 जिसके साथ विचार मिलते हैं मन मिलता है
 किसी ने कहा कि उसकी आंखें बोलती हैं
 कल देखा भी
 सुना भी
 उसकी आंखें नहीं शब्द भी बोलते हैं
 अच्छा लगता है जिंदगी में
 कुछ तो चल रहा है
 कुछ अच्छा कुछ बुरा
 इसी को जिंदगी कहते हैं
 आजकल मैंने जिंदगी से दोस्ती की है
 उसने भी कहा कि
 मुझे आपकी दोस्ती पसंद है
 जिंदगी जो कहती है
 उसको मान लेना चाहिए उसको स्वीकार कर
 लेना चाहिए आखिर जिंदगी है कितने पलों की
 वो कहते हैं न जो कट जाए वह अच्छा है
 अब मुझे भी यह वाक्य अच्छा लगने लगा है कि
 जो कट जाए वो अच्छा
 वैसे साहब रास्ते में कितने पड़ाव आने बाकी है
 जो भी आएंगे उन से होकर गुजर जाएंगे
 आखिर जिंदगी का पक्ष है जो एक के बाद
 आता है
 वैसे मनुष्य के जीवन में चार पड़ाव आते हैं
 बालपन युवा प्रौढ़ और बुजुर्ग
 सबका अपना महत्व है
 हर चीज को समझते चलो
 और समझते हुए दुनिया को विदा कर दो
 गुड बाय।

संपर्क: बी3/43, शकुंतला भवन, पश्चिम विहार,
 दिल्ली-110063 मो. 9873525397

अधिकारी कवि

सुरेश कांत

वो: सुरेश जी, उनके इतने काव्य—संकलन आए हैं, इतने व्यंग्य—संकलन आए हैं, वे आखिर लिखते कब हैं?

मैं : यह पूछो कि वे कब नहीं लिखते?

वो : कब नहीं लिखते?

मैं : यही बात उनसे...

वो : किसी इंटरव्यू लेने वाले ने पूछी थी?

मैं : नहीं यार, पूरी बात कह तो लेने दिया करो, बीच में ही कपिल शर्मा बन जाते हो!

वो : सॉरी, सॉरी, अब आप सुनील गोवर मत बनिए, बताइए।

मैं : यही बात उनसे किसी ने नहीं पूछी थी, फिर भी उन्होंने बताई थी।

वो : ऐसे भी कोई बताता है भला?

मैं : कोई नहीं बताता, पर वे बताते हैं, और, औरों में और उनमें यही फर्क है।

वो : अच्छा, तो क्या बताया उन्होंने?

मैं : उन्होंने बताया कि गिनकर पाँच कविताएँ तो वे सुबह बाथरूम में लिख देते हैं।

वो : फिर पहचानते कैसे हैं?

मैं : क्या?

वो : कि उनमें से कौन—सी कविता है और कौन—सा गीत?

मैं : देह में साबुन रगड़कर जब गुनगुनाते हैं तो गीत होता है।

वो : तो फिर कविता कैसे बनती है?

मैं : जब शरीर पर पानी ढालते हैं तब।

वो : लेकिन गीत और कविता को वे पहचानते कैसे हैं?

मैं : कभी—कभी उनके लिए भी यह पहचानना कठिन हो जाता है कि उनमें से कौन—सी कविता है और कौन—सा गीत!

वो : फिर वे क्या करते हैं?

मैं : वे दोनों ही चीजों को प्रकाशित करवा देते हैं और समीक्षकों पर छोड़ देते हैं।

वो : समीक्षक तो एकदम पहचान लेते होंगे, क्योंकि उनके पास तो नीर—क्षीर विवेक का दिव्य चश्मा होता है?

मैं : होता है नहीं, होता था।

वो : क्या मतलब? क्या अब नहीं होता?

मैं : नहीं, अब नहीं होता।

वो : क्यों नहीं होता अब? कहाँ गया उनका वह चश्मा?

मैं : उन्होंने बेच खाया।

वो : कितने में?

मैं : एक अदद बोतल में... या ऐसी ही दूसरी चीजों के बदले...

वो : ओह, मतलब... हीरा जनम अमोल था, कौड़ी बदले जाए?

मैं : नहीं, कौड़ी बदले नहीं जाए, दारू बदले जाए।

वो : ओह, फिर तो समीक्षक भी उनके मामले में कन्प्यूज हो जाते होंगे?

मैं : बिलकुल हो जाते हैं और यही कारण है कि समीक्षक जिन्हें कविता बता देते हैं, वे कूड़ा निकलती है।

वो : कूड़ा?

मैं : हाँ, तब-तक वह कविता का भ्रम देने वाला कवितेतर पदार्थ सूखकर कूड़ा बन गया होता है।

वो : लेकिन एक समीक्षक ने तो उनकी कविताओं को कूड़ा ही बताया था, उसने कैसे पहचाना?

मैं : ठीक यही सवाल मैंने भी उससे पूछा था।

वो : तो क्या बताया उसने?

मैं : उसने बताया कि...

वो : मैं समझ गया, उसने क्या बताया होगा?

मैं : क्या बताया होगा?

वो : यही कि उसके पास बोतल नहीं पहुँची थी।

मैं : नहीं, बोतल तो पहुँच गई थी...

वो : तो फिर क्या वजह रही उसके द्वारा कूड़े को कूड़ा बताए जाने की?

मैं : असल में वह जिस महल्ले में रहता है, वहाँ सूअर बहुत रहते हैं।

वो : अब सूअरों का कविता से क्या संबंध?

मैं : सूअरों का कविता से न सही, गंदगी से तो संबंध है।

वो : हाँ, यह बात तो है।

मैं : और इस तरह, प्रकारांतर से उनका कविता से भी संबंध ठहरा।

वो : वह कैसे?

मैं : कविता को न खाकर वे अप्रत्यक्ष रूप से बता देते हैं कि यह कविता है।

वो : वाह, यह तो आपने बिलकुल सही कहा।

मैं : इसलिए अगर हम कविता की समीक्षा सूअरों से कराएँ, तो वे कहीं ज्यादा अच्छी समीक्षा कर देंगे।

वो : हाँ, गधों से तो बेहतर ही करेंगे।

मैं : इसे हम सूअरों का कविता-विवेक कह सकते हैं।

वो : और शोधकर्ता कविता की विवेचना में सूअरों के योगदान पर शोध कर सकते हैं?

मैं : हाँ, गधों के योगदान पर करने से तो बेहतर ही होगा।

वो : तो सूअरों की बस्ती में रहने वाले उस समीक्षक का क्या हुआ?

मैं : सूअरों की बस्ती में नहीं, सूअरों की भरमार वाली बस्ती में।

वो : हाँ, वही।

मैं : वह घर के बाहर चारपाई डाले, कवि द्वारा अपने सद्य प्रकाशित कविता-संकलन के साथ भेजी गई बोतल से गला तर करते हुए उसकी यथापेक्षित समीक्षा कर ही रहा था कि अचानक एक सूअर ने सूँघते हुए आकर पूरा कविता-संकलन चट कर डाला। भूमिका-लेखक द्वारा लिखी गई उसकी भूमिका तक नहीं छोड़ी।

वो : ओह, यह तो बड़ा दर्दनाक हादसा हुआ।

मैं : हाँ, और तब समीक्षक के सामने कोई चारा नहीं रहा उसे कूड़ा बताने के सिवा।

वो : वैसे उस भूमिका-लेखक को भी क्या सूझी उसकी भूमिका लिखने की?

मैं : एक दिन आकाशवाणी में मिले थे, तो मैंने पूछा था उनसे।

वो : तो क्या बताया उन्होंने?

मैं : उन्होंने बताया कि उन्होंने वह भूमिका इसलिए लिख दी थी, क्योंकि उस कवि ने उन्हें चेतावनी दे दी थी कि अगर वे नहीं लिखेंगे तो वह खुद उनके नाम से कुछ भी लिखकर छपवा देगा।

वो : अरे, यह तो जबरदस्ती हुई?

मैं : हाँ, और उन्होंने यह सोचकर भूमिका लिख दी कि उनके नाम से 'कुछ भी' छपकर जाने से तो बेहतर है कि वे खुद ही 'कुछ' लिखकर दे दें।

वो : भला कोई किसी के साथ ऐसी जबरदस्ती भी कर सकता है?

मैं : हर किसी के साथ तो नहीं कर सकता, पर किसी 'किसी' के साथ जरूर कर सकता है।

वो : किस 'किसी' के साथ?

मैं : जिस 'किसी' पर उसने भी कोई 'कृपा' की हो, उस 'किसी' के साथ।

वो : अच्छा, तो वे कवि क्या हर रोज बाथरूम में पाँच-पाँच कविताएँ लिख डालते हैं?

मैं : कहते तो ऐसा ही हैं।

वो : ओह, तो यह बात है!

मैं : हाँ, और ऐसे ही वे नाश्ता करते हुए, दफ्तर जाते हुए, दफ्तर में रहते हुए, दफ्तर से लौटते हुए, घर आकर पत्नी के साथ चाय पीते हुए, समाचार देखते हुए, डिनर करते हुए... मतलब यह कि सब-कुछ अथवा कुछ भी करते हुए पाँच-पाँच, सात-सात कविताएँ लिख डालते हैं।

वो : कुछ भी करते हुए?

मैं : हाँ, कुछ भी करते हुए।

वो : 'वह' करते हुए भी?

मैं : हाँ, 'वह' करते हुए भी।

वो : कैसे कर लेते हैं वे...

मैं : क्या, 'वह'?

वो : नहीं, कविता।

मैं : जैसे कबीर कर लेते थे...

वो : कबीर क्या कर लेते थे?

मैं : सहज समाधि की स्थिति प्राप्त कर लेने के बाद वे जो-कुछ भी करते थे, वह सब भक्ति ही होती थी। जहाँ-जहाँ जाऊँ सोई परिकरमा, जो कछु करूँ सो सेवा...

वो : वैसे ही क्या वे भी जो-जो करते हैं, वह कविता होती है?

मैं : हाँ।

वो : तो क्या वे कबीर हैं?

मैं : नहीं, वे अधिकारी हैं।

संपर्क: 7-एच, हिमालय लेजेंड, न्याय खंड-1, इंदिरापुरम,

गाजियाबाद-201014 (उत्तर प्रदेश), मो. 9582273875, ईमेल : drsureshkant@gmail.com

कबीर मंदिर लाख का, जड़िया हीरें लालि।
दिवस चारि का पेखनां, बिनसि जाइया काल्हि॥

कबीर सभ जग हटिया, मादलु कंध चढ़ाइ।
कोई काहू का नहीं, सब देखी ठोंकि बजाइ।
(कबीर)

एक प्रेमजीव की

गिरीश पंकज

वह बहुत बड़ा वाला प्रेमी—जीव रहा है। इतना बड़ा कि लोग उसे मजनों का नया अवतार कहने लगे। लैला के चक्कर में मजनों की बहुत पिटाई होती थी। हालांकि मजनों के लिए तो बेचारी लैला ने रोते हुए कहा था, “कोई पत्थर से ना मारो मेरे दीवाने को”, लेकिन त्रासदी यह है कि इस नये मजनों को बचाने कोई लैला नहीं आती। क्योंकि मिस्टर मजनों सड़क छाप छैला बनकर लैलाओं को वश में करने की कोशिश करते रहते हैं। लेकिन वही होता है, जो मंजूरे खुदा होता है। यानी बस पिटाई, पिटाई और पिटाई। बेचारा प्रेम के मामले में उसकी किस्मत हमेशा पंचर ही रही। प्यार के मामले में वह वन वे ट्रैफिक रहा। प्यार का इजहार तो करता रहा लेकिन इनकमिंग का मामला खतरनाक ही रहा। पट्टा सब से प्यार करने के लिए हमेशा ही मरा जाता रहा। जो भी राह में दिखी, उसी का होने की कोशिश में हर बार लंपट श्री की उपाधि पा कर पीठ भी सहलाते रहे लेकिन सबक नहीं सीख सके। हमेशा इसी आस में पिटते रहे कि प्रेम के मामले में होंगे कामयाब एक दिन। प्रेम के चक्कर में वह इतना बेसब्रा है कि क्या कहें। सुबह एक से करता, मगर शाम तक उसका मोह—भंग हो जाता। फौरन दूसरी की ओर लपक पड़ता। सुबह वाली ने घास नहीं डाली, तो शायद शाम वाली को रहम आ जाए। लेकिन इस भरी दुनिया में कोई भी उसका न हुआ। उसकी ऐसी हरकत को देखकर ही लोगों ने उसका नामकरण कर दिया— लतखोरी लाल ‘प्रेमी’। जब—जब उसने प्रेम करने की कोशिश की, तब—तब उसका लतभंजन समारोह हुआ।

लतखोरीलाल जी बचपन से ही प्रेम—पथ पर अग्रसर रहे। किताबों से परहेज मगर मोहल्ले की बालाओं को देखने की भयंकर ललक। इनके पिता भी कम नहीं थे। उनकी परंपरा को आगे बढ़ाते हुए प्रेमी जी जब गबरू जवान हुए तो संयोग से उनके सामने जाल फेंकने के लिए एक बहुत बड़ा समुद्र मौजूद था। समुद्र बोले तो ‘फेसबुक’। लतखोरीजी के लिए कमाल की चीज साबित हुआ फेसबुक। जिस किसी कन्या की पोस्ट दिखी, दन्न से पहुँच गए टिप्पणी पेलने। “वाह, क्या कविता है, क्या विचार है।” फिर इन्बॉक्स में घुस कर बोलते, “आपके विचार से मैं प्यार करता हूँ। और बुरा न मानें तो आपसे भी”। कई बार लड़कियों की गालियां खाते, ‘ब्लॉक’ कर दिए जाते मगर शिकार के लिए जाल फेंकते ही रहते। क्योंकि वे प्रेम के भूखे थे। जब बेरहम कन्याएं हाथ न लगीं, तो वे प्रौढ़ महिलाओं की ओर मुड़े लेकिन वहाँ भी दाल न गली तो लड़कों की ओर मुड़े और गीत गुनगुनाने लगे, “बस यही अपराध मैं हर बार करता हूँ, आदमी हूँ आदमी से प्यार करता हूँ”। लेकिन लतखोरीलाल जी की त्रासदी यह रही की यहां भी उन्हें ब्लॉक किया जाता रहा। अचानक उसे एक पुरानी लाइन याद आई, ‘यह प्रेम को पंथ कराल महा, तलवार की धार पे धावनो है।’ हार कर उन्होंने फेसबुक के माध्यम से अपने वेलेंटाइन—मन से निकलने वाले प्रेम— इजहार के चेप्टर को कुछ दिन के लिए क्लोज किया और गली—मोहल्ले में भटकते हुए चिड़ियों को दाना डालने की कोशिश में लग गए। लेकिन हाय—हाय जालिम पुलिस, पहली बार मैं ही वे धर लिए गए। जिस महिला से वे संकेत भाषा में प्रणय निवेदन की कोशिश कर रहे थे, उसी महिला ने ही

सबसे पहले चप्पल निकाली और दे दनादन शुरू हो गई, फिर उसकी कॉलर पकड़कर शोर मचा दिया, भीड़ जमा हो गई। उसके बाद तो सभी ने बहती गंगा में हाथ धोने का काम किया। सामूहिक रूप से प्रेमी जीव की डट कर आरती उतारी गई, फिर उन्हें पुलिस के हवाले कर दिया गया। जेब की सारी रकम पुलिसवालों को समर्पित कर उठक-बैठक लगाकर लतखोरी जी किसी तरह घर पहुंचे। पत्नी समझ गई कि यह मजन्नों जी आज फिर पिट के आए हैं। वो बड़बड़ाई, “हे भगवान, अपनी किस्मत में यही आइटम लिखा था”। प्रकट में और क्या बोलती, सिवाय इसके कि “आओ पतिदेव, जख्मों पर मरहम लगा दूँ।” पत्नी ने कहा ‘मरहम’ लेकिन लतखोरी जी समझे ‘नमक’। घबरा कर बोले, “ना-ना, नमक नहीं”। पत्नी हँस कर बोली, “नमक लगाएँ पड़ोसी, मैं तो मरहम की बात कर रही थी। लगता है फिर पिट कर आ रहे हैं?” पत्नी की बात सुन कर वीरोचित भाव से सर ऊपर कर लतखोरीलाल जी दहाड़े, “अरे, हम मर्द हैं, मर्द (इतना बोल कर वे खाँस पड़े और बोले), पीट कर आ रहे हैं। पीट कर, लेकिन वो क्या है न, जब लड़ाई होती है, तो कुछ मुक्के-उक्के खुद को भी पड़ते-ही-पड़ते हैं।”

पत्नी जोरों से हँसने के लिए अंदर चली जाती है।

आजकल लतखोरी लाल जी वाट्सएप में सक्रिय हैं। एक ग्रुप बना लिया है, उसका नाम रखा है—“हम प्रेमी जीव”। इस ग्रुप में सारे छटे हुए प्रेमी जमा है। सबके सब पत्नी पीड़ित है। ये ऐसे मरभुक्खे हैं जिन्हें घर का खाना ही पसन्द नहीं इसलिए बाहर मुँह मारने के लिए बेचैन रहते हैं। कभी पत्नियों पर चुटकुले करते हैं, तो

कभी महिलाओं का मजाक उड़ाते हैं। कुंठा जो न कराए थोड़ा। असफल आदमी भी बेचारा कुछ-न-कुछ तो करेगा ही न! तो, प्रेमी जीव भी कुछ-न-कुछ करने की कोशिश में लगे हुए हैं मुन्ना भाई की तरह। बंदर कितना भी बूढ़ा हो जाए, गुलाटी खाना नहीं भूलता। प्रेमी जी भी बूढ़े हो चले हैं लेकिन जब कभी मौका मिलता है, अपनी पुरानी हरकतें शुरू कर देते हैं। नतीजा यह होता है कि कोई उन्हें जी भरकर गालियां देता है, कोई दुत्कार देता है। कभी-कभी उन्हें एक दो थप्पड़ भी पड़ जाते हैं, लेकिन प्रेमी जी बेशरमेव जयते का घोष करते हुए आगे बढ़ जाते हैं। मन-ही-मन वे निर्मम संसार को कोसते हैं कि हाय-हाय, दुनिया में प्रेम करने वालों की अब तो कदर ही नहीं रही। कभी मजन्नों पिटा, तो कभी रोमियो। और अब लतखोरीलाल पिट रहा है। उन्हें किसी शाइर की पंक्ति याद आ गई। शेर यूँ हैं—“हमको मारा इस दुनिया ने, था हम पर इलजाम मोहब्बत”। मतलब मोहब्बत करने वाले की पिटाई होगी ही। कोई नई बात नहीं। खैर, इस जन्म में न सही, अगले जन्म में ही सही, हमारी लव स्टोरी पूर्ण होगी। कोई तो होगा या होगी जो हमारे प्यार को समझेगा-समझेगी और लपक के कहेगा या कहेगी, ‘आई लव यू’।...

इतना अच्छा-अच्छा सोचने के बाद वे वाट्सएप में पत्नी पर प्राप्त एक नया चुटकुला फारवर्ड करके अपनी बेचैन आत्मा को शीतलता प्रदान करने में भिड़ गए। मगर यहां भी उनकी दुर्गति शुरू हो गई क्योंकि लोगों ने उनकी हरकतों की जानकारी उनकी गुस्सैल पत्नी तक पहुंचा दी। नतीजा यह हुआ कि जो सज्जन घर के बाहर पिटा करते थे, अब घर के भीतर पिटने लगे।

संपर्क: सेक्टर-3, एच.आई.जी.-2, घर नं. 2, दिनदयाल उपाध्याय नगर,
रायपुर-492010 (छत्तीसगढ़), मो. 8770969574

लूट लूटे, लूटे लूट

रामदेव धुरंधर

देश में अराजकता फैलने से अकल्पित उलट-फेर मची हुई थी। गाय बैल खरीदने वाले कसाई खरीदते नहीं थे। वे मवेशियों को गौशाला से लूट ले जाते थे। यह तो कसाइयों की लूट हुई। इससे आगे लूट के तो हजारों रूप-प्रतिरूप हुए। सोनार ने चुन-चुन कर सोना लूटा, लोहार ने लोहा, कुम्हार ने माटी, कंजूस ने अपनी तिजोरी भरने के लिए सूद लूटा, धनवानों ने गरीबों के दो पल का चैन लूटा। कोई मानवी हत्यारा होने से लोगों की गर्दन लूटी, पापी ने पाप लूटा। कुरूप ने रूप लूटा, कामांधों ने इज्जत लूटी। जवानी लूटी गई, यौवन लूटा गया, बुढ़ापा भी तो लूट में गया। फुलवारी लूटने के बाद आग का दरिया बिछा दिया गया ताकि वहाँ फिर फूल खिलने की संभावना शेष न हो। अपने को दूध का धुला कहने वालों ने दूसरों की अच्छाई लूट कर अपना वजन बढ़ाया। आँख वालों ने दूसरों की आँखें लूटीं। अपनी आँखें कभी अंधी हो जाएँगी तो लूट की ये परायी आँखें अपने काम आएँगी। अपने कंठ के भावी गूंगेपन की आशंका से जुबान लूटी गई। लूट में वहशीपन ऐसा भी हुआ कि पुरुषों ने अपनी औरत के लिए तगड़े मर्दों का पौरुष लूटा। औरतें भी तो लूट की इस दरिंदगी में शामिल थीं। विधवा हुई तो सिंदूर की मांग लूटी। पुरातन मान्यता है मर्द औरतों पर लूट मचा कर उन्हें बेआबरू करते हैं। औरतों ने लूट के इस दौर में मर्द लूट कर जमीन के सीने पर लिखा हमें भी अपनी हवस पूरी करने के लिए मर्दों पर लूट मचाना आता है। मर्दों के लूट में जाने का एक कारण यह भी हुआ सुख से अपनी चरबी मोटी हो जाने की वजह से औरतों ने अपने दुख, पश्चाताप, मार और कलह के लिए उन्हें लूटा।

देश के एक पिछड़े गाँव का रहने वाला एक दुबला-पतला आदमी था, हृदय का कोमल, दिमाग से दुरुस्त, भोग-विलास की परिभाषा में सर्वथा निष्पाप। उसके हाथों से रोटी पाने वालों ने उसे 'महात्मा' कहने की आदत बना ली थी। लूट के हाहाकार में वह चल कर बीच देश में आया। उसके पूरे अस्तित्व के साथ उसे लूटने के लिए लुटेरों के हाथों के अंबार तो उठे। वह बच निकला तो आगे भी बच ही जाता। उसे बचने का अभयदान प्राप्त न था तो भी अभयदान ने स्वयं चल कर उसका अभिषेक किया था। वास्तव में प्रकृति का रहस्य इसी में था। दुनिया दागदार हो रही हो तो कहीं-न-कहीं पुण्य की एक किरण दाग से बेदाग छूट ही जाती है। यही अगले युग के पुनर्निर्माण का बीज बनता है।

महात्मा ने देखा चारों ओर विनाश का काला धुआँ उड़ रहा था। सहसा एक छोटे से लड़के ने धुएँ के बीच से आ कर उसका हाथ कस लिया। लड़का आग से झुलसा हुआ था। प्राण न जाने उसकी काया में क्या देख कर अब भी उस में वास कर रहा था। पर प्राण के रहते वह जिंदा था भी तो कितना? एकदम से तुड़ा मुड़ा शरीर। लूट की दरिंदगी खून जैसी धार में उसे भी बहा ले जाती। लूट से वह जिंदा बचा हुआ था तो यह एक चमत्कार ही था। महात्मा ने लड़के की रुलाई मिश्रित उसकी आवाज से उसकी मर्मांतक कहानी

सुनी। अनाथ लड़के को सहारे की आवश्यकता थी। महात्मा ने गले लगा कर उसे अपना बना लिया।

महात्मा लड़के को लिये लूट की धूल से सने रास्ते पर किसी तरह पाँव आगे बढ़ाते चला जा रहा था कि एक विशालकाय आदमी ने उसे श्मशान घाट के सामने रोका। आदमी ने श्मशान घाट को अपनी जागीर कह कर महात्मा को अचंभित कर दिया। वह तो दूर का आदमी था। उसने लूट के नाम पर अपने ठौर ठिकाने से निकल कर इस श्मशान के लिए कूच किया था। अधजली खोपड़ियों और राख से सनी हुई हड्डियों से उसके दोनों हाथ भरे-भरे थे। लूट का यह भी एक अध्याय था।

लड़के ने महात्मा से कहा इसी आदमी ने उसके माता-पिता को लूट ले जाने के साथ उसके घर के सामने के तालाब में खिले हुए कमल को अपने लिए बेमतलब मान कर सड़ी बदबू लूटी थी।

आदमी अब पहचान पाया यह लड़का उसकी लूट से छूट गया था। उसने कर्कशता से चाहा लड़के को अब से भी लूट ले। उसने अपनी इस लूट का मंतव्य भी बता दिया। लड़के को अपने हाथी के पाँवों के नीचे बार-बार कुचलने और उसकी मरती साँसों को गिनने की उसे अकुलाहट बनी हुई थी। महात्मा ने लड़के को लूट में जाने से बचा लिया। लूट अधूरी रह जाने से वह आदमी गालियों का वर्षण करते हुए अपने हाथों में समेटी हुई खोपड़ियों को झुलाते श्मशान में गया और पाल्थी मार कर बैठ गया। महात्मा और बालक को उससे यह बहुत बड़ी मुक्ति थी।

महात्मा लड़के को लिये जा रहा था कि एक वृद्धा दिखाई दी। वह धर्मात्मा की भावना तो न जानती। पर उसने लड़के को जाना। यही धरती का जैसे शेष फूल हो। उसे लड़के के प्रति श्रद्धा

होते महात्मा से भी हो गई। श्रद्धा, प्रेम और पुण्य का जैसे इनके बीच सत्युग लहलहा उठा। लूट के सौदागर वृद्धा के पति को कहीं चल रहे घमासान युद्ध के लिए सिपाही बनाने हेतु लूट ले गए थे। लुटेरे और भी बहुत कुछ के लिए वृद्धा के घर में दाखिल हुए थे। बरतन, घर की छत, कपड़ों में टाँकने के लिए रखी हुई पैबंद आदि सब लूट ले गए। लुटेरों से बची तो केवल यह वृद्धा।

महात्मा ने किसी तरह धैर्य से वृद्धा की कहानी सुनी। लूट की उस नगरी में अपनी आत्मशक्ति को यथावत बनाये रख कर वह वृद्धा का सहायक बन गया। तीनों साथ चले जा रहे थे कि लूट के एक और लुटेरे से उनका सामना हुआ। लुटेरे ने लूट के मद में एक ही साँस में लूट की अपनी मंशा बाँच दी। उसने लूट के तेवर से लड़के को अपनी औरत की पीठ धोने के लिए पाना चाहा। नौकरानी उसके घर में लूट मचा कर भाग गई थी। नौकरानी लूट में तो उसके घर की बड़ी चीजों के साथ जंग पड़ी सुई तक ले गई। इतनी भयानक लूट प्रमाण दे रही थी उसके घर में लूट का कैसा मातम छाया हुआ है। पर उसकी औरत को घर की चीजों की लूट की चिंता न हो कर केवल अपनी पीठ के लिए चिंता थी। नौकरानी सब लूट कर अपने घर ले जाती, लेकिन उसकी पीठ धोने के लिए लौट तो आती। बात यह थी लूट के गंदे कपड़े पहनने से उसकी औरत की पीठ में खुजली हो गई थी। खुजली दवा से न जाकर बस धोने से थमती थी। यही कारण हुआ कि उसकी पीठ अनधुली छूटे तो वह रोने लगती थी। लूट के उस मातम में उसकी औरत की यही आह हुई। अब पता चल रहा था अपनी औरत की आह लूट से बच गई थी। तो यह भी नौकरानी लूट ले जाती। उसकी औरत कुछ चैन

से जी तो पाती। पर आह लूट में न गई और यह इस रूप में प्रकट हो रहा था कि उसकी औरत की पीठ अब कौन धोए? लूटेरे ने अपना अगला स्पष्टीकरण यह दिया वह लड़के को निष्पाप मान कर अपनी औरत की पीठ धोने के लिए लूट ले जाना चाहता है। लूट का ऐसा अबोध लड़का उसकी औरत के समूचे नंगे शरीर को देख ले तो वैसे गूदेदार शरीर को लूटने जैसे पाप का उसके मन में अंकुरण भूल से भी न होगा। लूट की आँखें रखने वाले लुटेरे की समझ तो वाकई दूर तक जाती थी। बस लूट को अमानवीय समझने में उसका दिल उदार न था।

महात्मा के इंकार पर बालक को न लूट पाने से लुटेरा रो पड़ा। क्या-क्या न लूटा। बस बालक को न लूटने से लूट का उसका कलेजा दर्द के मारे फटने लगा था। बालक को अपनी औरत के लिए लूट लेता तो लूट की दुनिया में एक खास कड़ी जुड़ जाती। उसकी ऐसी लूट देख कर बाकी तमाम लुटेरे इस सोच से तरस रहे होते ऐसी लूट उनके हिस्से न आई। लुटेरे को लूट के लिए लड़का न मिला, लेकिन लूट का उसका राक्षस सबल होने से उसने लूट के मैदान में बने रहने के लिए महात्मा की बगल में खड़ी वृद्धा को लूटने के लिए हाथ लपलपाना शुरू कर दिया। उसके लूट भरे दिमाग में आया था लूट का अब दूसरा विकल्प उसे ढूँढना होगा। अपने छोटे बेटों के लिए वृद्धा गुरुआइन होती। लुटेरे के घर में लूट से आई हुई जवान औरतें होतीं। लूट की वृद्धा उसके छोटे बेटों को लूट की उन जवान औरतों के सामने नंगे खड़े होने के लिए कामुकता सिखाती। महात्मा ने लुटेरे से इतना सुनते ही उसे लूट का दरिंदा कहा। अपने छोटे बेटों की कामुकता के लिए ऐसी-ऐसी लूट! लूट का यह कैसा युग आया?

महात्मा लड़के और वृद्धा को ले कर वहाँ से चल पड़ा... लूट के अगले काले धुँ में किसी तरह पाँव बढ़ाते, किसी तरह रास्ते तलाशते।

महात्मा दो कदम आगे बढ़ा कि देखा एक लुटेरा आँखों की अंधी, बेहद बीमार, लूट के कारण चिथड़ी हुई एक औरत को लूटकर अपने कंधे पर उठा ले जाने के लिए बल लगा रहा था। औरत ने किसी तरह लुटेरे से लड़ कर लूट में जाने से अपने को बचाया और भाग चली। लुटेरा हाय करते बुरी तरह रोने लगा। लुटेरे की बातों से पता चला यह औरत बांझ थी। लुटेरे की बहन भी बांझ है। उसकी बहन को भ्रांति हो चली है कि वह दुनिया में अकेली बांझ है। लुटेरा इस मरती सी बेबस औरत को लूटकर इसका सारा मांस निचुड़ता, फिर शेष प्राण हरने के लिए उसका गला दबाता। वह लूट की औरत के निर्जीव शरीर को कील समझ कर लूट के माल से भरे अपने घर में टांग देता। औरत की नंगी छाती पर लिखा होता, "मैं भी बांझ हूँ।" यह पढ़-पढ़ कर लुटेरे की बहन के कलेजे से अपने अकेले के बांझपन की भ्रांति टूटती और संतोष व्यक्त करने में समर्थ हो जाने पर वह झूम-झूम कर कह रही होती, "हाय मैं कितनी भ्रांति में थी। लूट की इस दुनिया में बांझ तो और भी हैं।"

लुटेरा इस औरत को अपनी बांझ बहन के लिए लूटने में सफल न हो पाया। कमजोर होकर भी वह औरत लुटेरे से लड़ी और उसे धूल धूसरित बना कर भाग गई। लुटेरा सिर पर हाथ धरे बैठ गया। उस लुटेरे ने उस औरत को लूट न पाने के दुख में कहा, "खाली हाथ लौटने पर मुझे लगेगा मैंने निन्यानबे तो लूटा। बस सौ लूटने में न आया।"

लुटेरा इतना कहकर आग से जली हुई धरती

पर लोट कर अपना सिर नोचने लगा। महात्मा का मुँह बोला बेटा और बूढ़ी मैया लूट के ऐसे दरिदे की जुबानी उतना कुछ सुनते सहम गए थे।

महात्मा दोनों को लेकर किसी तरह आगे बढ़ा। लूट के उस उजड़े-उजड़े रास्ते पर आगे बढ़ने में वह खतरे का एहसास कर रहा था। वह दोनों को एक कंदरा में छिपाने के लिए विवश हुआ। वक्त अनुकूल दिखने पर वह दोनों को वहाँ से निकाल कर अपने साथ लिये चल देता। महात्मा दोनों को छिपाने के बाद अब लूट से बजबजाते रास्ते पर अकेला था। उसने देखा, एक लुटेरा शीशे के चूर हुए टुकड़े जी जान लड़ा कर लूट रहा था। चूर शीशों से लुटेरा लहलुहान हो रहा था, लेकिन वह लूट से पीछे हटता नहीं था। महात्मा को यहाँ तो और भी आश्चर्य हुआ यह कैसी लूट है? लुटेरे ने चूर शीशों का पुलिंदा बना कर सिर पर लादा। लूट के रास्ते पर वह दो कदम चला कि लूट की रस्सी टूट गई और काँच के सारे टुकड़े लुटेरे पर इतनी बेदर्दी से बरसे कि वह सिर से ले कर पाँव तक बुरी तरह कट गया। उसने लूट में ऐसी भीषण पराजय और शरीर के कटने से चीखते चिल्लाते कहा, "अपने बंधुआ मजदूरों की पीठ पर शीशे की धार आर-पार चुभाने का मजा निराला होता। मैं इसीलिए तो चूर शीशे लूटने आया था। हाय, घायल होना मुझे स्वीकार है, लेकिन लूट की यह इच्छा अपूर्ण रह जाने से मैं लुटेरों की दौड़ में पिछड़ गया। आधा घायल शरीर तो जैसे मर गया, लेकिन यह जो आधा शरीर जिंदा है, लूट में पूरी तरह सफल न होने के दुख में इसे आज नहीं तो कल मिटा कर रूँगा। कोई बात नहीं, चील कौए गिद्ध वगैरह मेरे सड़ते हुए शव को चीर कर खाने के लिए

अपनी चोंच में लूट ले जाएँ।"

एक लूट तो और भी अजीब हुई। एक लुटेरे ने कमजोर राजनेता के महल जैसे घर में लूट के लिए धावा बोला और लूट कर चला गया। प्रतिशोध के लिए अपने हाथ मजबूत न होने से राजनेता ने कमजोरों की झोंपड़ियाँ लूट डालीं। अपनी कमजोरी को निर्दयता में परिवर्तित करने की शक्ति रखने से राजनेता ने यहाँ तक एक औरत का पेट लूट लिया। पेट होने से औरत माँ बनती। राजनेता देखने में दयालु लगता था, लेकिन यह था उसका वास्तविक रूप। अपनी औरत निस्सन्तान होने वह गर्भवती औरतों से भयंकर रूप से घृणा करता था।

महात्मा ने ऐसा भी देखा किसी का सोना जैसा बेटा लूट में गया तो प्रतिकार में दूसरों का सोना जैसा बेटा लूट में न मिलने से पीतल जैसी बेटी से लूट का नाम खूब लिखा गया।

जहाँ अपनी इच्छा से लूट नहीं मचती थी वहाँ लोगों को लूट के लिए विवश करते हुए कोड़ों से मारा जाता था। गरीब हो तो गरीबी लूटो, राशन खरीदने वाले हों तो महंगाई लूटो। भूख लूटो, बेबसी लूटो, चीत्कार लूटो, मालदारों का शोषण भी लूटो, गिद्धों की जूठी हड्डी लूटो, पीने के लिए सड़ा पानी लूटो, धनवानों के हाथों मार खा कर मौत तक लूटो!

महात्मा लूट देखने के अपने दर्द को और बलिष्ठ न कर पाने से कंदरा की ओर मुड़ गया। उसने लड़के और वृद्धा को कंदरा से बाहर निकाला। उसने एक हाथ से लड़के को थामा और दूसरे हाथ से वृद्धा को सहारा दिया। इन्हीं दो बेसहारों को सहारा देने के लिए उसके अपने दो हाथ थे। दो से अधिक हाथ तो सृष्टि कर्ता ने अपने लिए रख लिये थे।

संपर्क: कारोलिन बेल एर, मॉरिशस, फोन: +23057537057

फक्कड़ों की जिंदगी जीना चाहें तो

धर्मपाल महेंद्र जैन

सवेरे पाँच बजे उठने वाले प्राणियों पर मुझे दया आती है। यह समय ब्रह्म मुहूर्त कहा गया है। इसमें ब्रह्मांड के मुख्य कार्यपालक ब्रह्माजी उठते हैं। उनके उठते ही मुर्गे बांग देते हैं। ब्रह्माजी के चमचे इसे शुभ मुहूर्त समझते हैं। यह ब्रह्माजी के लिए गॉड ऑफ ऑनर है, चमचों के लिये ऑनर नहीं है, इसलिए आप वापस सो जाइए। ब्रह्मानुयायी कंपकंपाती ठंड में शीतल जल से स्नान कर ब्रह्माजी को अपनी कृशकाया बताते हैं। सूर्योदय होता है तो ये लोग सूर्य नमस्कार करने लग जाते हैं। कैसे परंपरागत दलबदलू हैं ये, हर आते देवता के सम्मान में निष्ठा बदल लेते हैं। इसी प्रवृत्ति के मारे देवी लक्ष्मीजी ने उल्लू, गणेशजी ने चूहे और विष्णुजी ने गरुड़ को अपना ड्राइवर चुना। किसी देवी-देवता ने मतलबी आदमी को ड्राइवर नहीं रखा। अवसादग्रस्त इन प्रातः उठक्कड़ों ने भ्रांति फैला रखी है। वे कहते हैं— 'जो जागेगा वह पाएगा'। शायद वे नहीं जानते कि जागने के लिए सोना बहुत जरूरी है। इसलिए मेरे दुर्लभ पाठको, नींद का भरपूर आनंद लो, सपनों का स्वर्गीय सुख उठाओ। हमारे भरपूर सोने से देवताओं का दिमाग ठिकाने आ जाएगा और मानव जाति को अपनी खोई हुई कांति मिल जाएगी। मैं कुंभकर्ण का ऋणी हूँ, जिन्होंने महीनों सोकर निद्राक्रांति का कीर्तिमान बनाया। सोने में सर्वसिद्धि मानी गई है। सोना गोल्ड माना गया है। सरकार सोती है, प्रशासक सोते हैं, जनता सोती है। सारा का सारा देश सो रहा है, तभी प्रगति कर रहा है, जनसंख्या बढ़ रही है।

आदमी नींदजीवी है, आधी उम्र संकटमोचक निद्रादेवी की साधना में रहता है। सभी योनियों में जन्मे प्राणीकाय इसके साधक हैं। कभी किसी ग्रह-उपग्रह पर जीव मिलें तो वे भी निद्रादेवी से संक्रमित ही होंगे। अमेरिकन हो या चीनी, चौपाया, दोपाया या लेटपाया, सभी निद्रादास हैं। मैं भी उनमें से एक हूँ। हर रात्रि टांग-पर-टांग चढ़ा, मुँह ढँक भरपूर निद्रायोग करता हूँ। जो लोग यह योग बराबर नहीं करते उन्हें बीमारियाँ घेर लेती हैं, उनका घर अस्पताल नजर आता है। उनकी काया जवानी में दवाई की बोतल और कालांतर में सीरिज जैसी लगती है। आदमी रोटीजीवी जमात भी है। एक जमाने में रोटियाँ पेड़ पर लगती थीं। लोग बिना कूपन के, बिना लाइन लगाए ताजा-ताजा रोटियाँ तोड़ते, खाते और ठंडी बयार में घर्-घर्-खर् नींद निकालते। बुरा हो उस लालची, संग्रहखोर, अशक्त वृद्धा का जिसने एक हफ्ते की रोटियाँ तोड़ कर स्टॉक कर लीं। उस नाजीवादी तानाशाह को क्या कहें जिसने रोटियों के बाग उजड़वा दिए। तब से हमें रोटी के लिए श्रम जैसे कठोर और अभारतीय काम करने पड़ते हैं। रोटियाँ क्या छिनीं, चादर तान कर सोने का मौलिक अधिकार छीन गया। आपकी तरह मुझे भी सवेरे-सवेरे लाजवाब नींद आती है। नींद 'आती' है, इसी विचार से मैं भाषाशास्त्रियों के

ज्ञान का कायल हो जाता हूँ। यदि यह वाक्य नींद 'आता' है होता, तो मैं सवेरे चार बजे उठकर घर से विदा हो जाता। गर्मी के मौसम में प्रातःकाल ठंडी-ठंडी रुह अफजाई बहार का आनंद लेना हो तो चादर ताने रहो। सर्दियों की सुबह में स्व-सेते शरीर की गर्माहट का अविस्मरणीय अनुभव लेना हो तो रजाई में दुबके रहो। नींद का भरपूर जायका, बेहतरीन स्वाद और पूरी तसल्ली भाग्यवान प्राणी को सवेरे-सवेरे बिस्तर में पड़े-पड़े मिलती है। लोग यहीं से स्वर्ग पाना भी पसंद करते हैं।

मेरे उठने के इंतजार में पिता या पत्नी (जैसा भी मामला हो) आणविक विस्फोटक बनने लगते हैं। जम्हाई मुझे कभी बिरजू महाराज या कभी सोनल मानसिंह बना रही होती है। तभी ऊँची आवाज में राष्ट्रीय समाचार आने लगते हैं। पड़ोसी आज का ताजा अखबार लौटा जाते हैं। नाश्ते की उकसाती गंध बिस्तर से अधिक मोहक लगने लगती है, तब मैं उठ जाता हूँ। जो लोग जल्दी उठते हैं उन्हें हर बात के लिए लाइन में लगना पड़ता है। रोजगार दफ्तर की लाइन की बजाय ये लोग शौचालय की लाइन में लगे रहते हैं। देर से उठो तो देर से सोओ। जल्दी सोने वालों की आधी रात में नींद खुल जाती है। आदमी चिंताओं का स्टॉक एक्सचेंज बनने लगता है और चिंताएँ सेंसेक्स की तरह बढ़ती रहती हैं। मच्छरों को अपना खून चूसते देख सरकारी विभागों की याद आती है। देर से सोने में यह फायदा तो है ही कि खटमल-मच्छर ज्यादा तंग नहीं करते। वे परिवारजन का खून पी-पीकर संतृप्त हो चुके होते हैं। यदा-कदा उनकी भिन-भिन, शास्त्रीय संगीत-सी लगती है। शास्त्रीय संगीत सुनते हुए जब मुझे दिन में ही झपकी आ जाती है तो रात्रिकालीन संगीत सभा

में गहरी नींद आना पक्का समझिये। सोने पर प्लेटिनम का टच। इस समय तक वरली-मटके के ओपन-क्लोज भाग्यांक आ चुके होते हैं। हमारे पड़ोसी की रोजी-रोटी इसी पर निर्भर करती है। उनके सोने की संभावना भाग्यांक पर आधारित है। थाली-बेलन के साथ एक निहत्थे का गृहयुद्ध सामान्यतः रोज चलता है। इसलिए मेरे निद्रालीन होने का सुसमय अर्धरात्रि के बाद ही आता है। आप अल्हड़ अर्धरात्रि की कल्पना तो करें! भीड़ भरी सड़कें लॉकडाउन-सी शांत हो जाती हैं। बंद दुकानें और खामोश खोमचे, चुनाव हारे राजनेता-से मौन हो जाते हैं। सड़क पर मंद शीतल पवन की अनुभूति करते हुए ऐसा लगता है जैसे हम जीवन की संभावनाओं का पता लगाने अन्य लोक में घूम रहे हों। बस अर्धरात्रि में पुलिस वालों से अचानक जान-पहचान के अवांछित सुख से बच कर रहें।

प्रातः देर से उठ हाय-तौबा मचाते हुए ऑफिस जाने का पौरुषीय सुख अवर्णनीय है। नहाने जैसा दंड मुझे मजबूरी में ही भुगतना पड़ता है। इस कारण सर्दी-खाँसी-कोरोना जैसे कुछ रोग नहीं होते और असाध्य डॉक्टरों के पास जाने से मैं बच जाता हूँ। मेरी धारणा है कि भारतीय रोज नहाने के कारण गरीब हैं। कहावत है-पैसा हाथ का मैल है, नहाने पर मैल धुल जाता है। अरब देशों में लोग हफ्ते-दो हफ्ते में नहाते हैं इसलिए अमीर हैं। चिंतन करते-करते ऑफिस पहुँच ही जाता हूँ। लेट पहुँचो और नजर आ जाओ तो अफसर बुलाएगा ही। उन्हें श्वेत-चौपाया बनाने के कई गोपनीय हथकंडे आते हैं जो यहाँ सार्वजनिक नहीं किये जा सकते। ऑफिस में उबासी मेरा पीछा नहीं छोड़ती, आगंतुकों को मुझे कुछ कहना नहीं पड़ता, वे स्वतः ही राजधर्म निभा जाते हैं। दिन की शुरुआत ही पहली गेंद

पर छक्का मारने जैसी लगती है। मजा तो तब आता है जब बॉस कैबिन में बुलाते हैं, शिक्षाप्रद भाषण देते हैं। मैं होठों को भींच कर उबासी दबाये रखता हूँ, बॉस समझते हैं मैं आज्ञाकारी हूँ, मुस्कुराते हुए उनका उपदेश ग्रहण कर रहा हूँ। कैबिन से बाहर निकलने पर जम्हाई तेजी से आती है, भाव बदले होते हैं और मुँह खुला का खुला रह जाता है। सहयोगी समझते हैं बॉस मुझ पर बहुत खुश

हुए होंगे। देर से उठने के इस दैवीय गुण के कारण मैं चमचागिरी करने वाले सर्वोत्तम चमचों में गिना जाता हूँ। विवाहित आदमी फक्कड़ों की जिंदगी जीना चाहें तो उसका एकमात्र उपाय है देर तक सोना। पाठक, आप अभी से क्यों सो गए? कबीर की शैली में दो लाइनां तो सुन लें—

जिन सोया तिन पाइया गहरी निद्रा पैठ।
हौ बोरा सोवन डरा रहा ठेठ का ठेठ।

सम्पर्क :

1512-17 एनडेल ड्राइव, टोरंटो M2N2W7, कनाडा

ईमेल : dharmtoronto@gmail.com, फोन : +416 225 2415

आप जैसे उच्च श्रेणी के विद्वान के जी में यह बात कैसे समाई कि भारतवासी बहुत-से काम करने के योग्य नहीं और उनको आप के सजातीय ही कर सकते हैं? आप परीक्षा करके देखिये कि भारतवासी सचमुच उन ऊंचे कामों को कर सकते हैं या नहीं, जिनको आपके सजातीय कर सकते हैं। श्रम में, बुद्धि में, विद्या में, काम में, वक्तृक्ता में, सहिष्णुता में, किसी बात में इस देश के निवासी संसार में किसी जाति के आदमियों से पीछे रहने वाले नहीं हैं। वरंच दो एक गुण भारतवासियों में ऐसे हैं कि संसार भर में किसी जाति के लोग उनका अनुसरण नहीं कर सकते। हिंदुस्थानी फारसी पढ़ के ठीक फारसी वालों की भांति बोल सकते हैं, कविता भी कर सकते हैं। अंग्रेजी बोलने में वह अंग्रेजों की पूरी नकल कर सकते हैं, कण्ठ तालू को अंग्रेजों के सदृश बना सकते हैं। पर एक भी अंग्रेज ऐसा नहीं है, जो हिंदुस्थानियों की भांति साफ हिंदी बोल सकता हो। किसी बात में हिंदुस्थानी पीछे रहने वाले नहीं हैं। हां दो बातों में वह अंग्रेजों की नकल या बराबरी नहीं कर सकते हैं। एक तो अपने शरीर के काले रंग को अंग्रेजों की भांति गोरा नहीं बना सकते और दूसरे अपने भाग्य को उनके भाग्य में रगड़कर बराबर नहीं कर सकते।

बालमुकुंद गुप्त

आयुष्मान भवः

सी.भास्कर राव

उस गरीब के हाथ एन-केन-प्रकारेण बड़े अस्पताल में पांच लाख के मुफ्त इलाज का कार्ड लेन-देन की भारतीय चाल-चलन के अनुसार आखिर मिल ही गया। वह बहुत खुश था। मानो उसकी लॉट्री लग गई हो। बीमार तो वह अरसे से था। यह कोई बड़ी बात नहीं है। देश में कौन ऐसा है, जो बीमार हो और गरीब न हो। दोनों में चोली-दामन का साथ रहता है।

वह बड़े ठाठ से एक नामी-गिरामी अस्पताल में गया। हवा में अपना आयुष्मान कार्ड लहराते हुए, ताकि कोई उसे भिखारी समझकर दौड़ा न दे। वह अस्पताल के काउंटर पर पहुंचा। वहां एक तथाकथित खूबसूरत लड़की के साथ एक बदसूरत क्लर्क प्रेम-वेम जैसा कुछ निपटा रहा था।

उसने अपना कार्ड बड़े ठाठ से आगे बढ़ाया। काउंटर वालों की नजर उस पर पड़ी।

खूबसूरत लड़की मुस्कुराई। हल्के से बदसूरत क्लर्क को आंख मारी और भीतर चली गई। इशारा स्पष्ट था कि अब इस जाहिल से तुम्हीं निपटो।

“क्या है?” क्लर्क ने हेकड़ी से पूछा।

“ई कार्ड है।”

“तो?”

“हमका इलाज कराना है, ई अस्पताल में, हमको बहुत बीमारी सब है।”

“एक कार्ड दिखाकर सब बीमारियों का इलाज करा लोगे?”

“हमको पता चला कि पांच लाख तक का बीमारी का इलाज अब हिंया मुफ्त में होगा।”

“मतलब यह है कि आप सरासर पी.एम. के साक्षात मरीज हैं।”

“हम कछु समझे नाहीं।”

“हम अभी सब समझा देते हैं।” क्लर्क ने व्यंग्यात्मक मुस्कान के साथ कहा और उसका आयुष्मान कार्ड अपने हाथ में लेकर उसे उलट-पलट कर देखा, फिर कहा।

“ये कार्ड गलत है।”

“काहे?” गरीब-बीमार अथवा बीमार-गरीब असमंजस में पड़ गया। इतनी मेहनत-मशक्कत और सौदा-सुलह के बाद तो यह कार्ड उसके हाथ लगा था।

“इसमें लिखा है—‘अयुष्मान’ देख रहे हो न।

“हम का देखें, हम कोनो पढ़त-लिखत हैं का?”

“तुम गँवार-उज्जड़ हो इसीलिए तुम्हें गलत स्पेलिंग वाला कार्ड धरा दिया गया है।”

“इसमा का गलत है?”

“गलत यह है कि कायदे से होना चाहिए ‘आयुष्मान’ यानी तुम्हारे कार्ड में अ के बाद आकार छूटा हुआ है।”

“तो हम का करें?”

“करो ये कि इसकी वर्तनी पहले ठीक करा कर लाओ तब इलाज-विलाज कराना।”

वह बेचारा हताश-निराश होकर वहां से लौटा और दूसरे दिन कार्ड कार्यालय में जाकर बताया।

वहां किसी ने अ के आगे कलम से आकार लगा दिया। वह दुबारा उस फाईव स्टार अस्पताल पहुंचा। इस बार भी उसी क्लर्क महोदय से वहीं भेंट हुई। उसने कार्ड उसके सामने रखा। क्लर्क ने उसे पहले की तरह उलट-पलट कर देखा और बोला, "फिर एक गलती रह गई।"

"अब का हो गया?"

"अब हुआ यह कि आयुष्मान होता है यानी य के साथ छोटा उ, पर इसमें बड़ा ऊ है, इसलिए यह नहीं चलेगा। इसे भी ठीक करा कर लाओ।"

वह गरीब-बीमार या बीमार-गरीब दुखी होकर घर लौटा। उसकी बीमारी पहले से बढ़ गई और कुछ दिनों के बाद ही वह कार्ड कार्यालय जा पाया। पिछली बार की तरह इस बार तुरंत स्पेलिंग सुधारी नहीं गई। उसे कई दिन दौड़ लगानी पड़ी। तब किसी ने बड़े ऊ की जगह छोटा उ लगा दिया, जिसे लेकर वह फिर उसी अस्पताल में उसी क्लर्क से मिला। कार्ड हाथ में लेते ही उस पर एक नजर डाल कर क्लर्क ने कहा, "फिर गड़बड़ी हो गई न।"

"अब का हुआ?"

"हुआ यह इसमें लिखा है आयुष्मान, जब कि होना चाहिए आयुष्मान, यानी ष और म संयुक्त। जाओ इसे भी ठीक करा कर लाओ।"

वह मन मार कर घर लौटा। उसकी बीमारियां और बढ़ गई। इस बार और देर से अपने बीमार शरीर को ढोकर वह कार्यालय में गया। इस बार उसे और दौड़ाया गया। जब रोने-गिड़गिड़ाने लगा और कुछ मुद्रा चढ़ाई तो वह ठीक हुआ। यानी कार्ड में कलम से फिर ष और म को संयुक्त किया गया। उसे लेकर वह लाठी के सहारे खांसते-खखारते फिर उस हाई-फाई अस्पताल पहुंचा। क्लर्क महोदय ने कार्ड देखा और उसकी ओर फेंक कर कहा, अबे गदहे,

संपर्क: 59/बी रोड/एयरबेस कालोनी, कदमा, जमशेदपुर-831005 मो. 9431373921

आयुष्मान होता है, आयुष्मन नहीं, समझे?"

"अब का गलत हुआ?"

"हुआ यह कि मन नहीं मान होता है। जाओ ठीक करा कर लाओ। इसके बाद यहां तुम्हारा पांच लाख तक का मुफ्त इलाज जरूर हो जाएगा। हम तुम्हें भर्ती कर लेंगे। यह आखिरी गलती भी सुधार कर ला। म में आकार लगवा ले।"

यह सुनकर गरीब-बीमार या बीमार-गरीब की आँखों में आँसू आ गए। वह अपने लड़खड़ाते, गिरते-पड़ते शरीर को घसीट-घसीट कर घर लौटा और पहले से अधिक बीमार पड़ गया। उसका शरीर जर्जर हो गया। कई दिनों तक कार्यालय जाना भी मुमकिन नहीं हो सका। अंत में किसी तरह अपने को ढोकर वह कार्यालय पहुंचा। वहां वह अपनी बात कहते-कहते बेहोश हो गया। किसी तरह उसे होश में लाया गया और इस बार फिर उसकी फरियाद पर म में आकार कलम से जोड़ दिया गया। उसका वह कार्ड सुधारमय और कलममय हो गया था। पता ही नहीं लग रहा था कि वह वास्तव में आयुष्मान कार्ड है। उसे लेकर जब वह उसी भव्य अस्पताल पहुंचा तो उसने अपना कार्ड काउंटर पर रखा। क्लर्क उसे देख कर और दूसरों को दिखा-दिखा कर हंस रहा था। शेष उसका साथ दे रहे थे। खैर क्लर्क ने इस बार नर्स को बुलाकर कर कहा कि इस कार्डधारी को वार्ड में भर्ती कर लो यह स्पेशल केस है। नर्स ने पूछा, "किसे भर्ती कर लें?"

"इस कंगाल को..." क्लर्क को भी ताज्जुब हुआ हुआ कि वहां कंगाल दिख नहीं रहा था। खोजबीन से पता चला कि वह काउंटर के नीचे कारपोरेट अस्पताल के कार्पेट वाली जमीन पर औंधे पड़ा हुआ है और अब वह कंगाल से कंकाल बन चुका है और दुनिया के सबसे बड़े और अंतिम अस्पताल पहुंच चुका है!

वास्तविकता

रूपसिंह चन्देल

सुबह एक कवयित्री मित्र का फोन आया। बोलीं, “आपने अमुक अखबार देखा?”

“देखा। उसमें कुछ खास है?”

“स्नेह रश्मि के कविता संग्रह की समीक्षा—।”

“वह भी देखा—लेकिन—”

मेरी बात बीच में ही काट वह बोलीं, “मेरा संग्रह प्रकाशित हुए एक वर्ष होने को आया और किसी भी पत्र-पत्रिका ने अभी तक उसकी समीक्षा प्रकाशित नहीं की, जबकि मैंने सभी को समीक्षार्थ प्रतियां भेजी थीं। स्नेह रश्मि के संग्रह को प्रकाशित हुए छः माह भी नहीं हुए और कितनी ही पत्रिकाओं और रविवासरीय अखबारों में समीक्षाएं प्रकाशित हो चुकीं हैं—” उनके स्वर में उदासी स्पष्ट थी।

“देखिए...” मैंने उन्हें नाम से संबोधित करते हुए कहा, “आपके पति दूरदर्शन या आकाशवाणी में निदेशक नहीं हैं और न ही किसी मंत्रालय या लाभप्रद विभाग में ऊंचे पद पर हैं। आकाशवाणी या दूरदर्शन में निदेशक नहीं तो कम-से-कम प्रोग्राम एक्ज्यूकेटिव ही होते...लिखने वाले लपककर आपका कविता संग्रह थामते और आपको बताना भी नहीं होता कि आपने कहां-कहां समीक्षार्थ प्रतियां भेजी हैं। वे स्वयं पत्र-पत्रिकाएं खोज लेते। स्नेह रश्मि के संग्रह की भांति ही वे आपके संग्रह पर भी टूट पड़े होते और सारे कामकाज छोड़कर उस पर लिखते। आपके पति हैं तो रक्षा मंत्रालय में लेकिन ऐसे पद पर भी नहीं कि वहां की कैंटीन से लिखने वालों के गले तर करने की व्यवस्था कर सकते।”

“यह तो मुझ जैसी साधनहीना के साथ ज्यादाती है।” लंबी सांस खींच वह बोलीं।

“कुछ जोड़-जुगाड़कर आप भी इंडिया इंटर नेशनल सेंटर या इंडिया हैबिटेड सेंटर में एक गोष्ठी कर डालें...समय की वास्तविकता को समझें...वर्ना...”

“वर्ना...वर्ना...” उनके शब्दों में पहले की अपेक्षा और अधिक उदासी थी। उनको उदास जान मैं उनसे अधिक उदास हो चुका था।

संपर्क: फ्लैट नं. 705, टॉवर-8, विपुल गार्डन,
धारुहेड़ा-123106, हरियाणा, मो. 8059948233

ईमानदारी का मौसम

श्रवण कुमार उर्मलिया

आजकल हमारे दफ्तर में ईमानदारी का मौसम चल रहा है। हमारे बड़े साहब सर से लेकर पैर तक ईमानदार चल रहे हैं। साल में एक बार यह मौसम हमारे दफ्तर में आता ही है। इस मौसम में बड़े साहब के हावभाव को देखकर ही लगने लगता है कि उनपर ईमानदारी का दौरा—सा पड़ गया है। उनके चेहरे पर बड़े जतन से चढ़ाई गई ईमानदारी की परत झुर्रियों तक को ईमानदारी का मेक—अप दे देती है।

अभी—अभी मनभावन वर्षा ऋतु समाप्त हुई है। इस साल बारिशें अच्छी हुई हैं। इसलिए इस साल ईमानदारी का मौसम कुछ खास हो गया है। मूसलाधार बारिशों में जब हर तरफ तबाही मच रही होती है, तब हमारे बड़े साहब जश्न मना रहे होते हैं। जिस साल वर्षा नहीं होती, साहब बहुत चिंतित हो जाते हैं। उन्हें वर्षा न होने पर चिंतित देखकर कोई भी भ्रमित हो सकता है। कोई भी उन्हें देखकर सोचेगा कि कितने बड़े देशभक्त हैं साहबजी। कृषि—प्रधान देश में वर्षा के न होने से इतने दुःखी जो हैं।

इन्हें चिंतित देखकर एकबार इनके मातहत ने पूछा था, “सर, बारिशें न होने से आप इतने चिंतित क्यों हैं ? क्या आप इसलिए परेशान हैं कि इस बार देश में पर्याप्त अन्न नहीं उपजेगा ?” साहब अपने दफ्तर की खिड़की से बाहर सड़कों को निहारते हुए बोले, “अरे अहमक, तू मुझे घटिया किसान समझता है क्या ? मैं इस महकमे का अफसर हूँ, अफसर ! समझा ? चिंतित तो मैं इन सड़कों की किस्मत की वजह से हूँ, घटिया आदमी !”

तो बारिशें न होने से साहबजी को सड़कों की चिंता ज्यादा होती है। बारिशें नहीं होंगी तो सड़कें सही सलामत रहेंगी। यदि सड़कें सही सलामत रहेंगी तो उनकी मरम्मत की जरूरत नहीं पड़ेगी। फिर इतना बड़ा सफेद हाथी के बराबर यह विभाग क्या करेगा ? वह सड़कों की किस्मत को कैसे बदलेगा ? और यदि सड़कों को नहीं सुधारा गया, तो ऊपर के अफसरों को साहबजी की कार्यकुशलता का पता कैसे चलेगा ?

कृषि—प्रधान देश का किसान वर्षा को उपज और धन—धान्य से जोड़ता है। विरहिणी वर्षा को अपने परदेशी प्रियतम से जोड़ती है। पर हमारे बड़े साहबजी वर्षा को सड़कों से जोड़ते हैं। जितनी ज्यादा बारिशें होंगी, सड़कें उतनी ही ज्यादा उखड़त्व को प्राप्त होंगी। साहब जी का मन—मयूर उसी मात्रा में भीतर—ही—भीतर प्रसन्नता से मत्त होकर नर्तन करेगा।

इस लोक की सड़कें उखड़ेंगी और टूटेंगी—फूटेंगी तो परलोक निर्माण महकमा उनकी मरम्मत करवाएगा। इस महकमे ने वर्षा—ऋतु को अपने लिए सुरक्षित करा लिया है। इस महकमे के लिए वर्षा—ऋतु राष्ट्रीय—ऋतु है। यह महकमा देशवासियों से विनती करता है, “भाइयो, आप लोग मनभावन अतिप्रिय बसंत ले लो, आत्मा को तृप्त करने वाले हेमंत और शिशिर ले लो, पर सड़कों पर उखाड़—पछाड़ मचाने वाली यह वर्षा—ऋतु हमें दे दो ! सीधे—सादे देशवासी मान जाते हैं। उन्हें वाहन चलाने के लिए अच्छी सड़कें चाहिए। इसके बदले में उनसे चाहे कुछ भी ले लो। वर्षा ले लो, चंदा ले लो, रोड—टैक्स ले लो। पर अच्छी सड़कें उन्हें दे दो। कोई भी कभी सोचने की जहमत नहीं

उठाता कि इस विभाग का नाम 'परलोक निर्माण' होना चाहिए या 'लोक निर्माण'?

बात कहाँ से शुरू हुई और कहाँ बहकाकर ले आई। बात ईमानदारी के मौसम की हो रही थी। हाँ, तो वर्षा-ऋतु समाप्त हो चुकी है। बड़े साहबजी बहुत प्रसन्न हैं। बरसात के द्वारा की गई तबाही से साहबजी के हृदय में उत्सव का—सा माहौल है। सारे शहर की सड़कें ऊबड़-खाबड़ हो गई हैं। उनकी मरम्मत के लिए ठेके दिये जाने वाले हैं। हमारे बड़े साहबजी के लिए यही तो है ईमानदार होने का मौसम।

यदि मर्यादा पुरषोत्तम राम सीता की खोज में वनों की जगह शहरों में भटक रहे होते, तो लक्ष्मण से कहते—“हे लक्ष्मण ! देखो, वर्षा ऋतु बीत गई और परम सुहावनी शरद-ऋतु आ गई। उखड़ी हुई सड़कों से शहर की सारी धरती जीर्ण-शीर्ण हो गई है। इन सड़कों के रूप में वर्षा-ऋतु ने मानों अपनी कुटिलता को प्रकट कर दिया है।” वे आगे कहते—“हे लक्ष्मण, इन सड़कों की जीर्णता लखकर सड़कों के ठेकेदार ऐसे प्रसन्न हैं, जैसे मरीजों को देखकर डॉक्टर प्रसन्न होते हैं। इन सड़कों की मरम्मत के लिये टेंडर भरे जा रहे हैं और परलोक निर्माण विभाग के बड़े अफसर उसी तरह ईमानदार बन गये हैं जैसे शातिर प्रत्याशी चुनाव का टिकट मिलने के पहले ईमानदार हो जाता है।”

हमारे दफ्तर में ठेकेदारों की गहमागहमी शुरू हो गई है। टेंडर मँगाए जा चुके हैं। टेंडर खुलने का दिन ज्यों-ज्यों नजदीक आता जा रहा है, हमारे साहबजी की ईमानदारी भी बढ़ती जा रही है। पूरे दफ्तर में ईमानदारी के चमगादड़ उड़ने लगे हैं। ठेकेदार थोड़ा-थोड़ा भ्रमित हैं। पिछले साल तो यह अफसर ठीक-ठाक था। इस साल इसे क्या हो गया है ? पर अनुभवी ठेकेदारों ने साहब के भावहीन बेईमान चेहरे पर

वह स्पॉट तलाश ही लिया है, जहाँ बड़ा सा अदृश्य 'टु लेट' का बोर्ड लगा हुआ है और उस बोर्ड पर स्पष्ट अदृश्य अक्षरों में लिखा हुआ दिख रहा है—‘साहबजी बिकाऊ हैं !’

जब साहबजी बिकाऊ हैं तो उनकी ईमानदारी भी बिकाऊ है। साहब लोग वैसे तो बहुत सस्ते होते हैं पर उनकी ईमानदारी की अच्छी कीमत लग जाती है। हर ठेकेदार साहबजी से चापलूसी भरा अनुरोध करता है—“साहबजी, ठेका दिलवा दो जी ? असी त्वाडी जो भी सेवा होगी, कर देवेंगे जी !” ठेकेदारी की आचारसंहिता के हिसाब से 'सेवा' का अर्थ होता है— साहबजी द्वारा ठेकेदार के पक्ष में किये गए फेवर(पक्षपात) के बदले ठेकेदार के द्वारा धन्यवाद-ज्ञापन के रूप में उस फेवर का मूल्य चुका दिया जायेगा।

साहबजी अकड़कर इशारों—ही-इशारों में ठेकेदार को समझा देते हैं—“ऐ ठेकेदार की दुम, तू मुझे ऐसा-वैसा भ्रष्ट साहब न समझना ! इन दिनों मैं ईमानदार चल रहा हूँ ! और तुझे तो मालूम ही होगा कि ईमानदारी की कितनी सेवा की जाती है ?” इस तरह दफ्तर में 'सेवा' और 'ईमानदारी' में जंग जारी हो चुकी है। इधर सभी ठेकेदार अपनी अपनी 'सेवाएँ' लिये घूम रहे हैं और उधर साहब अपनी 'ईमानदारी' को लिये बैठे हैं। कुलटा 'फॉर टाइम बींग' पतिव्रता बनी बैठी है और ठेकेदार उसे 'पथभ्रष्ट' करने की कीमतें लिये घूम रहे हैं। नकली सतीत्व इशारे कर रहा है कि वह वाजिब कीमत पर लुटने को तैयार है।

टेंडर खुल चुके हैं और सभी ठेकेदारों ने साहबजी को अपनी अपनी सेवाओं के टेंडर भी दे दिए हैं। पर साहबजी निराश हैं क्योंकि किसी की भी सेवा का रेट उन्हें अपनी ईमानदारी की औकात का नहीं लग रहा है। साहबजी अनिर्णय की स्थिति में हैं। कहीं उनकी ईमानदारी व्यर्थ

तो नहीं हो जायेगी ? हमारे दफ्तर में ठेकेदारों की आवाजाही बढ़ गई है। साहब का चपरासी पांडू पहले दस रुपये में किसी को भी साहबजी से मिलवा देता था। पर उसे मालूम है कि साहबजी आजकल ईमानदार चल रहे हैं। इसलिए उसने भी अपना रेट पच्चीस रुपये कर दिया है। स्वामिभक्त चपरासी लोग भी साहब जी की ईमानदारी के हिसाब से ही बेईमानी-धर्म निभाते हैं।

ठेकेदारों से साहबजी की गुप्त मुलाकातें बढ़ गई हैं। सभी को साहबजी इशारों-इशारों में उलाहना देते हैं—“तुम लोग तो बड़े अहमक हो, यार! ईमानदारी की बेईज्जती कर रहे हो। एक ईमानदार अफसर को कौड़ियों के मोल खरीदना चाहते हो।” ईमानदारी खुले आम अपना मोल बता रही है। ठेकेदारों में खलबली है। उन सबका प्रयास है कि ईमानदारी को सस्ते दामों में खरीद लें। एक ठेकेदार ने असमर्थता जता दी है—“साहबजी, इसतों ज्यादा सेवा असी नहीं कर सकदे जी। आइटम दे रेट भी बड़े घट हेंगे, सरजी !” दूसरे ठेकेदार ने कहा—“जनाब, इससे ज्यादा अपने वश में नहीं! इस साल सड़कें कुछ ज्यादा ही टूटी-फूटी हैं, सर! मैटीरियल भी लगाना पड़ेगा इस बार तो!”

तीसरे ठेकेदार ने मजबूरी बयान की—“हुजूर, यदि पूरी सेवा आपको दे दी तो नीचे वालों को कैसे सम्हालेंगे जी? आपके महकमें में तो हर तरफ ..ते ही ..ते भरे पड़े हैं, उन्हें भी तो..ड्रियाँ डालनी पड़ती हैं !” चौथा ठेकेदार बोला—“जनाब, अब इस ठेकेदारी में फायदा कहाँ रहा ! मेजरमेंट करने वाले एक फुट भी ज्यादा नहीं लिखते। अब आप ही बताइये, हम क्या करें ?” सौदा पट नहीं रहा है। साहबजी के लिए ईमानदारी का मौसम अर्थहीन होने लगा है। उधर सारे ठेकेदार

आपस में एकमत हो रहे हैं—“भाइयो, अफसर अपने आप को बढ़-चढ़कर आंक रहा है। इसकी ईमानदारी की औकात इतनी तो नहीं लगती।”

इसी बीच ऊपर से आदेश आ जाते हैं कि सड़कों का टेंडर रद्द किया जाय। किसी मंत्री का मामला है। बड़े साहबजी की आत्मा चीत्कार कर उठती है। उन्हें लग रहा है जैसे उनकी ईमानदारी को बेईमान लोगों ने लूट लिया हो। वे समझ गए हैं कि मामला बिगड़ चुका है। अब ऊपर से ही किसी ठेकेदार की नियुक्ति की सिफारिश आएगी। ईमानदार बने रहने से अब कोई फायदा नहीं। अब यह ईमानदारी ‘अमूल्य’ हो गई है, क्योंकि इसकी कीमत देने अब कोई नहीं आएगा।

ठेकेदार पूछता है—“साहब जी, साड्डे केस द की बन्या ?” साहबजी आवेश में कहते हैं—“यार, घोर भ्रष्टाचार है! ऊपर वाले हमें अपने हाथों की कठपुतली समझते हैं! कह रहे हैं कि टेंडर कैंसिल करो। अपने किसी भाई-भतीजे को सड़कों की मरम्मत का ठेका दिलवाना चाहते होंगे। हमारी ईमानदारी की तो कोई कीमत ही नहीं रही! चारों ओर भ्रष्टाचार का बोलबाला है। हम करें तो क्या करें? जाएँ तो कहाँ जाएँ?”

हमारे दफ्तर में उदासी का माहौल है। अब इधर ठेकेदारों का आवागमन नहीं होता। बिना ठेकेदारों के हमारा दफ्तर ऐसा लग रहा है जैसे बिना घोड़ों का रेसकोर्स। बड़े साहब ने अपने अस्तित्व से ईमानदारी को खुरच-खुरचकर इस तरह फेंक दिया है जैसे इज्जतदार लोग अपनी अवैध संतानों को फेंक देते हैं।

हमारे दफ्तर की किस्मत में इस वर्ष की घनघोर बारिशों का सुख नहीं है। हमारे साहबजी मौन हो चले हैं। हमारे दफ्तर में ईमानदारी का मौसम अब समाप्त हो चुका है।

संपर्क: 19/207 शिवम खण्ड, वसुंधरा,

गाजियाबाद-201012, मो. 09868549036

नहीं, अब व्यंग्य नहीं लिखा जा सकता

रामस्वरूप दीक्षित

मेरी एक मित्र मेरे न लिखने को लेकर चिंतित रहती है। कहती है तुम प्रेम पर कविताएँ तो लिख रहे हो, पर आजकल व्यंग्य नहीं लिख रहे बहुत दिनों से।

मुझे नहीं लगता कि ये मुझसे मित्रता रखती हैं। सच्चे मित्र आपको लेखन और साहित्य से किनारे लगाने का काम ही करते हैं।

कहते हैं, क्या रखा है लिखने में? कौन सी दुनिया बदल जायेगी तुम्हारे लिखने से?

मुझे बात जचती है। मैं तेज पंखे के नीचे चादर तानकर सो जाता हूँ और बिना लिखे दुनिया बदलने का सपना देखने लगता हूँ।

हकीकत से हार माना हुआ लेखक स्वप्नजीवी हो जाता है।

वह देखता है कि किसान को सामने खड़े देखकर पटवारी कुर्सी से खड़ा हो जाता है। उसे चाय पानी कराता है और खेत की नकल देकर विदा करता है।

किसान जेब में हाथ डालता है तो उसका हाथ वहीं रोक खुद अपनी जेब से कुछ रुपये निकाल उसके हाथ देते हुए कहता है— रख लीजिए, किराए के काम आएंगे।

पर जागता है तो अखबार के पहले पेज पर पटवारी को रिश्त लेते पकड़े जाने का समाचार होता है।

वह घबराकर फिर सो जाता है।

अबकी देखता है नेता बिना सन्त का चोला धारण किये, खुद को फकीर बताये बिना काम के बदले वोट मांग रहे हैं।

यकायक उसकी नींद खुल जाती है और संतई दाढ़ी के झूठे जुमले और अच्छे दिनों के सपने दिखाते कारनामे अखबार की लीड खबर होते हैं।

उसे लगने लगता कि दुनिया सोने से नहीं लिखने से ही शायद बदलेगी।

तभी मेरी उसी मित्र का संदेश आता है, आज कुछ लिख डालो। मैं सोच रहा क्या लिख डालूँ? और कुछ समझ न आने पर एक श्रृंगार रस की कविता लिख लेता हूँ।

युद्ध के समय प्रेम कविता में अपनी कायरता छुपाने की कोशिश एक समझदारी भरा कदम है। मैं इसे शाश्वत साहित्य का नाम देता हूँ।

जब गर्दन कटने का डर हो तो समझदार लेखक प्रेमिका की जुल्फों में दुबककर अंधेरे की कल्पना कर सो जाता है।

आगे चलकर यह लेखन बड़े काम आता है। गर्दन कटाकर खेत हुए लेखकों के धड़ों पर चलकर सत्ता के गलियारों तक पहुंचना आसान होता है।

सत्ता को फूल, पत्तियों, नदी, पहाड़ों पर लिखी कविताएँ पसंद हैं। किसानों की आत्महत्याओं पर लिखी कविताएँ, गांव की गोरी पर लिखी कविताओं के आगे पानी माँगने लगती हैं।

जब किसान अपने हकों के लिए आंदोलन कर रहे हों ऐसे में जागृत बुद्धि लेखक सत्ता सौंदर्य में विलम जाता है। वह जान जाता है कि आंदोलन देश के विकास में बाधक हैं। वह फैक्ट्रियों

में अनाज उगाने वाले विकास का सपना लोगों को दिखाने लगता है।

अपनी दोस्त के कहने पर मैं व्यंग्य लिखने की कोशिश करता हूँ, पर विषय ही नहीं सूझ रहा। हालांकि दोस्त का कहना है कि आपके पास टॉपिक की कमी नहीं होगी। पर मुझे कोई टॉपिक नहीं सूझता।

सरकार सबका तो ध्यान रख रही है। यात्रा को मूल्यवान बनाने पेट्रोल को शतकवीर की उपाधि दी। रसोई का खर्च घटाने और महिलाओं को तरह तरह के पकवान बनाने की मशकत से छुटकारा दिलाने सिलेंडर को हजारिया बना दिया। सब तरफ सब तरह की खुशहाली। बेरोजगारों की बल्ले-बल्ले हो रही। भर्ती की जगहें ही नहीं तो कॉम्पटीशन का सरदर्द नहीं। घर बैठे ऐश करो।

सरकारी संपत्ति आपकी अपनी नहीं रही सो उसकी सुरक्षा की जिम्मेदारी से भी निजात मिली।

न खाऊंगा, न खाने दूंगा तो लीवर सबके चुस्त दुरुस्त।

राजा वीतरागी है। जनक का अवतार। विदेह। लाखों के सूट के नीचे दुनियादारी से निर्लिप्त देह। जब तक दुकान में सामान है, धंधा करेंगे, नहीं रहेगा तो परवाह नहीं, झोला उठाकर निकल लेंगे। जनता आस्तिक है। भगवान भरोसे रहना बखूबी जानती है।

तो चहुंदिश बसन्त है, बस कोयल की कूक पर पहरा है।

पर उससे क्या, कौए तो आजाद हैं। उनकी कांव-कांव पर कोई रोक टोक नहीं। देश में नया बसंत छाया है।

तो बता दिया दोस्त को कि ऐसे में जबकि खूब अकबकाकर बसंत आया हो, व्यंग्य नहीं लिखा जा सकता।

और मैंने एक काकप्रिय बसंत पर कविता लिखकर उसे भेज दी है।

वह भले ही बुरा मान जाय, सीकरी के संत बनने का यह सुनहरा अवसर गंवाने के मूड में मैं कतई नहीं।

संपर्क: सिद्ध बाबा कॉलोनी, टीकमगढ़-472001, मो. 9981411097

समीक्षक की रजाई

बुलाकी शर्मा

स्वेटर की गर्माहट अब वैसी नहीं रही जैसी नई में थी। दो सर्दियां खींच दी इसने। गर्माहट में कमी आएगी ही। फिर भी इस पुरानी स्वेटर के प्रति मेरा आकर्षण यथावत है। कारण कि यह एक असाधारण कवि द्वारा प्रदत्त सप्रेम भेंट है।

वे असाधारण कवि इस मायने में हैं कि उन पर सरस्वती मैया से ज्यादा लक्ष्मी मैया की कृपा बरसती रही है। उनके अनेक काम-धंधे हैं। अनेक नौकर-चाकर हैं। लक्ष्मी मैया उन पर पूरी तरह से मेहरबान हैं। सरस्वती मैया की मेहरबानी उन पर कम है, किन्तु लक्ष्मी मैया की मेहरबानी के बल पर वे सरस्वती-उपासकों के मध्य भी विशिष्ट पहचान और प्रतिष्ठा बनाने में सफल रहे हैं। निखालिस सरस्वती-उपासक तो इन लक्ष्मी-मेहरबान कवि महाशय के भाग्य के सम्मोहन में बंधे उनकी प्रशंसा करने के अवसर खोजने में लगे रहते हैं।

वे असाधारण कवि हैं तो उनके काम भी असाधारण होंगे ही। वे जब कभी भी अपनी कृतियों का लोकार्पण करवाते हैं तो पूरी भव्यता के साथ समारोह आयोजित कराते हैं। उस समारोह में ऐसे-ऐसे लेखकों को नहीं, शहर की चुनिंदा हस्तियों और चुनिंदा लेखकों को ही आमंत्रित किया जाता है। आमंत्रितों के सम्मान में कोई कमी नहीं रखी जाती। उनके लिए स्वरुचि भोज की व्यवस्था रहती है। सभी आमंत्रितों को लोकार्पित कृति और मिष्टान्न के पैकेट के साथ अन्यान्य उपयोगी वस्तुएं सप्रेम भेंट करने की उनकी परंपरा है। दीवार घड़ी, शॉल, स्वेटर, चांदी का गिलास, ब्रासलेट आदि भेंट इसी परंपरा के अधीन आमंत्रितों को अर्पित की जाती रही हैं। इसीलिए ऐसे सार्थक लोकार्पण समारोह के आमंत्रण हेतु मेरे सदृश्य सरस्वती-पुत्र प्रतीक्षारत रहते हैं।

सर्दी अपना यौवन दिखाने लगी है। स्वेटर की गर्माहट कम हो गई है इसलिए मुझे उनकी कृतियों के लोकार्पण समारोह की प्रतीक्षा है। भव्य समारोह होगा। उसके पश्चात उनकी ओर से आमंत्रितों को लोकार्पित कृति के साथ अन्यान्य कोई उपयोगी वस्तु उपहार स्वरूप सादर भेंट जाएगी।

कृति और भेंट के अंतर्संबंधों को मैंने गहराई से अनुभव भी किया है। मैंने जब भी इन असाधारण कवि महोदय द्वारा भेंट के रूप में प्रदत्त स्वेटर पहन कर उनकी साधारण कृतियों का अध्ययन-मनन किया तब वे अद्भुत और असाधारण लगीं। स्वेटर जब नई थी तब उसमें शीत-अवरोधक क्षमता विलक्षण थी। इस विलक्षणता का मेरी सोच पर असर पड़ना स्वाभाविक था। सर्दी में स्वेटर की गर्माहट मुझे ऐसा प्रसन्न-मना रखती कि कवि महाशय की कृतियों में मुझे कहीं कोई कमी दिखाई ही नहीं देती। श्रेष्ठ काव्य कृतियों की सभी विशिष्टताएं उनमें दृष्टिगोचर होने लगतीं। स्वेटर का ऐसा असर रहता कि मैं उन कृतियों के बहाने स्वेटर की समीक्षा करने लगता। मेरी सिद्धहस्त अंगुलियां कलम की जगह

सलाइयां थाम जैसे समीक्षा करने लगती हों।

उनके द्वारा भेंट स्वरूप प्रदत्त स्वेटर की गर्माहट ने उनकी कृतियों को विशिष्ट बनाया। हिंदी काव्य संसार की बहुमूल्य कृतियों के रूप में उन्हें प्रतिस्थापित किया गया। किंतु स्वेटर अब पुरानी हो गई है, घिस गई है। उसकी शीत—अवरोधक क्षमता पहले जैसी नहीं रही। शरीर पर उसे धारण करने के पश्चात भी सर्दी अपना असर दिखाने लगी है। इसलिए स्वेटर के पुराने पड़ने के साथ—साथ उनकी कृतियों की सीमाएं दृष्टिगोचर होने लगी हैं। अब उनमें पूर्व की भांति का वैशिष्ट्य नजर नहीं आता और न ही वे बहुमूल्य तथा विलक्षण दिखती हैं।

शायद कृति और भेंट का यथार्थ अन्तर्सम्बन्ध यही है। इस बार सर्दी ज्यादा है और मैं सर्दी के बचाव में कंबल या रजाई समीक्षा करना चाहता हूं। स्वेटर की समीक्षा से ज्यादा सुख कंबल या

रजाई समीक्षा में है। इस समीक्षा की कालावधि स्वेटर समीक्षा से अधिक रहेगी। चार—पांचेक वर्ष तक कंबल और रजाई अपनी गर्माहट सुरक्षित रखती है और इस गर्माहट से इतने ही वर्ष उनकी कृतियों की गर्माहट भी सुरक्षित रह सकेगी। रजाई या कंबल की गर्माहट में मैं दत्तचित्त भाव से कृति का अध्ययन—मनन करूंगा। पश्चात जो समीक्षा लिखूंगा वह उनकी कृति को विशिष्ट स्थान प्रदान कराएगी।

इसलिए मुझे प्रेरक परंपरा के इन असाधारण कवि की कृति की प्रतीक्षा है। कृति के लोकार्पण समारोह की प्रतीक्षा है। लोकार्पण समारोह में भेंट स्वरूप कंबल या रजाई प्राप्ति की प्रतीक्षा है। लोकार्पण समारोह होगा। मुझे कंबल या रजाई उपहार स्वरूप भेंट में मिलेगी। उसमें मैं दुबक कर मैं सर्दी से बचाव करूंगा। गर्माहट पाऊंगा और लोकार्पण कृति की गर्माहट पूर्ण समीक्षा करूंगा।

संपर्क: सीताराम द्वार के सामने, जस्सूसर गेट
के बाहर, बीकानेर— 334004, मो. 9413939900

“जप माला छापा तिलक, सरै न एकौ काम।
मन काँचै, नाचै, वृथा, साँचे राँचे राम।”
बड़े न हूजै गुनन बिन, बिरद बड़ाई पाय।
कहत धतूरे सों कनक, गहनो गढ़ो न जाय।
बहकि बड़ाई आपनी, कत राचति मतिमूल।
बिनु मधुकर के हिये, गुड़ै न गुड़हर फूल।
(बिहारीलाल)

जन्नत कौन जाएगा?

भारत यायावर

कुछ कवि मित्रों के साथ मैं इलाहाबाद जा रहा था। इसका नाम अब प्रयागराज हो गया है, लेकिन हम लोग अब भी इसे इलाहाबाद ही कहते हैं। इस प्रसंग पर मेरे प्रिय और प्रखर कवि श्यामल ने कहा, “छुटती नहीं है गालिब मुँह की लगी हुई।”

ट्रेन जब मिर्जापुर पहुँची तो एक लम्बी दाढ़ी वाले मौलाना हम लोगों की महफिल में शामिल हो गए। उन्होंने आते ही तकरीर देना शुरू कर दिया। वे हर बात पर जन्नत की दुहाई दे रहे थे। मैंने उनसे कहा कि हकीकत में जन्नत होता ही नहीं। वे बिगड़ गए, “अम्मा यार! कैसी बात कर रहे हो? मैं आलिमोफाजिल हूँ। मेरे से ज्यादा इस विषय में तुम जानते हो? इस जहाँ में रहकर जन्नत को ही तो पाना है और फानी ये जमाना है!”

मैंने कहा, “लेकिन मिर्जा गालिब ने कहा है कि—

‘हमें’ मालूम है जन्नत की हकीकत लेकिन

दिल बहलाने को गालिब ये ख्याल अच्छा है!”

मौलाना गुस्से से लाल-पीले हो गए। बोले, “मिर्जा गालिब पियक्कड़ था। उसे क्या मालूम। जन्नत है! जन्नत है! जन्नत है! बेशक जन्नत है।”

मैंने पूछा, “चलिए मान लिया जन्नत है! लेकिन जन्नत में क्या-क्या है?

मौलाना ने कहा, “जन्नत में अल्लाह रहता है और एक से एक हूर रहती है।”

तब मैंने बात को मोड़ देते हुए कहा, “लेकिन यह बात आपको कैसे मालूम है?”

“मैं मौलाना हूँ, आलिमोफाजिल हूँ। मुझे सब कुछ मालूम है!”

तब हिन्दी के प्रसिद्ध गजलगो चाँद ने कहा, “लेकिन मीर ने तो कहा है:

‘उस’ जन्नत में कौन जाएगा भला मीर

जहाँ लाखों साल पुरानी-पुरानी हूरें रहती हैं।”

मौलाना ने कहा, “अमा यार, मीर की शायरी को कौन पूछता है! मान लो हूरें लाखों साल पहले की हैं लेकिन बेशक खूबसूरत और जवान भी तो हैं!”

मैंने सोचा कि जब इस मौलाना को सब मालूम है तो अपनी जिज्ञासा को प्रकट किया जाए। इस तरह सफर भी ठीक से कट जाएगा।

मैंने पूछा, “मौलाना साहब, तब तो आपको यह भी मालूम होगा कि जन्नत में कौन जाएगा?”

मौलाना ने डटकर उत्तर दिया, “बेशक मुसलमान ही जाएगा।”

तब मैंने पूछा, “ठीक है! लेकिन कौन मुसलमान? शिया या सुन्नी?”

मौलाना ने कहा, “बेशक सुन्नी, जनाब।”
फिर मैंने पूछा, “जी सुन्नी में कौन? मुकल्लिद
या गैर—मुकल्लिद?”

मौलाना ने कहा, “बेशक मुकल्लिद!”

आगे का सवाल थोड़ा मुश्किल था। मैंने
फिर पूछा, “जी, मुकल्लिद में तो चार हैं। उनमें
से कौन?”

मौलाना ने इसका उत्तर भी बेधड़क दिया,
“बेशक हनफी, और कौन?”

तब मैंने सब कुछ जानने वाले मौलाना से
फिर पूछा, “जी, पर हनफी में तो देबबंदी और
बरेलवी दोनों हैं। उनमें जन्नत कौन जाएगा?”

मौलाना ने कहा, “बेशक, देबबंदी ही जाएँगे!”

“बहुत शुक्रिया, पर देबबंदी में भी तो हयाती
और ममाती दोनों हैं, उनमें से कौन?”

मौलाना साहब इस सवाल पर उलझ कर
रह गए। तब मैंने उनसे पूछा, “अच्छा छोड़िए।
यह बताइए कि बाकी लोग कहाँ जाएँगे?”

मौलाना ने कहा, “बेशक, जहन्नुम जाएँगे!”

तब श्यामल ने मौलाना से पूछा, “ये जेहादी

कहाँ जाएँगे?”

“बेशक, जन्नत जाएँगे!”

इस पर राघवेन्द्र प्रणय ने अपनी बात को
एक शेर में प्रस्तुत किया—

“कल्लो—गारत से कोई हूर पा गया होता
तो जन्नत में आतंकियों का दबदबा होता।”

इसके बाद मौलाना साहब गायब हो गये, वो
दोबारा दिखे ही नहीं। लेकिन उनका ‘बेशक’
गूँजता रह गया और शक—ही—शक पैदा कर
गया।

महाकवि गिरिजा नन्द मिश्र ने तुरंत मौलाना
पर एक शेर सुना दिया:

“जन्नत—जहन्नुम छोड़कर मौलाना चले गए
दुनिया में शक की दीवार बनाकर चले गए।”

वहीं कृष्ण पोरवाल बैठे थे। वे दुष्यंत कुमार
की गजलें घोंटते रहते थे। मौलाना की बातों को
सुनकर वह दुष्यंत कुमार का यह शेर तरन्नुम में
सुनाने लगे—

“रौनके—जन्नत जरा भी मुझको रास आई नहीं
मैं जहन्नुम में बहुत खुश हूँ मेरे परवरदिगार।”

संपर्क: यशवंतनगर, हजारीबाग 825301, झारखंड,

मो.: 6204130608, Email: bharatyayawar@gmail.com

दुर्बल को न सताइये, जाकी मोटी हाय।
मुई खाल की साँस सों, सार भसम हवै जाय।

(कबीरदास)

कब को टेरेत दीन हवै, होत न स्याम सहाय।
तुम हू लागी जगत—गुरु जगनायक जग बाय।

(बिहारीलाल)

गुस्से के कुछ सौंदर्य उपमान

अनूप शुक्ल

मीटिंग अच्छी-खासी चल रही थी। साहब को अचानक किसी बात पर गुस्सा आ गया। वैसे वे गुस्से के लिए कभी किसी बात के मोहताज भी नहीं रहे। जब मन आया कर लिया। कभी-कभी तो बेमन से भी गुस्से के पाले में कबड्डी खेलने लगते। लेकिन बेमन से गुस्सा करने में उनको वो मजा न आता। लगता गुस्सा न करके बंधुआ मजदूरी कर रहे हों।

गुस्से की गर्मी से अकल कपूर की तरह उड़ गयी। जो मोटी अकल जो उड़ न पायी वो नीचे सरक कर घुटनों में छुप गयी। दिमाग से घुटने तक जाते हुए शरीर के हर हिस्से को चेता दिया कि साहब गुस्सा होने वाले हैं। संभल जाओ। सारे अंग अस्त-व्यस्त होकर कांपने लगे। कोई बाहर की तरफ भागना चाह रहा था कोई अंदर की तरफ। इसी आपाधापी में उनके सारे अंग कांपने लगे। मुंह से उनके शब्द-गोले छूटने लगे। मुंह से निकलने वाले शब्द एक दूसरे को धकिया कर ऐसे गिर-गिर पड़ रहे थे जैसे रेलवे के जनरल डिब्बे से यात्री उतरते समय कूद-कूद कर यात्रियों पर गिर-गिर पड़ते हैं।

गुस्से में साहब के मुंह से निकलने वाले बड़े-बड़े शब्द आपस में टकरा-टकरा कर चकनाचूर हो रहे हैं। बाहर निकलने तक केवल अक्षर दिखाई देते हैं। लेकिन वे जिस तरह से टूट-फूट कर बाहर सुनायी देते हैं उससे पता नहीं लगता कि अक्षर बेचारा किस शब्द से बिछुड़कर बाहर अधमरा गिरा है। 'ह' सुनाई देता तो पता नहीं लगता कि 'हम' से टूट के गिरा है या 'हरामी' से। हिम्मत खानदान का है या हरामखोर घराने का! अक्षरों का डी.एन.ए. टेस्ट भी तो नहीं होता।

साहब गुस्से में कांप रहे हैं। किसी पम्प सेट के पाइप सरीखा उनका मुंह हिल रहा है। शब्दों की धार बाहर निकल रही है। गुस्से में कांपने का मतलब यह नहीं होता कि गुस्सा बहुत तेज है। कांपना डर के मारे होता है कि अगला भी न गुस्साने लगे। न्यूटन का क्रिया-प्रतिक्रिया का नियम हर जगह सही साबित होता है।

मैंने आज तक जितने गुस्सैल लोग देखे हैं हमेशा उनके गुस्से को ऊर्जा के गैरपरम्परागत स्रोत की तरह पाया। अगर लोगों के गुस्से के दौरान निकलने वाली ऊर्जा को बिजली में बदला जा सके तो तमाम घरों की बिजली की समस्याएँ दूर हो जायें। जैसे ही कोई गुस्से में दिखा उसके मुंह में पोर्टेबल टरबाइन और जनरेटर सटा दिया। दनादन बिजली बनने लगेगी। अभी लोग गुस्सैल लोगों से बचते हैं। तब लोग गुस्सैल लोगों से बिजली के खंभे की कटिया से सटे रहेंगे।

जैसे लोग नहाते समय आमतौर पर कपड़े उतार देते हैं वैसे ही गुस्से में लोग अपने विवेक और तर्क बुद्धि को किनारे रख देते हैं। कुछ लोगों का तो गुस्सा ही तर्क की

सील टूटने के बाद शुरू होता है। बड़े-बड़े गुस्सैल लोगों के साथ यह सच साबित हुआ है। गोस्वामी तुलसीदास ने लक्ष्मण जी के गुस्से का सौंदर्य वर्णन करते हुए लिखा है—

“माखे लखन कुटिल भई भौहें। रदपट फरकत नयन रिसौहें।”

लक्ष्मणजी तमतमा उठे। उनकी भौहें टेढ़ी हो गयीं। ओंठ फड़कने लगे और आंखे गुस्से के मारे लाल हो गयीं।

गुस्से के लक्षण देखते ही उनकी तर्क बुद्धि ने उनसे समर्थन वापस ले लिया और वे बोले—

“जो राउर अनुशासन पावौं। कंदुक इव ब्रह्मांड उठावौं।।”

काचे घट जिमि डारौं फोरी। सकऊं मेरु मूलक जिमि तोरी।।”

यदि भगवान राम की आज्ञा पाऊं तो ब्रह्मांड को गेंद की तरह उठा लूं। उसे कच्चे घड़े की तरह फोड़ डालूं। सुमेरु पर्वत को मूली की तरह तोड़ दूं।

जिस ब्रह्मांड में हम खड़े हैं उसे उठाने और घड़े के समान फोड़ देने की कल्पना केवल गुस्से में ही की जा सकती है। पोयटिक जस्टिस के सहारे। हम तो अपनी कुर्सी सहित अपने को उठाने की कल्पना करने में ही परेशान हो जायें।

गुस्से में आदमी चाहे जौन सी भाषा बोले समझ में नहीं आती। लेकिन भारत में लोग गुस्सा करते समय और प्यार जताते समय अंग्रेजी बोलने लगते हैं। ऐसा शायद इसलिए होगा कि जो भाषा समझ में न आये उसमें अटपटी बातें बेझिझक कही जा सकती हैं।

मुझे तो यह भी लगता है कि शायद भारत की भाषा नीति भी गुस्से के कारण बनी। आजादी के बाद लोग अंग्रेजों से बहुत खफा रहे होंगे।

अब अंग्रेज तो हमारी भाषाएँ सीखने से रहे। (जब हम ही नहीं सीखते तो वे क्या सीखेंगे?) इसलिए उनके प्रति गुस्सा जाहिर करने के लिए लोगों ने अंग्रेजी का प्रयोग शुरू किया। सोचा होगा दस बीस साल में जब सारा गुस्सा खतम हो जायेगा तब अपनी भाषाएँ अपना लेंगे। लेकिन अंग्रेजी अब काफिर की तरह मुंहलगी हो गयी। कम्बख्त छूटती ही नहीं।

गुस्से में अंग्रेजी के महत्व का अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि जब साहब तेज आवाज में अंग्रेजी बोलने लगें तो समझा जाता वे गुस्से में हैं। लेकिन इसे गुस्सामीटर की तरह मानना जल्दबाजी होगी। होता दरअसल यह है कि गुस्सा करने वाले का दिमाग पटरी से उतर जाता है। सो भाषा को भी अपनी पटरी बदलनी पड़ती है। इसलिए देशज भाषाएँ बोलने वाला अंग्रेजी बोलने लगता है, अंग्रेजी जानने वाला फ्रेंच बोलने लगता है, फ्रेंच जानने वाला फ्राई होकर लैटिन बोलने लगता है। मतलब जो जिस भाषा में सहज होता उससे अलग दूसरी भाषा का दामन पकड़ लेता है ताकि असहज लगे। लोगों को पता लगे कि अगला गुस्से में है। यही नहीं भाषा के अलावा लोग दूसरे प्रसाधन भी इस्तेमाल करते हैं। बड़बोला मौन हो जाता है, मितभाषी बड़बोला हो जाता है। धीमे बोलने वाला चिल्लाने लगता है। चिल्लाने वाला चिंघाड़ने लगता है। चिंघाड़ते रहने वाला हकलाने लगता है। हकलाते रहने वाले के मुंह में ताला पड़ जाता है।

गुस्सा करने वाले के दुख को एक गुस्सा करने वाला ही जानता है।

क्या आपको गुस्सा आ रहा है?

संपर्क: महाप्रबंधक, आयुध वस्त्र निर्माणी शाहजहाँपुर

शाहजहाँपुर 242001(उ.प्र.), फोन 05842-223416

कुर्सी की आत्मकथा

वीरेन्द्र परमार

मैं कुर्सी हूँ—प्रत्येक युग के लिए परम आराध्या, स्वप्न सुंदरियों से भी अधिक आकर्षक और मोहक। इतिहास की अधिकांश लड़ाइयां मेरे लिए ही लड़ी गईं। मैं सर्वप्रिया हूँ, सभी मेरे लिए आत्मोत्सर्ग करने को तत्पर रहते हैं। लोगों का मुझसे अटूट नाता है। मुझे प्राप्त करने के लिए लोगों ने क्या-क्या नहीं किया, अपने भाई—बंधुओं को मार डाला, अपने पिता को कारागार में कैद कर दिया, मित्रों—सखाओं से मुंह मोड़ लिया। भले ही अपनी भार्या से संबंध विच्छेद हो जाए लेकिन मुझसे संबंध विच्छेद करना बहुत मुश्किल है। राजा, मंत्री, नौकरशाह, बाबू—सभी के लिए मैं प्रातः स्मरणीया और पूज्या हूँ। मुझे हस्तगत करने के लिए अनेक हथकंडे अपनाए जाते हैं, राजनीति की बिसात बिछाई जाती है और राजनीति के रावणों की चरण वंदना की जाती है। राजतंत्र में बाहुबल, संगठन क्षमता और कूटनीति के माध्यम से मैं प्राप्त होती थी, परंतु प्रजातंत्र में वोट ही मेरा माध्यम है। मैं नेताओं की पदयात्राओं, जनांदोलनों एवं भूख हड़तालों का अथ एवं इति हूँ। मैं कामधेनु हूँ और कल्पवृक्ष भी, साधना हूँ और साध्य भी, आराधना हूँ और आराध्य भी। जिसने मेरी उपेक्षा की उसके जीवन में अंधेरा छा गया, जिसने भी मुझे लात मारी वह दुनियावालों की लात का पात्र बन गया। मेरे लिए लोकतंत्र की अस्थी उठाई जाती है, संविधान को ठेंगा दिखाया जाता है और चापलूसी पुराण का पाठ किया जाता है। मेरे लिए अनेक विश्वामित्रों ने अपनी तपस्या भंग कर दी, अनेक महात्माओं ने अपनी भक्ति को तिलांजलि दे दी तथा असंख्य महापुरुषों ने पुरुषोचित गुणों का परित्याग कर दिया। मेरे लिए दो ध्रुव एक हो जाते हैं, राम और रावण में सुविधाजनक समझौते हो जाते हैं, सिंह और मेमना जंगलराज स्थापित करने के लिए साझा कार्यक्रम घोषित करते हैं।

मैं कुर्सी हूँ। कुर्सी अर्थात् सत्ता, अधिकार, सुविधा, ऐश्वर्य, ख्याति, कुख्याति। मेरे सामने बड़े-बड़े लोगों की बोलती बंद हो जाती है, बाहुबली भूलुंठित हो जाते हैं, बुद्धिजीवी मेरी विरुदावली गाने लगते हैं। मेरे लिए रातोंरात आस्था बदल जाती है, ईमान बदल जाते हैं, बैनर बदल जाते हैं। कलिकाल में मैं ही सत्य हूँ और सब मिथ्या है—कुर्सी सत्यम, जगत मिथ्या। मैं सर्वाराध्या और सर्वशक्तिमती हूँ। मैं चुनावी घोषणा पत्रों का सार और विपक्ष की टीस हूँ। मैं पारस पत्थर हूँ—मुझे प्राप्त करते ही कंगाल मालामाल और मूर्ख ज्ञानी हो जाते हैं। मेरे स्पर्श मात्र से अंधे नयनसुख हो जाते हैं, कंगाल मालामाल हो जाते हैं, दरिद्रता सात समुद्र पार भाग जाती है। मुझे प्राप्त करते ही रत्न—आभूषणों से घर भर जाते हैं। मैं कारुं का खजाना हूँ, जिसके हाथ लग जाऊं वह कुबेर बन जाता है। मेरी अनुकंपा से खाकपति भी लखपति बन जाते हैं। मैं सिद्धिदात्री, बुद्धिदात्री, सर्वकामप्रदायिनी, सकलविघ्नविनाशिनी और समृद्धिप्रदायिनी हूँ। छल—प्रपंच मेरी नींव है, तिकड़मबाजी मेरा ईमान है, धोखा मेरा धर्म है,

निर्ममता मेरा अस्त्र है, झूठ मेरा कवच है, घड़ियाली आंसू मेरा भूषण है, भ्रष्टाचार मेरी संतान है, मिथ्याचार मेरा अलंकार है, शिष्टाचार मेरा शत्रु है। मेरे लिए औरंगजेब ने अपने असंख्य बंधु-बांधवों को मौत के घाट उतार दिया था।

मैं कुर्सी हूँ—अनश्वर और सनातन। राजा विक्रमादित्य को मुझे पर आसीन होने के पूर्व बेताल के कठिन और उलझाऊ प्रश्नों के उत्तर देने पड़े थे। लोकतंत्र में मैदान और लड़ाई का स्वरूप बदल गया है। अब मुझे प्राप्त करने के लिए जनता के सम्मुख न निभानेवाले वादे करने पड़ते हैं, अनशन और पद यात्रा के भीड़ खींचू और उबाऊ कार्यक्रम करने पड़ते हैं, बाहुबलियों के शरणागत होना पड़ता है और जिंदाबाद बोलने वाले किराए के आदमी रखने पड़ते हैं। जो मुझे प्राप्त कर लेता है उसे और कुछ प्राप्त करने की इच्छा शेष नहीं रह जाती है। एक बार जो मेरी शरण में आ जाए, आजीवन मेरा होकर रह जाता है। मेरे पास आँख—कान नहीं है, इसलिए मैं दीन—दुखियों के चीत्कार को नहीं सुन पाती, भूखे—नंगों की दुर्दशा नहीं देख पाती।

मेरे पास प्रपंची मस्तिष्क और मजबूत पैर हैं। मैं इन दोनों अंगों का भरपूर इस्तेमाल करती हूँ। अपने अहर्निश सक्रिय रहने वाले मस्तिष्क से राजनीति की बिसात बिछाती हूँ, विरोधियों के कुचक्र को नाकाम करती हूँ और बलिष्ठ पद—प्रहारों से आगे वाली कुर्सी पर आसीन बंधु-बांधवों को धक्के मारकर भूमिसात करती हूँ।

मैं सर्वबाधाहारिणी और महाविलासिनी हूँ। मैं सुर नर—मुनि मोहिनी और अमृतवर्षिणी हूँ। मैं रस से परिपूर्ण हूँ। अपने ऊपर आसीन होने वाले को मैं रस से आप्लावित कर देती हूँ लेकिन न जाने किस मुहूर्त में किसी बददिमाग व्यक्ति ने मेरा नाम 'कुरसी' रख दिया जबकि मैं तो 'सुरसी' हूँ। साहित्य के आचार्यों ने भी नवरसों में जगह न देकर मेरे साथ अन्याय किया है। श्रृंगार को रसराज कहा गया है जबकि साहित्य के सभी रसों में मैं संचरण करती हूँ। इसलिए साहित्य के अभिनव आचार्यों को कुर्सी रस नामक एक नए रस का प्रतिपादन करना चाहिए। इति सकलकलि कलुषविध्वंसने कुर्सी महात्म्यं प्रथम अध्यायः समाप्तः।

संपर्क :103, नव कार्तिक सोसायटी, प्लॉट-13, सेक्टर-65, फरीदाबाद-121004, मो. 9868200085

“लंठों की लूट मच रही है।
पूँजी भरपेट पच रही है।
कितने ही राजकर्मचारी।
जिनके कर बाग है हमारी।
वेतन भरपूर पा रहे हैं।
तिस पर भी घूस खा रहे हैं।”
नाथूराम शर्मा शंकर (द्विवेदी युगीन कवि)

सुमंत्र

राम नगीना मौर्य

बीते माह, हमारे दफ्तर के एक वरिष्ठ सहकर्मी सज्जन बाबू रिटॉयर हुए। लोगों से उनके बारे में सुनकर सुखद आश्चर्य हुआ कि सज्जन बाबू दफ्तर के सफलतम कर्मी थे। हालांकि उनके बारे में मेरी जानकारी इसके एकदम उलट थी। वो बेहद घाघ किस्म के, एक नम्बर के कामचोर, जिन्हें हमेशा ही अपने कार्यों की जिम्मेदारी दूसरों पर टालने में महारत हासिल थी। देखा जाय तो एक तरह से उन्होंने कभी काम किया ही नहीं था। बतर्ज... 'हरें लगे न फिटकरी, रंग चोखा ही चोखा'... 'नो-वर्क नो-रिस्क'...। ऐसा आदमी यदि अपना सेवाकाल सफलतापूर्वक पूर्ण कर लें तो किसी को आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

स्वाभाविक था कि चला-चली की बेला में, मेरे मन में उनके सफल सेवाकाल के पीछे के कारणों, आवश्यक गुरुमंत्रों के बारे में जानने की प्रबल उत्कंठा हुई। बताता चलूं, उन्होंने लेखनादि में भी हाथ आजमाए थे। रिटॉयरमेंट की विदाई पार्टी में सज्जन बाबू ने अपने बहुआयामी व्यक्तित्व का परिचय देते, बाकायदा खुलासा भी किया कि वे काफी समय से एक उपन्यास, दो कविता संग्रहों पर काम कर रहे हैं, परन्तु कामकाज की व्यस्तता व समयाभाव के दृष्टिगत उन पर काफी काम अभी भी अधूरा है। अब इत्मीनान से वे उन्हें पूरा कर सकेंगे। चूंकि पढ़न्त-लिखन्त-गढ़न्त में स्कूली दिनों से ही थोड़ी-बहुत दिलचस्पी मेरी भी रही है, ऐसे में लगा कि मेरे लिए उनका मार्गदर्शन सर्वथा उपयुक्त रहेगा। सो रिटॉयरमेंट की विदाई पार्टी के उपरान्त हम दोनों जन, गप-शप वास्ते, कैम्पस स्थित पदारथ भाई की कैण्टीन में जा बैठे।

अपनी सफलता के गुर बताने से पहले, पदारथ को मलाई मारकर दो चाय और एक प्लेट मठरियों का ऑर्डर देते वो मुझसे मुखातिब हुए। पहले उन्होंने मुझे ऊपर से नीचे, फिर नीचे से ऊपर आपदमस्तक दो बार इस तरह घूरा, मानो तसदीक कर लेना चाहते हों कि सामने बैठा आदमी हथ्थे चढ़ने योग्य, अर्थात् उनका शिष्यत्व ग्रहण करने वास्ते मनसा-वाचा-कर्मणा तैयार है भी या नहीं। बहरहाल, मुझे नखशिख अवलोकित करते, हौले से मुस्कियाते, अपनी मूँछों पर हाथ फेरते, बैठे-बैठे ही एक टॉग पर दूसरी टॉग फैलाते, उन्होंने आगे फरमाया... "देखा जाय तो लेखकीय तबियत वाला आदमी कम ही सच लिखता है, और अगर लिखता भी है, तो स्मृतियों, अनुभवों पर कल्पनाओं की छौंक, तड़का-बधार देते, किसिम-किसिम के बोध, भावों आदि की चासनी में लपेटते, ढेर सारे शिल्पगत, विधागत बनाव-शृंगार के साथ भी लिखता है। जीवनानुभव गवाह है कि झूठ बोलने-लिखने के जितने फायदे हैं, उसके विपरीत सच बोलने-लिखने के नुकसान-ही-नुकसान हैं।" मेरी साहित्यिक अभिरुचियों से पूर्व परिचित होने के

कारण या शायद मेरी मंशा भाँपते, उन्होंने बिना किसी पृष्ठभूमि के, आप्तवचनों के मानिन्द अपना प्रवचन शुरू कर दिया।

“लेकिन सर, छोटे मुँह बड़ी बात। कहा तो यह जाता है कि सत्य परेशान हो सकता है, पराजित नहीं। फिर ये असमय ही झूठ की हिमायत क्यों?” तनिक संकुचाते हुए मैंने स्वाभाविक सी जिज्ञासा प्रकट की।

“देखिये राजन बाबू, सच और झूठ माया है। भ्रम है। अभी यदि दिन है, तो कुछ देर बाद यह झूठ में तब्दील हो जायेगी। क्योंकि तब तक शाम हो चुकी होगी। अन्तिम सत्य जैसा कुछ नहीं होता। बात जय-पराजय की भी नहीं है। प्रैक्टिकल होने, व्यवहार-कुशल होने की है। तेल और तेल की धार का समय रहते अंदाजा लगाने की है। अब देखिये न! हमारे संग चाहे जैसी भी स्थिति-परिस्थिति हो... “और पॉर्टर! आजकल क्या चल रहा है? आपके क्या हाल-चाल है?” किसी के पूछने पर प्रत्युत्तर में, हम भले ही किसी तरह की उलझन या परेशानी में हों, दाँत चियारते, फिस्स देना खींसे निपोरते, झूठ-मूठ यही तो कहते हैं न!... “बढ़िया। फरसगलॉस... जलवे-ही-जलवे हैं...?”

“जी, बात तो आपने सौ फीसदी सही कही।” कहते, उनके समर्थन में मैंने अपनी मुंडी हिलायी।

“अब क्या है कि जमाना पहले वाला तो रहा नहीं। अब हालचाल के मामले में ही देख लीजिए। यदि आपने सामने वाले के प्रश्न पर सच-सच उगल दिया कि ‘नहीं भाई, बहुत परेशानी में हूँ/ हजार तरह की उलझने हैं।’ ऐसे में अगले को अच्छा नहीं लगेगा। अगले की भाव-भंगिमा से यही लगेगा कि लो, उसने तो औपचारिकतावश आपका हालचाल पूछा था, लेकिन आपने उनकी बातों को सीरियसली ले लिया, उन्हें अपना

शुभेच्छु समझते, सच उगल बैठे। खामखाह ही अगले का मूड खराब कर दिया। ऐसे में यदि सामने वाला रिटॉयर्ड होने के साथ-साथ विघ्नसंतोषी टाइप का हुआ, तो समझिए आपकी शामत आ गयी। उसे फौरन ही अपना फर्ज याद आ जायेगा, और वो परेशानी की तह में जाते, उनका सम्यक समाधान तक सुझाने की पेशकश कर सकता है।” ये कहते सज्जन बाबू की आँखों में खास तरह की चमक देखी और महसूस की जा सकती थी।

“सर जी, आपने एकदम हकीकत बयां किया है।” कहते, मैंने यंत्रवत अपनी मुंडी ऊपर से नीचे, पुनः दो बार हिलायी।

“वैसे भी रिटॉयर्ड लोगों का टाइम-पास करना, उनके लिए एक चुनौती सरीखा ही होता है। दिन-भर में यदि सात-आठ लोगों को बिन मांगे वाला परामर्श न दे लें, तब तक उनका भोजन ही नहीं पचता। कॉन्स्टिपेशन की प्रॉब्लम तो रहती ही है, सामने वाले से यथायोग्य रेस्पॉन्स न मिलने पर दुश्चिन्ता के बढ़ने की भी समस्या हो सकती है। ऐसे में अगर कहीं हाट-बाजार में अचानक मेल-मुलाकात होने पर सामाजिकता के नाते, हालचाल पूछने की सामान्य औपचारिकता के बाद भूले से आपने उनसे दपतर में चल रहे किन्हीं करेण्ट-टॉपिक्स आदि पर परामर्श मांग लिया, तो समझो उनकी तो पौ बारह हो गयी। ये अलग बात है कि पूछने वाले के चेहरे पर इस शिखर-संवाद के सत्रोपरान्त बारह बजना तो लगभग तय ही है। और भी चिन्ताजनक बात तब हो जाती है, जब इस कवायद में वो, मान-न-मान तेरा मेहमान की तर्ज पर आपके साथ कुछ देर कहीं रेस्त्रां या कॉफी-हाउस में बैठकर, इत्मीनान से आपको सुनते हुए उसका हल तजवीज करने की जिद कर बैठते हैं।” सज्जन बाबू पूरी रौ में

थे, और मैं उन्हें दत्तचित्त सुन रहा था।

“फिर तो...यह खासी खर्चीली कवायद ठहरी?” मेरी जिज्ञासा यक-ब-यक तीव्र हो उठी। यद्यपि तब-तक चाय और मठरियाँ आ चुकी थीं।

“जाहिर है। ये चर्चाएं महज आपका खर्चा ही नहीं बढ़ायेगी, बल्कि जितनी देर वो आपके साथ बैठे रहेंगे, वहाँ आते-जाते लोगों की निगाह में, आपसी बातचीत में वो चतुर्दिक आकर्षण-विकर्षण का केन्द्र भी बने रहेंगे। मौका ताड़कर, लगे हाथ चाय-नाश्ते पर हाथ साफ करने वास्ते, वहीं आजू-बाजू की सीट पर बैठे उनके कुछ पुराने लग्गू-भग्गू, उद्दाम टाइप साथी आदि भी अगर वहाँ आ बैठें, तो किसी को आश्चर्य नहीं होगा।” सज्जन बाबू ने प्लेट से मठरी का एक टुकड़ा उठाकर, मुँह के हवाले करते, गरमा-गरम चाय की चुस्की लेते, किसी विषय-विशेषज्ञ की भाँति अपनी बातों में गहराई लाते, आप्तवचनों की श्रृंखला को आगे बढ़ाया।

“यानि...यह तो एक तरह से मुसीबत गले पड़ना सरीखा हुआ?” मैंने बात का सिरा आगे बढ़ाया।

“बिलकुल। इस कवायद में अगर बैठे-बिठाए डेढ़-दो सौ की चपत लग जाए तो आश्चर्य नहीं होना चाहिए। काहे से कि ऐसे विघ्नसंतोषी प्रायः घर से कुछ खा-पीकर नहीं चलते। ऐसों के घर वाले सुबह-सुबह ही उन्हें एक झोला, जिसमें उनके बी.पी. और शुगर आदि की दवाइयों का डिब्बा भी होता है, के साथ पानी की एक बोतल आदि देकर इस उम्मीद में घर से बाहर की राह दिखा देते हैं कि... ‘बाबू जी!...अंकल जी! इतनी सुबह आपके लिए कौन चाय-नाश्ता वगैरह बनायेगा? फिर आप अब रिटायर हो चले हैं, टाइम से ऑफिस जाने का कोई टेंशन-वेंशन भी नहीं। सो दूर तक मॉर्निंग-वॉक पर निकल

जाइये। इस कवायद से आपके कॉन्स्टिपेशन की क्रॉनिक-प्रॉब्लम भी सॉल्व हो जायेगी, और क्या पता गठिया-हवा-बताश में भी अभूतपूर्व राहत मिले? लौटते वक्त वहीं कहीं रास्ते में किसी होटल या ढाबे में चाय-नाश्ता आदि कर लीजिएगा। वैसे भी लोलारक हलवाई के यहाँ की गरमा-गरम पूड़ी-कचौड़ी, दही-जलेबी तो आपको नाश्ते में खासा प्रिय भी है, जो फिलहाल की स्थिति में तो घर में नहीं बनाए जा सकते।”

“तो क्या रिटायरमेंट के बाद ये हालत हो जाती है? घर में नाश्ता-पानी भी ढंग से, टाइम से नहीं मिलता?” मेरी जिज्ञासा बढ़ती ही जा रही थी।

“नहीं! राजन बाबू, ऐसा सभी के केस में नहीं है। यह केस-केस पर डिपेण्ड करता है। वैसे भी, इस धरा-धाम पर धरती के बोझ, धरती-ढकेल टाइप सनकी-सिरी लोगों की कमी नहीं है। बहरहाल...ऐसे विशिष्ट परामर्श आदि के समय आप बीच में टोका-टाकी मत कीजिए। माइण्ड अलग से डॉयवर्ट होता है भाई। काहे नहीं समझते? अच्छा! तो हम कहाँ थे?... हाँ! हम यहाँ थे...अगर आपने सामने वाले से मुखामुखम अपनी परेशान-हाल ताजा स्थिति का खुलासा कर दिया, तो समझिए...गई भैंस पानी में। दो-चार आप्तवचनों, जैसे... ‘सुख और दुःख तो गाड़ी के पहिये की तरह हैं। रात और दिन की तरह, इनका आना-जाना तो स्वाभाविक ही नहीं, बल्कि अपरिहार्य भी है।’... ‘इट टू शैल पास’...वगैरह-वगैरह कहते-सुनाते, उनके अतीत के दुःख भरे दिन कैसे बीते? उनके जीवन में सुख भरे दिन कैसे फिर से पलट कर आये? के बारे में विस्तार से खुलासा करते, समझाते, सात्वना आदि देते, आपको गंडा, तावीज या किसी पहुँचे हुए बाबा के शरण में जाने की जरूरत भी है या नहीं, की

भी तजवीज कर दें, तो किसी कर आश्चर्य नहीं होना चाहिए।” यह सब कहते, समझाते हुए सज्जन बाबू आपदमस्तक कोई प्रकांड, ओजस्वी विद्वान से लग रहे थे। मेरे पास उन्हें मंत्रमुग्ध सुनने के सिवा कोई चारा ही नहीं था।

“क्या ऐसा भी होता है?” मैंने टेबल पर रखे गिलास का पूरा पानी, एक सांस में ही गटागट पीने के बाद उत्सुकतापूर्वक पूछा।

“भाई! ये पूछिये कि क्या नहीं होता? ये भी हो सकता है कि ‘हिम्मतें मर्दा मददे खुदा’ कहते, बड़ी-से-बड़ी परेशानियों के आगे हिम्मत न हारने के अपने अतीत के अविस्मरणीय अनुभवों के किस्से सुनाते, ढेर सारी लन्तरानियां बतियाते, बातों में गम्भीरता लाते, भृकुटियों को तनिक टेढ़ा करते, आप पर पूरा प्रभाव जमाने वास्ते, या कह लीजिए आपको गियर में लेने की गरजवश, चेहरे पर तमाम तरह के कोण बनाते-बिगाड़ते, हाथ-पैर इधर-उधर फेंकते, मुँह से झाग निकलने तक, साठ-सत्तर के दशक से लेकर अब तक की अपनी उपलब्धियाँ गिनाते यके-बाद-दीगरे, उदाहरण सहित ढेरों अजीबोगरीब प्रस्तुतियाँ देने लगें, तो आपको किसी कर आश्चर्य नहीं होना चाहिए। चूँकि आप ऊँचा सुनते हैं, सो हो सकता है कि रोजमर्रा के तमाम तरह के शोरगुल आदि से दूर रखने की कवायद में वो आपको एक कोने में ले जाकर समझाने की जुगत में भी लग जायें।” सज्जन बाबू ने मानो ऐसों की खूबियों-खामियों का असमय ही रहस्योद्घाटन किया हो।

“पर मेरे साथ ऐसा नहीं है। मैं तो उगते और अस्त होते सूरज की भाँति, समान लालिमा लिए, हर स्थिति-परिस्थिति में सामान्य रहने की ही कोशिश करता हूँ। वैसे भी, हर दशा में समान-भाव में रहने के फायदे-ही-फायदे हैं, क्योंकि तब न

मंदी में दुखी होंगे, न तेजी में उछलेंगे। बोले तो स्थितिप्रज्ञ। आपने देखा होगा, मैं यहाँ दफ्तर में भी अपने सभी वरिष्ठजनों व अधीनस्थों को पूरा सहयोग करने का भरसक प्रयास करता हूँ। वैसे भी सिस्टम में मेरी पूरी आस्था है।” बातचीत के बीच में ही उन्हें टोकने का लोभ-संवरण न कर सका। एक बार फिर उन्हें ज्ञान देने की भूल कर बैठा।

“अच्छा तर्क कर लेते हैं। लगता है तर्क शास्त्र के विद्यार्थी रहे हैं आप? बहरहाल...मैं कहाँ कहता हूँ कि आप सिस्टम से मत चलिए। हम और आप सिस्टम के ही अंग हैं। भला हम लोगों से बेहतर, सिस्टम को कौन समझ सकता है? बस्स...इतना ध्यान रखें कि किसी भी काम में अनावश्यक अति-उत्साह मत दिखाइए, अन्यथा यह कालान्तर में भारी पड़ सकता है। लेने के देने भी पड़ सकते हैं। बस्स...येन-केन-प्रकारेण अपने बॉस की हाँ-में-हाँ मिलाते रहिए। आप जो हों, वो दिखें नहीं, जो दिखें, वो हों न। जो बोलें, वो सोचें नहीं और जो सोचें, वो बोलें नहीं। ऐसा बोले कि सामने वाला निरुत्तर हो जाये। अश-अश कर बैठे, मानों उसने आपसे ऐसे उत्तर की प्रत्याशा ही न की हो। साथ ही वक्त-जरूरत एक सौ अस्सी डिग्री पलटी मारने की कुव्वत भी हो। थोड़ी-बहुत कमी-बेशी के साथ, सिस्टम जैसा है, वैसे ही बने रहें। इसमें हमारे-आपके चाहने-न-चाहने से कुछ नहीं होने वाला। सुना होगा आपने भी...बड़े-बुजुर्ग, जिनके नाम ठीक-ठीक अभी याद नहीं आ रहे, कह भी गये हैं... ‘बने रहो लुल्ल, वेतन पाओ फुल्ल’... ‘जो लिया कामकाज का टेंशन, तो फेमिली पाएगी पेंशन’... ‘बने रहो पगला, काम करेगा अगला।’ आपने देखा होगा कि कुछ लोग गधों की तरह हाँफते-झींकते दिन-रात काम करते रहते हैं, तो

कुछ लोग आराम-आराम, मंथर गति से ऐसे काम करते हैं, मानों उन्होंने गैंडे-सी खाल ओढ़ रखी हो। कोई कुछ भी कहता रहे, उनकी सेहत पर रत्ती भर भी फर्क नहीं पड़ता। सकल पदार्थ की आशा रखने वाले को प्रैक्टिकल होना चाहिए। समझे कि नहीं समझे?" मैं उनके अथाह... ज्ञान-भरी ये गूढ़-गम्भीर बातें मंत्र-मुग्ध हो, इस तरह सुनता रहा, मानो उनसे मिलकर जीवन धन्य हुआ। कृतकृत्य हुआ। मैंने सहमति में यन्त्रवत अपना सिर पेण्डुलम की भाँति कितनी बार हिलाया होगा, अभी की स्थिति में कुछ भी याद नहीं। उनके इन जादुई वक्तव्यों के आगे मैं किंकर्तव्यविमूढ़ था।

"सर! आज आपकी ये ज्ञान-विज्ञान से ओत-प्रोत बातें सुनकर ऐसा लग रहा है कि आपसे सम्पर्क साधने, मिलने में मैंने कुछ ज्यादा ही देर कर दी। मैं तो उस पल का शुक्रगुजार हूँ, जिस क्षण मुझे आपसे मिलने, कुछ सीखने का ख्याल आया था। शायद इसी को...देर आयद दुरुस्त आयद...कहते हों।" मेरी देहभाषा से उन्होंने सहज ही भाँप लिया कि उनसे अब तक न मिल पाने का मुझे बेहद अफसोस था।

"अरे! छोड़िये, राजन बाबू। राजकाज में तो ये सब चलता ही रहता है। खैर...थोड़ा विचलन हो गया था। यहाँ मूल मुद्दा तो सही हालचाल बताने को लेकर ही था। आइये फिर उसी पर कंसन्ट्रेट होते हैं। गौरतलब है कि अतिउत्साह या निर्लज्जतावश आपने सामने वाले से कहीं सच में ही यह कह दिया कि "भाई साहब, पूरी तरह स्वस्थ हूँ बाल-बच्चे रिटॉयरमेंट से पहले ही काम-धंधे पर लग गये हैं। ऊपर वाले के आशीर्वाद से कोई गम्भीर बीमारी-सीमारी भी नहीं है। अभी पिछले हफ्ते ही हम दूनों परानी हरिद्वार से गंगा नहाकर भी आ गये हैं। स्वस्थ

हूँ। खुश हूँ, इतना कि मन में ही नहीं समां रहा। फिर, ये मेरा नूरानी चेहरा, मेरी देहयष्टि, देहभाषा इत्यादि का सिंहावलोकन करते आपको अंदाजा हो ही जाना चाहिए था। पर पता नहीं आप कैसे अंदाज नहीं पाये, जो मेरा हालचाल पूछ बैठे? खैर, अब जब पूछ ही लिया तो जान भी लीजिए।" इस बात को कहते, सज्जन बाबू के चेहरे पर गजब का आत्मविश्वास झलक रहा था। उनकी ये खिलन्दड़ी भाषा मेरी समझ से परे थी।

"सर जी, यह तो आपने लाजवाब कर देने वाली बातें बतायीं।" कहते, मैंने कृतज्ञतापूर्वक अपनी मुंडी एक बार फिर हिलाई। सज्जन बाबू के अनुभव और बुद्धि के मणिकांचन-योग रूपी अद्भुत व्यक्तित्व से मैं सचमुच पहली बार रूबरू हो रहा था।

"जरा सोचिए! इस सच का सामना होने पर अगले पर क्या कुछ गुजरेगी? उसे कैसा महसूस होगा? खासकर तब, जब पूछने वाले के दोनों लड़के अभी बेरोजगार हों। उनकी बड़ी लड़की, योग्य घर-वर की तलाश में उम्र के तीसरे दशक में अविवाहित ही प्रवेश करने वाली हो। बेचारा कुढ़कर, जल-भुन कर अपना-सा मुँह लेकर न रह जायेगा? भला आपकी खुशी किसी और से क्यों देखी जायेगी? ऐसा मैं ऐं-वें-ही नहीं कह रहा हूँ। अपने जीवनानुभवों और भोगे गये यथार्थ बयां कर रहा हूँ। अच्छा! अब मैं निकलूँगा। काफी समय हो चुका है। घर पर पत्नी मेरा इन्तजार कर रही होगी। शाम को हम दोनों को लॉन में झूले वाली कुर्सी पर बैठे, साथ-साथ झूलते हुए चाय पीने की आदत है। कभी घर आइयेगा, तो इत्मीनान से बैठकर ढेर सारी बातें होंगी।" मैंने देखा कि चाय खत्म हो गयी थी, और सामने टेबल पर प्लेट में रखी सारी मठरियाँ भी, सो सज्जन बाबू ने अब कैण्टीन

में ज्यादा देर तक रुकना मुनासिब नहीं समझा। बिल चुकता कर मैं उन संग कैण्टीन से बाहर आ गया।

बहरहाल इतना कुछ ज्ञानार्जन के उपरान्त जब वो चलने को उद्यत हुए, मैंने भी भाव-विभोर हो उन्हें विदा किया। सज्जन बाबू की ये आलिम-फाजिल बातें, मेरी सुषुप्त-सी चेतना को झकझोरने के लिए काफी थीं। उन्हें छोड़ने लिपट के बजाय सीढ़ियों से भूतल तक आया। वो चलते-चलते भी आश्वस्त करते, गुरुमंत्र दे गये कि... 'यदि भविष्य में काम-काज सम्बन्धी किसी किसिम की परेशानी इत्यादि आये तो परामर्श वास्ते बेहिचक घर आ जाइयेगा। आपकी कालोनी से नजदीक ही तो मेरी भी कॉलोनी है? और हाँ! चलते-चलते एक और गूढ़ बात बताना चाहूँगा, मत भूलिएगा कि जब लोगों को झूठी तारीफ़ ही अच्छी लग रही हो, तो कड़वा सच बोलने की हिमाकत बेवकूफी ही है।' अब मैं उनसे कैसे ये पूछने की धृष्टता करता कि जब आपने कभी काम-काज आदि किया ही नहीं, तो काम-काज सम्बन्धी दिक्कतों का समाधान कैसे करेंगे? बहरहाल... उन्होंने ये जुमला जितने कांफिडेंट से उछाला था, उस पर तो शक की कोई गुंजायश ही नहीं थी। वैसे भी उन्होंने सफलतापूर्वक अपना सेवा-काल पूरा किया था, ऐसे में उनके सुझावों पर कान न देना, उनकी योग्यता पर उँगली उठाना, सूरज को दीपक दिखाने के मानिन्द था। अतः दैनन्दिन के कामकाज इत्यादि के बारे में, बातचीत के इस धुँआंधार सेशन के उपरान्त उनकी योग्यता पर कोई प्रश्न उठाना बचकानी हरकत ही कही जाती, सो चुप्पी लगा गया। बल्कि मैं तो उनके इस असमय के ज्ञानवर्धन से कृतार्थ था। रोआं-रोआं ऋणी महसूस कर रहा था।

उनकी ढेर सारी ज्ञान भरी दुनियावी बातें आदि सुनकर मुझे एकबारगी लगा कि मैंने जब-जब भी सच बोलने की कोशिशें कीं, मुँह की खार्यी। जब भी सत्य के प्रयोग किये, सत्य के पक्ष में खड़ा हुआ, अव्वल दर्जे का बेवकूफ माना गया। यहाँ तक की अप्रिय सत्य बोलने पर वरिष्ठों को तो छोड़िए, कनिष्ठों तक ने ढेरों लेक्चर पिला दिये। व्यवस्था में मिस-फिट माना गया। पीठ पीछे हँसी-खिल्लियाँ उड़ायी गयीं। ऐसे कार्यों, जिनमें मुझे महारत हासिल थी, जिन कार्यों को बीते वर्षों में मैंने बेहतर तरीके से निबटाने की हरचन्द कोशिशें की थीं, उन्हें भी मुझे न सौंपकर या मुझसे हटाकर मेरे अधीनस्थों या जिनके बारे में प्रचलित धारणाएं यह थीं कि वे आदर्शवादी-सत्यवादी के बजाय तथाकथित प्रैक्टिकल कर्मी हैं, देश-काल-स्थितियों-परिस्थितियों के अनुसार धड़ल्ले से, सामने वाले की ऐसी-तैसी करते, यथावश्यकतानुसार लगाई-बुझाई इत्यादि भी कर सकते हैं, उन्हें सौंप दिये गये।

अपनी इस आदत के कारण मैंने अब तक नुकसान-ही-नुकसान उठाये। अतः मैंने यह संकल्प लिया कि इस वर्ष झूठ के कुछ विशिष्ट व अप्रतिम प्रयोग करके ही देखता हूँ, ताकि मैं भी तथाकथित योग्य व प्रैक्टिकल लोगों में शुमार हो सकूँ। वैसे तो नये साल की शुरुआत हो चुकी है। अभी फरौरी ही चल रही है। यद्यपि मैंने संकल्प लेने में तनिक देर कर दी है। लेकिन, अगला वित्तीय वर्ष तो अभी शुरू होना बाकी है, फिर इस कोरोना जैसे महामारी-काल में तो बहुत सारी चीजें गड़डम-गड़ड सी हो गयी हैं। ढेरों समीकरण उलझ कर रह गये हैं। कहाँ तो हम 'उत्सव प्रिय मानवाः' की मनःस्थिति वाले लोग, और कहाँ बिना आपसी मेल-मिलाप, उत्सव,

कार्यक्रम आदि के बीते लगभग एक बरस से अजीब मनहूसियत की सी मनःस्थिति में जीवन व्यतीत कर रहे हैं। हम खुले दिल के भले लोग, भला संक्रमण की आशंकाओं के ऐसे अनिश्चितता भरे माहौल में कैसे रह रहे होंगे, इसका आसानी से अंदाजा लगाया जा सकता है।

हम तो अपनी ही तरह के कभी विशिष्ट तो कभी सामान्य फितरतें पालने वाले, किसी बने-बनाये फॉर्मूले या फण्डे से हटकर, तमाम तरह की मुगालतों में जीने वाले लोग हैं। देखा होगा आपने भी कि...बजाय सड़क पर बायें चलने के, अपने दाहिने ही चलते हैं। दफ्तर, सार्वजनिक-स्थल इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि जहाँ नहीं थूकना चाहिए, हक के साथ पूरे आत्मविश्वास से वहीं थूकते हैं। जिस जगह धीमी गति में वाहन चलाना चाहिए, वहीं पूरे जोश में एक्सीलरेटर दबा देते हैं। बिना मतलब ही हॉर्न बजाना अप्रतिम सुख देता है। और-तो-और बिना अपने वाहन की गति कम किये, स्पीड-ब्रेकर के बगल से निकल जाने में भी माहिर हैं। जहाँ कहीं भी दुपहिया, चार पहिया गाड़ियों की पार्किंग प्रतिबन्धित हैं, अदबदाकर हम वहीं अपनी गाड़ियाँ आदि खड़ी कर देते हैं। जहाँ नहीं लिखना चाहिए, वहीं लिख देते हैं। सार्वजनिक शौचालयों, पार्कों, बेंचों, प्रतीक्षालयों, प्रेक्षागृहों, यहाँ तक कि पेड़ों दीवारों आदि पर कलानुरागियों द्वारा उकेरे गये दुर्लभ भित्ति-चित्र आदि तो हमारी रचनात्मक प्रवृत्ति के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं ही।

बहरहाल, देर आयद दुरूस्त आयद। कहा भी गया है, जब जागो, तभी सवेरा।

वैसे भी, कहा गया है...शायर, सिंह और सपूत तो हमेशा से ही लीक से हटकर चलने के हिमायती रहे हैं। उसी समृद्ध परम्परा का सम्मान

करते, मैंने इस साल के लिए यह संकल्प लिया है कि...बहुत हो गया सत्य, चलो अबकी बार झूठ का सहारा लेकर देखते हैं। खैर...शायर, सिंह और सपूतों को उनके हाल पर छोड़ते हैं। आगे बढ़ते हैं।

अगले ही दिन सुबह देर से दफ्तर पहुँचने पर बॉस ने स्वाभाविक तौर मेरा स्पष्टीकरण माँगा, तो उत्तर में पहले से ही तैयार दस-बारह पेज का स्पष्टीकरण जो खालिस झूठ का पुलिंदा था, उन्हें पकड़ा दिया। जैसे कि... *‘बेडरूम वाली घड़ी बन्द थी। डाइनिंग-हॉल वाली घड़ी कुछ ज्यादा ही तेज चल रही थी, जिससे घोर कन्यूजन हो गया। सर, आप तो जानते ही हैं, आजकल सड़कों पर चलना कितना दूभर हो गया है? फिर, लोगों के सिविक-सेंस से तो आप भी भली-भाँति वाकिफ हैं। आपके जमाने वाली बात अब कहाँ रही? पत्नी के सिर में दर्द था। मोबाइल की बैटरी भी डिस्चार्ज हो गयी थी। ठंड लगने के कारण कल रात से ही पेट में मधुरे-मधुरे दर्द था। पत्नी की तबियत ठीक न होने के कारण खुद के हाथों बनाये काढ़े से चमत्कारिक फायदा जरूर हुआ, परन्तु जैसा कि आप जानते हैं, जिस तरह हमारे किसी भी क्रिया-कलाप का यथोचित प्रभाव आने में कुछ निश्चित समय लगता है, ठीक उसी तरह काढ़े का असर होने में भी तनिक देर लगी। सो दफ्तर देर से पहुँचा। फिर, आप भी इस बात से अनभिज्ञ नहीं होंगे कि ट्रैफिक के रोज-रोज के तमाम जाम के झाम तो अब आम से हो गये हैं।’*

इस झूठ के प्रयोग का चमत्कारिक फायदा तो देखिए। बॉस मेरे स्पष्टीकरण से इस कदर मुतमैय्यन हुए कि छूटते ही अपने चपरासी को, नीबू-अदरक, कालीमिर्च के मिश्रण युक्त दो स्वादिष्ट मसालेदार गरमागरम चाय का ऑर्डर

देते, मुझे अपने सामने वाली कुर्सी पर सम्मानपूर्वक बिठाते, अनुनयपूर्वक चाय पीकर ही जाने का अनुरोध करते, मेरे उस चमत्कारिक काढ़े की रैसिपी भी पूछी। उसी बीच मैंने मौका देखकर उनकी सूट से मैंचिंग-टाई की झूठ-मूठ तारीफ भी कर दी, और ये भी कि...“सर...आप देर रात तक दफ्तर में रुककर कितना सारा काम कर लेते हैं? फिर भी सुबह ठीक दस बजे दफ्तर में हाजिर हो जाते हैं। आप जैसा, कार्य के प्रति डेडिकेटेड-ऑफिसर तो पूरे ऑर्गनाइजेशन में चिराग लेकर ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलेगा...हैं-हैं-हैं।”

कहाँ तो सच बोलने पर अब तक चार बातें सुनते, बॉस के कोप-भाजन का शिकार होना पड़ जाता था, लेकिन आज तो परिदृश्य ही बदल गया था। उम्मीद के विपरीत अभूतपूर्व सम्मान मिला। अपनी झूठी तारीफ सुनकर, आदतन अपनी मूँछों पर उँगलियाँ फिराते, बॉस जी हौले से मुस्कुराये, मानो झूठ की महत्ता को हरी झण्डी दी गयी हो।

खैर...मेरा मकसद पूरा हो गया था। बॉस की चाय पीकर मैं हॉलनुमा अपने चैम्बर में आकर बैठ गया। लेकिन ठंड के कारण वहाँ बैठकर काम करना अत्यन्त मुश्किल लग रहा था। तभी मेरी नजर कोने में हीटर पर आग तापते तीन सहकर्मियों की ओर गई। मैंने भी झट उधर का ही रुख किया। हीटर के इर्द-गिर्द बैठे सहकर्मियों के बीच अँड़सते हुए जगह हथियाई। वहाँ पहुँचकर यह ताजा और विशिष्ट जानकारी भी हुई कि सभी सहकर्मীগण, अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक बॉस के नजराना, हकराना, शुकुराना और जबराना वाली कार्यशैली की सम्यक् चर्चा करते उनकी तारीफ में, तो कुछेक वाक्यों का उदाहरण देते, निन्दा में भी व्यस्त हैं। एक सहकर्मी ने तो बॉस के पिछले अफेयर को लेकर, जरूरी-जरूरी

जगहों, घटनाक्रमों पर, अनायास नहीं बल्कि सायास नमक-मिर्च लगाते, प्रत्यक्ष गवाह की तरह के-बाद दीगरे, कुछेक प्रसंगों पर साभिनय हमारा ज्ञानवर्धन भी किया। जाहिर है, हम सभी ने रससिक्त-भाव उन वृत्तान्त को आद्योपान्त पूरी तन्मयता से सुना।

उसी बीच तीन चाय आ गई। परन्तु हम चार जन थे, सो जग-प्रसिद्ध, कट-चाय फॉर्मूले का अप्रतिम प्रयोग करते, हमेशा की तरह हमने चौथी चाय बनाने का सफल प्रयोग किया।

‘देखा है पहली बार साजन की आँखों में प्यार...’ तभी जेब में मेरे मोबाइल की सिंग-टोन गूँजी। जेब से मोबाइल निकालकर देखा, पत्नी का फोन था।

“हाँ हलो!...बताओ क्या बात है? इस समय क्यों फोन किया?”

“...”

“अभी तो घर आना बहुत मुश्किल है। एक ठो जरूरी मीटिंग में व्यस्त हूँ।”

“...”

“हाँ, कह तो ठीक रही हो। ठण्ड तो मुझे भी लग रही है। पर...क्या करूँ...?”

“...”

“तुम तो जान ही रही हो, आज दफ्तर आने में देर हो गयी थी। ऐसे में बॉस से छुट्टी मांगने पर कहीं वो नाराज होते इन्कार न कर दें?”

“...”

“हाँ-हाँ, अच्छा याद दिलाया। ये ठीक रहेगा। झूठ-मूठ की बहानेबाजी करके ही देखता हूँ। ओ. के. रखता हूँ।”

पत्नी ने फोन पर उधर से आग्रह किया था कि आज उन्हें भी कड़ाके की ठंड लग रही है। बाहर तेज धूप खिली है। घमौनी लेने वास्ते...क्यों ना हम दोनों किसी पार्क-वार्क में घूमने चलें?

मेरे यह कहने पर कि आज दफ्तर आने में देर हो गयी थी। बॉस से तुरन्त छुट्टी मांगने पर कहीं वो नाराज होते इन्कार न कर दें? इस पर पत्नी की तरफ से यह धड़ाम-धकेल सुझाव आया कि “आज आधे दिन की छुट्टी के लिए अपने बॉस से झूठ-मूठ ही कह दीजिये कि घर में अचानक ही दूर शहर से, तीन-चार नजदीकी रिश्तेदार आ गये हैं। कोई ढंग का साधन न होने के कारण उन्हें अपनी ही गाड़ी से स्टेशन छोड़ने जाना है। आखिर, नजदीकी रिश्तेदारों के सामने अपनी इज्जत का भी तो सवाल है? भेरी सिम्पल।” पत्नी के इस सुझाव पर, स्वाभाविक रूप से मुझे उनकी समझ पर रश्क, और अपनी समझ पर तरस भी आया।

बहरहाल, बॉस के व्यक्तित्व, उनकी ओजस्वी भाषा-शैली, सोच-समझ की झूठी तारीफ करते, भले ही हम सब का उनसे छत्तीस का आँकड़ा हो, फिर आँकड़े भी सौ-फीसद सच और दुरुस्त कहाँ होते हैं?, पत्नी के बताए उपरोक्त धड़ाम-धकेल सुझावों का सहारा लेते, मैंने छुट्टी की दरखास्त दे ही दी। दरखास्त में लिखी मेरी बातों का बॉस पर अप्रत्याशित रूप से चमत्कारिक असर हुआ। बॉस ने मौके की नजाकत को समझते, मेरी दिक्कत को गम्भीरतापूर्वक लिया और तत्काल ही मेरी आधे दिन की छुट्टी मंजूर कर दी। मुझे तो एकबारगी इस झूठ बोलने वाले फॉर्मूले पर यकीन ही नहीं हो रहा था।

फिलहाल, सच तो सच ही होता है। वाबजूद इसके, मैंने अपनी हथेली पर एक बार हल्के से चिकोटी काटते खुद को आश्वस्त भी किया। बॉस ने मेरी छुट्टी मंजूर कर दी थी, सो मौके और दस्तूर को देखाते, मैं किसी नैतिकता-अनैतिकता रूपी अनर्गल की तार्किक द्वन्द्विता आदि में मगजमारी नहीं करना चाहता था। बिना एक पल भी गंवाएँ, ये जा-वो जा की गति से...मैंने घर वापसी की राह ली। घर पहुँचकर हम पति-पत्नी काफी देर तक कॉलोनी स्थित पार्क में, भुनी मूँगफलियाँ, जिन्हें जाड़े के दिनों में हम ऐसे दुर्लभ और बहुमूल्य समय का सदुपयोग करने वास्ते, पूर्वयोजित योजनानुसार पहले से ही खरीदकर घर में रखे रहते हैं, ढूँगते, गुनगुनी धूप का आनन्द लेते, पॉर्क के कोने वाली बेंच पर बैठे नव-युगल की आपसी चोंच लड़ाती अनेकानेक भावाभिव्यक्तियों का चाक्षुस आनन्द लेते, साथ ही पड़ोसियों की निन्दा आदि में भी शाम ढलने तक चर्चरत रहे।

मेरे अन्दर तो यह सोच-सोच कर ही फुरफुरी-झुरझुरी सी उठ रही थी कि झूठ के कितने चमत्कारिक फायदे हैं? देखते हैं, सज्जन बाबू के बताए-सुझाए गए गुरुमंत्रों से आगे क्या-क्या गुल खिलते हैं? बहरहाल...फूल कर कुप्पा होते आत्मनियंत्रण खो देने के बजाय यह समय धैर्य से काम लेने का है। मैंने सज्जन बाबू को मन-ही-मन...हृदय की अतल गहराइयों से पुनः धन्यवाद ज्ञापित किया था।

संपर्क: 5/348, विराज खण्ड, गोमती नगर
लखनऊ- 226010, उत्तर प्रदेश, मो. 9450648701,
ईमेल: ramnaginamaurya2011@gmail.com

शादी ...! बोले तो ?

रूपा गुप्ता

शादी...!!!

बोले तो? बर्बादी !!!

हाँ, ऐसा ही सुना है अपने ने छुटपन से। ऐ मरकट, हर जगह येई देखा हर पति दुःखी है शादी से। नई मानता? देख हर चुटकुले में विपत्ति ग्रस्त पति की व्यथा—कथा है। किसी भी शादीशुदा आदमी से पूछ, सब एक दूसरे की तकलीफ से ऐसे परिचित हैं कि 'शादी ...' बोलते ही बाकी सब कुछ, कुछ कहे बिना एक दूसरे की दर्द भरी दास्तान समझ में आ जाती है। शादी करके मर्द ने सदा दुःख पाए हैं। मेरे परिवार में जानता है मरकट, फेरे पड़ने के पहले हर लड़के को बाकायदा चिल्ला—चिल्ला कर ललकारा जाता है। "उठ भाग ले, अब भी वक्त है भाग ले, मत डाल फंदा अपने गले में, फिर मत कहियो कि कही नहीं ...।" क्यों ललकारते हैं? अरे बोले तो एक तरह की गाँधीगिरी है ये। पर कभी किसी लड़की को नहीं ललकारते। क्यों ? छोड़ हटा। आप भी छोड़िये! हटाइये !

शादीशुदा आदमी के बारे में बेशुमार चुटकुले हैं। हालाँकि ये सुनाते—सुनाते घिस गए हैं, लेकिन फिर भी सुनाए जाते हैं। सब उन पर हँसते भी हैं। इन चुटकुलों पर शादीशुदा औरतें अधिक हँसती है। कुछ तो वे जो पति और उसके मित्र की इस बार—बार एक ही चुटकुले को सुनाने की प्रतिभा की कायल हैं और कुछ वे तो और अधिक हँसती हैं जो समझती हैं कि यह चुटकुला उनके सिवाय तमाम दूसरी औरतों पर है। इन चुटकुलों में सबसे लोकप्रिय है 'अरे बेचारे की शादी हो गई है !' बेचारी की शादी नहीं, उसकी हो गई तो उसका तो उद्धार हो गया। बच गई, उसे पति परमेश्वर मिल गया। इस जन्म की नहीं अगले सात जन्मों की प्रत्याभूति प्राप्त हो गई। कुछ भूल चूक रह जाए तो वह कर—करके करवाचौथ कहीं का नहीं छोड़ेगी पति को, वह चाहे 'टेस्ट चेंज' (Taste Change) को कितना ही छटपटाए।

सो विवाहित आदमी पर कितने ही चुटकुले प्रसिद्ध हैं (फिर से याद दिलाए देते हैं, विवाहिता पर नहीं। शादी करके उसका तो जीवन सँवर गया। सुख—समृद्धि के द्वार खुल गए आदि आदि) अपने बहुत पसंदीदा एकाध चुटकुले के जिक्र की इजाजत दीजिए। तो अर्ज किया है, "शादी वह जंगल है जिसमें

शेरों पर बिल्लियाँ राज करती हैं।" बेहतरीन ! शेर शेरनी से ब्याह नहीं कर बिल्ली ब्याह लाता है। बिल्ली शेर से विवाहोपरांत भी बिल्ली ही बनी रहती है शेरनी नहीं होती। वे लोग क्या मनुष्यों की तरह गए बीते हैं जो लड़की की तरह शादी करते ही 'प्रतिभा बी' से 'प्रतिभा एफ' हो जाएंगे?

आप इस चुटकुले का यह भावार्थ नहीं कर सकते कि शेर ने शादी तो शेरनी से की थी और उस पर राज बिल्ली करती है। शादी तो शेर ने बिल्ली से ही की है।

एक और स्वीट—सा चुटकुला है— "एक जगह कुत्ते भौंक रहे थे वहाँ शेर भी आकर भौंकने लगा। कुत्ते सहम कर चुप हो गए। भौंकता हुआ दुखी शेर बोला, भाई लोग डरो मत। शेर तो मैं शादी के पहले तक था।" असंख्य चुटकुले हैं ऐसे। इधर विवाहित पुरुष की आजादी, सुख, चैन, प्रसन्नता सब छिन गए हैं, इधर आपको चुटकुले सुनने की पड़ी है। छोड़िए, हटाइए। अपने तो दुखी हैं शादीशुदा आदमी पर।

क्यों न हों? उसके दुःख असीम हैं, अनंत हैं। दर्द—ए—गम की शुरुआत सुबह—सुबह अखबार की ज्ञान—गंगा में गोते लगा कर पुण्य बटोरते, प्रभु के बनाए इस लीलामय संसार की छटा निहारते पति को कोंचती एक कर्कश आवाज से हो जाती है। बच्चे को स्कूल के लिए तैयार करती बीबी चीखती है— देखो जी, कौन है दरवाजे पर। कोई चार हाथ नहीं हैं मेरे ...। चार हाथ तो बेचारे पति के भी नहीं हैं, दो ही हैं, तो पढ़ रहा है ना उन्हीं दो हाथों से अखबार। कभी देखा कि एक हाथ से पढ़ रहा हो अखबार कोई। बस हो गए अनगिनत चुटकुले तैयार। तब तक वह बेवकूफ औरत फिर चीखने लगती है— घंटा भर लगाओगे दाढ़ी बनाने, नहाने में, सब्जी—भाजी कब लाओगे? हा प्रभु! आसमान

क्यों नहीं फट पड़ता पति की इस करुण स्थिति पर! पति ऑफिस कब जाएगा? ये फूहड़ औरत शाम को अपनी नौकरी से लौटते समय नहीं ला सकती घर का सामान? वैसे तो समानता का बड़ा दावा है। मैं ऑफिस से लौटते—लौटते कितना थक जाता हूँ ...। ये खुद क्या कर रही है। धौंस दिखाती है खाना पका कर खिलाने की। क्या करती है सिवाय दाल—सब्जी छौंकने के? तीसरी से चौथी रोटी नहीं खाता मैं, पर दिन—काल तो देखो मेरे। बैठ कर मोदीखाने का हिसाब करो। क्या बताएँ फँस गए शादी करके। कुँवारे थे, पलंग के दोनों तरफ से उतरते थे अब भुगतो। पर करते भी क्या? दो—दो बाप पीछे पड़ गए थे— एक इनके, एक हमारे।

शादी करके कोई मर्द चैन की नींद नहीं सोया एक रात। क्या राजे, महाराजे, क्या मंत्री, संतरी। चुटकुलों की बाढ़ आ गई। हरिद्वार नगर निगम ने लिखा, 'अपने पतियों से प्यार कीजिए, हमारे यहाँ जगह नहीं है।' पत्नियों ने कितनों को साधु बना दिया, महात्मा बना दिया। वे महान पुरुष बच गए जो बीवी छोड़ कर निकल लिए— बुद्ध, अंगुलिमाल, वास्कोडिगामा...। लंबी सूची है। पढ़ नहीं पाओगे। कभी सुना कोई औरत पति छोड़ कर निकल ली हो और स्त्री महात्मा बन गई हो? कभी नहीं सुनेंगे, क्योंकि ये निकलेंगी ही नहीं! इन मूढमतियों को क्या मालूम महानता का स्वाद? ये औरतें तो बस बिल्ली बन कर शेर पर राज करेंगी। बड़ी—बड़ी बातें करेंगी— पति, बच्चे, परिवार, मर्यादा, निभाना, त्याग, खुशी— लेकिन असली बात छिपा जाएंगी। एक आदमी की खुशी को खा जाने की बात। भीगी बिल्ली बन बन कर दिखानी हैं, पर होतीं नहीं। इन्हें बस घर में बैठ कर कलह करनी है। क्या कहा? इनका स्वाभिमान, आकांक्षाएँ, सपने....? छोड़िये! हटाइये !

पतियों के दुख की बात सुनिए। एक पति बहुत दुखियाता हुआ बोला ऊपर से बीवी मेरी इस कदर ठस्स है कि शराब पीने को बुरा मानती है। आजकल तो औरतें तक पीती हैं, पर कमबख्त धमकी भी इसी बात की देती है। आप बतायें बीवी को कैसे अलाउ करूँ दारू? पति परेशान है कि इसी वजह से कोई दोस्त नहीं उसका। बीवी भी विरोधी का धर्म निभाती है, "मेरी भी तो कोई सहेली नहीं बची ...।" पर छोड़िये बीवी की बकवास को, हटाइये! इनकी शिकायतों का पिटारा तो बस हर वक्त खुला रहता है— आज सोना को बुखार है, तो कल बाबाई का पेट खराब है। न इनसे बच्चों का स्वास्थ्य सँभलता है न उनकी पढ़ाई। और दफ्तर? तौबा कीजिये! किसी भी दफ्तर में कभी भी कहीं भी किसी महिला को काम करते देखा है? सारे वर्क कल्चर का सत्यानाश कर दिया जी इनने। इनसे तो बस बातें बनवा लो चाहे जितनी। सुना नहीं वह चुटकुला— "दो औरतें चुप बैठी थीं। हा हा हा।" एक कमअक्ल बीबी तर्क कर बैठती है— "बिल्कुल झूठा प्रचार है यह। महिलाएँ आपस में अपरिचय हो तो कम बोलती हैं बल्कि मर्द शुरू हो जाते हैं हर जगह। कुछ नहीं तो वह मरा वह क्रिकेट, फुटबॉल, हॉकी। कुछ न चल रहा हो तो कबड्डी तक...।"

"क्यों नहीं, क्यों नहीं! आपलोगों की तरह साड़ी— गहने बतियायें?" "पर बात तो बात करने की हो रही थी...।" बीवी के कुतर्कों से कौन करे माथापच्ची? छोड़िये इसे भी हटाइये !

शादी...। बोले तो? हमने पूछा एक चुपचाप बैठे सज्जन से, तो बोल पड़े दूसरे, "इनकी बीबी ने इन्हें बोलने से मना किया है।" "हा हा हा

हा।" इस हँसी में साथ देने के लिए चुप बैठे सज्जन उठे, पुड़िया थूक कर आए। नहीं बोलते तो 'पुड़िया' के नुकसान की भरपाई कैसे होती? सो बोले— "शादी बोले तो उम्र कैद। गई सारी आजादी। खाओ घर की दाल रोटी। न कोई ताक न कोई झाँक। बिल्कुल वैजिटेरियन। इश्क दी गली विच नो मोर एन्ट्री।" इनकी बगल में बैठी बीबी के चेहरे पर अपमान के आते—जाते विभिन्न रंग...। छोड़िये ! हटाइये!

"अरे क्या शादी बोले तो? आज खाना नहीं बनाया महारानी ने। जब देखो बीमार पड़ी है। एक ही रट डॉक्टर को दिखा दो, डॉक्टर को दिखा दो। कितना करूँ। डॉक्टर के पास ले जाता फिरूँ कि अपनी जिंदगी देखूँ ? बहुत कुढ़ कर बस इस बात पर दो चार हाथ लगा दिए। बहुत जी जला रही थी। मुँह सुजा—सुजा कर दिखा रही थी कि घर देर से क्यों लौटते हो। अरे बस एक दिन जरा—सा अपने दफ्तर वाली को चाय पिलाने ले गया, उसकी बदनामी न हो इसलिए जरा—सा केबिन में ले गया। इतनी—सी बात पर ये मेरी सात पुश्तों को कोस—कोस कर ताने दे रही है। भगवान क्यों बनाई तूने औरतजात।" ये औरत न होती तो दुनिया कितनी सुखी होती। आप दया दृष्टि से देख रहे हैं उस रोती झींकती औरत को? उसकी लाइफ में इस सीन के कई रीटेक हो चुके हैं। हर बार माफ करती है पति को। इस बार भी करेगी।" छोड़िये ! हटाइये !

आप भी विवाह संस्था की ये लफ्फाजी छोड़िये। शादी करके कोई भी मर्द सुखी नहीं हुआ। और औरत? वही तो है, इस शादी की जड़ में। काश! ये औरतजात न होती। ये औरतजात न होती, तो शादी क्यों होती? छोड़िये ! हटाइये !

संपर्क: प्रोफेसर, हिंदी विभाग, वर्धमान विश्वविद्यालय,
गुलाबबाग, वर्धमान 713104, पश्चिम बंगाल

डिजिटलधारी पुत्र का पत्र

विनोद कुमार विक्की

पूज्य पिताजी

घुटना स्पर्श!

सोशल मीडिया के आशीर्वाद से मैं यहाँ कुशल हूँ। देर रात तक आपका ऑनलाइन स्टेटस देखकर उम्मीद करता हूँ कि आप भी सकुशल होंगे। पिताजी जैसा कि आप जानते हैं कोरोना ने संपूर्ण राष्ट्र को आत्मनिर्भर बना दिया है। लोग इतने आत्मनिर्भर हो चुके हैं कि यदि ट्रेन बस बंद हो जाए तो भी हजारों किलोमीटर की यात्रा पैदल कर लेते हैं। ये और बात है कि प्राचीन काल में ऐसी यात्रा करने वालों को परदेशी तो वर्तमान में प्रवासी के रूप में जाना जाता है।

भले ही सरकारी कर्मचारियों का वेतन कट जाए या डीए न बढ़े, लेकिन टैक्स पूरा देने में वो सक्षम हो चुके हैं। स्कूल-कॉलेज में ताला लटका हो, पर संबंधित विद्यालय के प्रबंधक का एकाउंट हमेशा खुला हुआ रहता है। नेट पैक और आंखों की रोशनी खर्च कर घर बैठे बच्चों की उपस्थिति वाले आनलाइन क्लास के नाम पर सरस्वती बांटने वालों के लक्ष्मी आगमन पर रत्ती भर भी फर्क नहीं पड़ता है। स्कूल फीस में उल्लिखित बस किराया शुल्क से स्पष्ट हो गया है कि लॉकडाउन के दौरान प्राइवेट स्कूल की बंद पड़ी बस भी अब पेट्रोल पीने लगी है। ओह बातों— ही-बातों में मैं भी कहाँ-से-कहाँ जा रहा हूँ। दरअसल कहने का आशय यह है कि कोरोनाकाल में अब अपना भारत आत्मनिर्भर हो चुका है। आपको जानकार खुशी होगी कि मैंने होटल में जाकर खाना छोड़ दिया है। अब मैं आत्मनिर्भर हूँ इसलिए मैंने होटल जाने या दोस्तों से खाना मंगाने की बजाय स्वयं ऑनलाइन जोमैटो से ऑर्डर करना सीख लिया है। पिताजी आप तो मुझे हमेशा निकम्मा और नकारा समझ कर कोसते थे लेकिन माँ मुझे हमेशा आशीर्वाद देती रही है। माँ का आशीर्वाद अब फलीभूत हो रहा है उनके आशीर्वाद से इन दिनों मैं चार व्हाट्सएप समूह का एडमिन हूँ। फेसबुक पर भी मेरे पांच हजार मित्र हो गए हैं। अब बाद के मित्र मेरे फोलोअर कहलाएंगे। ट्विटर पर इंडियन पीएम से अमेरिकन प्रेसीडेंट तक को मैं फॉलो करने लगा हूँ।

आप मुझे आलसी कहा करते थे न! लेकिन आपको बता दूँ कि अब आपका पपलू काफी लेबोरियस हो गया है। अहले सुबह से देर रात तक इतनी मेहनत करता हूँ कि जियो एवं एयरटेल का दैनिक डेढ़ जीबी डाटा पूरा का पूरा प्रयोग कर लेता हूँ।

विशेष समाचार यह है कि ऑनलाइन क्लास जारी रखने के लिए मुझे एप्पल मोबाइल की आवश्यकता है। मेरा पुराना वाला मोबाइल फोन अब हँग होने लगा है।

वैसे भी चाइनीज सेट पिछले तीन वर्षों से उपयोग कर रहा हूँ। आपको पता ही है कि वेबसाइट से लेकर वेबसीरीज तक देखने का मेरा एक मात्र साधन मोबाइल ही है। कृपया आप एकाध लाख रुपये पेटीएम या गूगल पे कर दें ताकि मैं नया वाला एप्पल फोन खरीद सकूँ। फलस्वरूप कोरोना वैक्सीन आने तक मेरी ऑनलाइन पढ़ाई बाधित न हो और सायबर के भरोसे डिपेंड न रहकर स्वयं के मोबाइल पर आत्मनिर्भर रह सकूँ।

विशेष क्या लिखूँ फादर्स—डे के दिन आपकी और मदर्स डे के दिन मम्मी की बहुत याद आती

है। उस दिन एफबी पर आप लोगों की सेल्फी वाली तस्वीरें डालकर पुत्र धर्म निभा लेता हूँ। शेष अगले पत्र में। घर—मंदिर में सभी बड़े लोगों को मेरा प्रणाम वाला इमोजी तथा छोटे को दिल वाला इमोजी।

आपका डिजिटलधारी पुत्र

पपलू पासवान

पता— एफबी / ट्विटर गली,

ग्रामपोस्ट—इंस्टाग्राम

जिला—व्हाटसएप

प्रांत— सोशल मीडिया

पिन— थम्ब लॉक / फेसलॉक

संपर्क: महेश खूंट बाजार, खगड़िया, बिहार, मो. 7765954969

प्राचीन साहित्य के संदर्भ में हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि उस समय में राजा लोग तक साहित्य की रचना करते थे। 'नागानन्द' नाटक के लेखक वे ही सम्राट हर्ष थे जो सम्पत्ति—कर से बचने के लिए हर पाँच वर्ष बाद अपनी सारी सम्पत्ति प्रयाग के पण्डितों को बाँट देते थे। 'मृच्छकटिक' के लेखक वे ही राजा शूद्रक थे जिनके अस्तित्व के बारे में विद्वानों में काफी मतभेद है जिसका मुख्य कारण यह है कि उन्होंने नाटक की प्रस्तावना में अपनी मृत्यु का भी आँखों—देखा उल्लेख किया है जो कि किसी भी लेखक के लिए कठिन काम है। लेखक जो है वह पाठक (या आलोचक) की मृत्यु का तो उल्लेख कर सकता है पर अपनी मृत्यु का नहीं। और हाँ, तीनों शतकों के रचयिता वही राजा भर्तृहरि थे जिनकी पत्नी सुन्दर होने के साथ—साथ चरित्रहीन भी थी। बात भी ठीक थी, यदि सुन्दर नहीं होती तो चरित्रहीन कैसे होती? क्या आपने कभी कोई बदसूरत स्त्री भी चरित्रहीन देखी है? कम—से—कम, मेरे साथ तो ऐसा कभी नहीं हुआ। मैं तो जब भी किसी बदसूरत स्त्री के साथ समय गुजारने का अवसर पाता हूँ तभी पता नहीं कैसे मेरा चरित्र अपने—आप ऊँचा हो जाता है। मैं तो जानबूझ कर ऐसी स्त्रियों के साथ ज्यादा समय नहीं गुजारता क्योंकि कहीं चरित्र जरूरत से ज्यादा ऊँचा हो गया तो फिर वह नीचे कैसे आएगा? रवींद्रनाथ त्यागी। (हमारा प्राचीन साहित्य से)

मोहे खाकी वर्दी से डर लागे

वीना सिंह

वे बुरी तरह भागते हांफते—हांफते आये, पानी—पानी चिल्लाए, हमारी समझ में कुछ भी नहीं आ रहा था, बस दौड़ कर पानी ले आये। जल्दी से जब दो घूंट पानी हलक से उतरा तब मंगरू मामा कुछ कहने की हालत में आ पाये। मैंने पूछा मंगरू मामा आप इतना क्यों घबराए, इस तरह बेतहाशा भागने का कारण तो बतायें? अपनी बदहवास सांस को थोड़ा साधते हुए मंगरू मामा ने रुक—रुक कर बताया कि बगल में पुलिस आई है। भइया का बताई इ संसार मा हम अगर किसी से डरते हैं तो वह है पुलिस वाला। भूल से भी दूर—दराज से भी कोई पुलिस वाला हमें नजर आ जाता है तो हम ऐसे ही भागते हैं और जल्दी से कहीं लुक जाते हैं। उसके चले जाने की पूरी तसल्ली के बाद ही हमारी सांस—मैं—सांस आती है और तब हम बाहर आते हैं। एक बारगी शेर सामने आ जाए, सांप बिच्छू दिखायी पड़ जाए तो हम उतना नहीं डरते जितना पुलिस वाले से डर जाते हैं। शेर का क्या? एक बार में ही मार कर खा जायेगा। अंजरी—पंजरी भी ढूँढे नहीं मिलेगी, लेकिन पुलिस वाला न पूरी तरह मरने देगा न पूरी तरह जीने देगा। हमको हलकान करने की तरह—तरह की जुगत भिड़ायेगा। इनकी हां में हां मिलाओ तो मुश्किल और हां में हां न मिलाओ तो और भी मुश्किल। हमारी जेब ढीली कराने के अनेकों हथकंडे इनके पास हैं। मेरी समझ से तो होशियारी इसी में है कि इन डंडाधारियों से दूरी बनाकर ही रहें। इन पुलिस वालों के आगे तो बड़े—बड़ों की पोंक सरकती है फिर हम किस खेत की मूली? सच पूछो तो हमारी पुलिस वाले को देखते ही जान निकल जाती है धुकधुकी बढ़ जाती है कि कहीं तरेर कर उसने हमें देख लिया तो हम गये समझो। सीधा हवालात का ही रास्ता दिखा देगा। सच पूछो तो हमें मरने से उतना डर नहीं लगता जितना इन पुलिस वालों के सामने जीने से डर लगता है। इनके ओहदे और मनमानी का बखान तो फिल्मी गानों में तक है— सैंया भये कोतवाल अब डर काहे का।

लेकिन मंगरू मामा पुलिस तो हमारी सुरक्षा के लिए होती है भला उससे क्या डरना? बस खा गये गच्चा। बच्चा जो कभी—कभी होता नहीं है वह होता है और जो होता है वह नहीं होता है। काम धाम के साथ थोड़ी दुनियादारी भी सीख लिया करो जो जीने के लिए बहुत जरूरी है और समझदारी इसी में है कि पुलिस वालों से दूर ही रहो। मेरी बात गांठ बांध लो यह पुलिस वाले अपने बाप के भी नहीं होते।

मंगरू मामा की बात न समझने के अंदाज में जब मैंने खोपड़ी खुजलाई तब टहोका देते हुए उन्होंने बात विधिवत समझायी। देखो भइया— शेर और पुलिस में यही फर्क है शेर अपनों पर हमला नहीं करता पर यह पहले अपनों को ही दबोचते हैं। शेर सामने वाले को एक ही बार में दबाके, चबा के चला जाता है पर यह वर्दीधारी थोड़ा—थोड़ा रोज नोचते हैं। बिना बात के ही बात बनाते हैं और हमारी जी तोड़ मेहनत की कमाई का चढ़ावा लेकर ही मानते हैं फिर पान चबाते हैं और पौवा चढ़ाते हैं। पान कहीं और चबाते हैं और पीक हमारी पीठ पर मारते हैं। अगर कहीं भूल से भी पूछ दिया कि हे डंडाधारी भगवान यह किस बात का चढ़ावा ले रहे हो

तो हम पर फूल नहीं डंडा ही बरसायेंगे। यह मनचले हमसे पैसा झटककर पीकर सड़क पर ही थिरकते हैं और उधम काटते हैं, कभी-कभी तो नाली खंदक में गिर जाते हैं। हुंहु नाली खंदक में गिरें मेशी बला से, पर कहीं मर मरा जायें तो हमारी ही जान मुसीबत में डाल जाते हैं कि किसके पैसों से पीकर मरे हैं साहब। यानी न जीते चैन लेने देंगे न मर के।

चाहे सड़क हो या रेल, चाहें थाना हो या जेल, हर जगह इनका बोलवाला है। मनमानी इतनी कि झूठे पे रहम और सच्चे पे कहर बरसाते हैं। टिकट होते हुए भी हमें बेटिकट मानकर जेल पहुंचाते हैं। सड़क पर चलते हुए किसी की भी गर्दन दबोच सकते हैं। वारदात किसी ने की हो, हथकड़ी किसी और को लगा देते हैं। वाहवाही लूटने के लिए झूठे इन्काउंटर करवा देते हैं। इनके लिए इंसान की जान की कीमत मुर्गी की जान के बराबर है। कब किसकी मुंडी उमेठ दें कुछ कहा नहीं जा सकता। इनका न कोई दीन न ईमान। हमारी समझ से तो न इनसे दोस्ती अच्छी न दुश्मनी अच्छी।

तरह-तरह के किस्से सुनाते हुए मंगरू मामा की मूंछें फरफरा रही थीं। उनके चेहरे की भाव भंगिमा और स्वर बातचीत के लहजे के साथ बदल रहा था। कभी त्योंरी चढ़ जाती तो कभी आंखों में गुस्सा उभर आता, कभी आवाज कर्कश हो जाती तो कभी खांसी के ठूंसों से भर जाती। कभी ताव से उठ खड़े होते कभी उकड़ें सिर पकड़ कर बैठ जाते। वे हमें समझाते हुए बोले एक जान पहचान के पुलिस वाले थे। हमको भी अच्छे नजर आते थे। दुआ सलाम भी होती थी और मुस्कराकर जबाब भी देते थे। बाद में पता चला कि वे कवि भी थे। उनकी

कविताएं सुनना हमारी मजबूरी थी पर एक बार हम जरा जल्दी में थे सो उनकी कविता न सुनने का गुनाह कर बैठे। वे बुरा मान गये और हमें उठा कर हवालात पहुंचा दिये और फिर रात भर उनकी उल्टी-सीधी कविताएं झेलनी पड़ी। हम तो दुआ करते हैं कि दुश्मन के भी जीवन में ऐसी काली रात न आए।

अब भला बताओ बगल में चोरी हुई, चोर रात में ही माल मत्ता समेट कर नौ दो ग्यारह हो गये। चोर इतने दबे पांव आये कि मोहल्ले के कुत्ते भी न भौंक पाये। अब जब पुलिस आयी तो हम गांव वालों के डंडा कर रही कि जब चोर आये तब आप लोग क्या कर रहे थे? किसी ने भी खटपट क्यों नहीं सुनी? जरूर पड़ोसियों से नहीं बनती होगी उन्हीं की कारस्तानी होगी। चोरी हमारे पड़ोसी की हुई और घसीट कर थाने हम सब ले जाये गये और उनकी जेबें भारी करने के बाद ही जमानत पर छूटे। हम तो इन पुलिस वालों की मेहरबानियां इतनी झोले हैं कि अब फूंक-फूंक कर पांव रखते हैं। अब तो सामने लाश पड़ी हो तो हम घबरा के दूसरी सड़क पकड़ लेते हैं। भूल कर भी उधर नहीं देखते। रास्ते में चाहे जितना ऊंच-नीच होता दिखे हम देखकर भी नहीं देखते और कोई पुलिस वाला आता दिख जाए तो तुरन्त ही कट लेते हैं। इन बड़ी मूंछ और बड़े तोंद वाले भूतनुमा पुलिस से हमें जितना डर लगता है उतना भूत से भी हमें डर नहीं लगता। एक कहावत है कि "डर के आगे भूत भागते हैं"। पता नहीं भूत भागते हैं कि नहीं, पर हम जरूर इन बड़े तोंद वालों से डर कर भागते हैं, देखो ना अभी तक हांफ रहे हैं।

संपर्क: 38 ए महाराजा अग्रसेन नगर, सामने— एल डोरेडो मांटेसरी स्कूल
सीतापुर रोड़ लखनऊ, उ. प्र., पिन-226021, मो. 8005419950

मीडिल क्लास...

डॉ. रंजना जायसवाल

मीडिल क्लास...समाज का सबसे जाहिल और नकारा वर्ग। जिसकी जरूरत न समाज को होती है और न सरकार को। सही भी है जब देखो तब महंगाई का रोना रोने चले आते हो। अरे भाई! पेट्रोल और डीजल सैकड़ा पार कर गया तो क्या...इनकम टैक्स में छूट नहीं मिली तो क्या...छठा वेतन आयोग लागू नहीं हुआ तो क्या, बताओ! तुम खुद ही बताओ.. गिनती के चार प्रतिशत हो...मुट्ठी भर लोग और उम्मीदें बड़ी-बड़ी। बताओ क्यों करे सरकार तुम्हारी चिंता, तुम करते ही क्या हो उनके लिए.. पिछले साल बिना काम के अपने घर में काम करने वाले लोगों को तनखा दे दी तो क्या...एक दिन की तनखा महामारी के नाम पर दे दी तो क्या... धर्म-कर्म के नाम पर चंदा दे दिया तो क्या...तुम अपने आप को औरों से बराबरी करने लगे। टी.वी. के सामने सोफे पर बैठे-बैठे टीका-टिप्पणी करने के अलावा आज तक किया ही क्या है। सच -सच बताओ तुमने इस समाज के लिए आज तक किया ही क्या है, जब देखो हर महीने बिजली का बिल जमा करने खड़े हो जाते हो,साल पूरा होने तक इनकम टैक्स जमा करने के लिए जी हलकान करने लगते हो। कभी म्युचुअल फंड तो कभी, कभी सीजन सेल तो कभी पी एफ के लिए जोड़-तोड़ करने लगते हो। पोलियो ड्रॉप पिलाने तुम दर-दर भटको, तो कभी जनगणना के लिए तुम द्वारे-द्वारे जाओ, कभी चुनाव में ड्यूटी तो कभी मतगणना में नैतिकता का भी सारा ठेका तुम ही ने ले रखा, वो चार लोग जीवन भर दिखेंगे नहीं पर तुम उन चार लोगों से जीवन भर डरते रहोगे। इत्ती सी इज्जत की खातिर पूरे समाज में शरमाये-शरमाये फिरोगे, गंगा जी में डुबकी मार लोगे या लटक जाओगे पर मदद के लिए हाथ न फैला पाओगे।

आप न वोट बैंक हो और न फंड बैंक। आपको तो अपना ही रोना-रोने से फुर्सत नहीं। आप गए हो रैलियों में जिन्दाबाद-मुर्दाबाद करने... नहीं न... आप गए हो गर्मी की चिलचिलाती धूप में वोट डालने... नहीं न, फिर काहे की शिकायत। चुनाव आया तो बैठ गए चुप मार के बड़े दिनों बाद छुट्टी मिली है ...परिवार के साथ क्वालिटी टाइम बिताया जाए। चुनाव के दिन करते क्या हो देर तक सोना, बीबी के हाथों की गर्म-गर्म पकौड़ी और मेज पर टांग पसारे दिनभर टी वी के सामने बैठकर बोकरादी बतियाना, गला फाड़-फाड़ कर चिल्लाते संवादाताओं के एग्जिट पोल पर ऐसे बेबाकी से राय देना की बस लगता है कि इनकी हर सांस के साथ सरकार बनेगी या गिरेगी... हाँ तो भैया जो किये हो वही तो भुगतोगे। वैसे भी चार प्रतिशत हो क्या उखाड़ लोगे। अब तक चुप मार के बैठे थे आगे भी चुप मार के ही बैठो, क्योंकि तुम्हारा होना जाना कुछ नहीं है। न तुम्हें मुफ्त में सिलेंडर मिलेगा न तुम्हें मनरेगा से रोजगार मिलेगा, न चुनाव के समय साड़ी, पैसा और दारू मिलेगी और न मरने पर मुआवजा और न ही पेट्रोल पंप। रैलियों में शामिल होने के लिए तुम्हारे पास वक्त नहीं, राजनीतिक पार्टियों को चंदा देने की तुम्हारी औकात नहीं। सच पूछो तो तुम उस बाप की तीन संतानों में बीच वाली सन्तान की तरह हो, जो होता तो है, पर उसका होना न होना बराबर होता है। शुभ काम कर नहीं सकता अशुभ काम कर नहीं सकता पर गिनती में शामिल है। सीधी सी बात है भैया...आज तक तुम्हारा कुछ नहीं हुआ, आगे भी तुम्हारा कुछ भी न होगा।

संपर्क: लाल बाग कॉलोनी, छोटी बसही, मिर्जापुर, उत्तर प्रदेश, पिन कोड 231001, मो. 9415479796

आईना ही खराब है प्यारे!

एस.आनंद

मेरा अपना विचार है कि इस धराधाम पर जितने भी जीव-जंतु, पशु-पक्षी हैं उनमें सबसे तेजतर्रार, शक्तिशाली, अक्लमंद और दुष्ट प्राणी है आदमी, जो विकट खुदगर्ज होने के साथ-साथ उदार भी है। वह कानून तो बनाता है मगर उसकी सीमा में बंधकर रहना नहीं चाहता या इसमें अपनी तौहीन समझता है। यही कारण है कि उसके द्वारा विकसित समाज में आशातीत शान्ति नहीं रह पाती और आये दिन हिंसा, डकैती, बलात्कार, धोखाधड़ी, अपहरण और न जाने कैसे-कैसे अपराध होते हम देखते रहते हैं और पूछते रहते हैं कि काश! तू आदमी होकर भी आदमी क्यों नहीं रहता? क्यों नहीं, तुम्हारे कारनामे किसी शायर की निम्न पंक्तियों को जीवन्त एवं उजागर करते हैं...?

आदमी तू भी है, आदमी मैं भी हूँ
यूँ तो हर आदमी, आदमी है मगर
आदमी, आदमी फिर भी बेकार है
आदमी जब नहीं आदमी के लिए!

उदाहरण के तौर पर देखा जा सकता है कि किसी बोर्ड पर स्पष्ट और मोटे अक्षरों में लिखा होता है कि यह आम रास्ता नहीं है मगर अपने देश का आदमी या औरत पढ़ा-लिखा होने के बावजूद उसी रास्ते से गुजरेगा। किसी दीवाल पर लिखा होता है कि कृपया यहां गन्दगी न करें, किन्तु आदमी वहीं सारा कूड़ा-कचरा फेंक देता है। स्टेशनों पर लिखा होता है कि यहां न थूकें किन्तु हम जान-बूझकर वहीं थूकते हैं। यह अंधापन आदमी के सिवाय कोई दूसरा प्राणी नहीं दर्शा सकता। यदि किसी पत्र-पत्रिका के किसी कोने छपा हो कि इसे न पढ़ें तो आदमी उसे जरूर पढ़ना चाहेगा चाहे उसके लिए उसे जो भी कष्ट उठाना पड़े। यों तो प्रायः सभी जानते हैं कि टैक्स चोरी अपराध है मगर टैक्स चोरी करना लगता है कि हमारा पैदाइशी हक है। आयकर अदा करना हम अपनी बदनामी समझते हैं, किन्तु सरकार जब छपा मारती है तो फिर सिर पीटने के सिवा हमारे पास कोई चारा ही नहीं बचता।

अपनी लोकप्रिय सरकार ने खाद्य पदार्थों को खुला न रखने की हिदायत दे रखी है मगर हम बाजारों में खुले खाद्य पदार्थों की बिक्री होते रोज ही देखते हैं साथ-ही लोगों को खाते और बीमार होते भी देखते हैं। आये दिन अखबारों में जहरीली शराब पीने से लोगों के खुदागंज जाने के समाचार पढ़ते ही रहते हैं।

एक पल के लिए ऐसा न करने का संकल्प भी लेते हैं मगर बीत गयी सो बात गई की उक्ति को साकार करने में जुट जाते हैं। आज अपने मुल्क में मिलावट का आलम यह है कि कोई पदार्थ अपने मूल स्वरूप में रह ही नहीं गया है। सभी ने अपनी मौलिकता जैसे त्याग दी है।

सच भी है, जब आदमी खुद मौलिक नहीं रह गया है तो वस्तुएं कहां से मौलिक होंगी? लाभालाभः प्रजायते। यानी लाभ लोभ को बढ़ाता है और हम लोभी होना कुछ ज्यादा ही पसंद करते हैं। हमारे एक लंगोटिया यार हैं मिस्टर गणेशीलाल। खाद्य निरीक्षक हैं बेचारे। एक दिन एक दुकान के सामने उन्हें उलटी करते देख मुझे घोर आश्चर्य हुआ। मेरे पूछने पर कहने लगे-आनंद भाई! अभी

थोड़ी देर पहले मैंने इसी दुकान पर नाश्ता किया है, शायद यही दुख दे रहा है। मैंने कहा—आप खाद्य निरीक्षक हैं, पकड़ कर दुकानदार पर मुकदमा क्यों नहीं चलाते, इसे सजा क्यों नहीं दिलवाते? वे बोले—छोड़ो यार! बेचारा गरीब है, बाल-बच्चों वाला है फिर हर माह बिना नागा किए मेरी बंधी रकम पहुंचा देता है इसलिए इस पर हाथ डालना नैतिकता को मुंह चिढ़ाना होगा, मानवीयता का अपमान करना होगा। यह सुनकर मेरे मन में आया कि मैं उन्हें भाई माणिक वर्मा की निम्न पंक्तियों सुना दूं और मैंने सुना भी दी—

सांस लेना अजाब है प्यारे,
ये भी क्या इन्क्लाब है प्यारे
कौन कहता है आप अंधे हैं
आईना ही खराब है प्यारे!

कुछ दिनों पहले पुलिस ने एक ऐसे आदमी को पकड़ा जो आदमी की लाशों को खाता था। कब्र से निकालकर वह सैकड़ों मुर्दों को हजम कर चुका था। आप सोचिए, है न आदमी सर्वाधिक खतरनाक और घिनौना? वह निषिद्ध कामों को करने में अपनी बहादुरी समझता है। इसी आदमी ने अभी हाल के दिनों में एक और विकास कार्य किया है, वह है मानव बम। पहले मानव, मानव था अब वह बम बन गया है। क्या यह बम बनाते-बनाते विकास की चरम सीमा नहीं है? कुछ लोगों की अपनी धारणा है कि कानून बनाए ही जाते हैं तोड़ने के लिए! उदाहरण के लिए देश में चल रहे किसान आन्दोलन को ही देख लीजिए। सरकार किसानों के भले के लिए, उनकी मुक्ति के लिए किसान बिल लेकर आयी और बताया कि यह बिल किसानों के लिए

कल्याणकारी है, उनके लिए हितकारी है और लाभ देने वाला है मगर यह बिल किसानों को पच नहीं रहा है कारण कि विपक्षी दलों को सरकार की साफगोई और साख फूटी आंखों सुहा नहीं रही है। बस उसने किसानों को गुमराह करने का बीड़ा उठाया और काफी हद तक अभी तक सफल भी हैं। किसान कानून वापस लेने की मांग पर अडिग हैं और विपक्षी दल इसे अन्नदाताओं का अपमान बता रहा है।

यह करिश्मा देखकर सत्ता पक्ष ठगा—सा महसूस कर रहा है। उसे लगता है कि नेकी का बदला बदी। वह यही सोच रहा है कि—

वह तपाक से आया और छल गया
हवन करते हाथ मेरा जल गया।

एक बात मेरी मोटी खोपड़ी में नहीं घुस रही है कि किसानों को अन्नदाता क्यों कहा जाता है? क्या वे मुफ्त में अनाज बांटते हैं या जरूरतमंदों को दान देते हैं? दाता माने तो दानी होता है जैसे कर्ण, हरिश्चंद्र या युधिष्ठिर। ये किसान तो अपनी फसल या अनाज बेचते हैं और उसकी कीमत वसूलते हैं, फिर इन्हें अन्नदाता कहने का औचित्य क्या है? कोई मुझे समझा दे तो हो सकता है मेरी अक्ल पर पड़ा पर्दा हट जाये। आजादी का मतलब सब कुछ करने की आजादी मानने वाले ऐसे लोगों की संख्या अपने मुल्क में कम नहीं है। पता नहीं आदमी को अक्ल कब आयेगी? आयेगी भी या नहीं! सम्प्रति तो यही स्थिति है अपने देश की, बकौल एक शायर—

चिथड़े-चिथड़े लिबास बाकी है
और कितना विकास बाकी है
सांप अमृत उगलने वाले हैं
तेरा होशो-हवास बाकी है।

संपर्क: 1/17, एस.एस. रोड, राजेन्द्रनगर इन्क्लेव, रिसड़ा,
प्रभातनगर, हुगली-712249 (पं. बंगाल) 9831032815

पथ के पतन की पराकाष्ठा

आशीष दशोत्तर

कुछ पथ बड़े ढीठ होते हैं। पदचिह्न उभरने ही नहीं देते। निष्ठुर, निरापद। किसी का कुछ ध्यान ही नहीं। किसी के हित से न कोई सरोकार।

ऐसे पथ पर चलने वालों की चप्पलें घिस जाती हैं मगर उनके चरणचिह्न कहीं नजर नहीं आते। यह ढिठाई कर्तव्य परायण लोगों के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा होती है। एक पथ का ढीठ होना कई अरमानों का अंत कर देता है। कितनी ही आशाओं पर तुशारापात करता है। अनेक संभावनाओं को समाप्त कर देता है। ऐसे पथ खुद की नजरों में निष्कलंक होते हैं मगर जिनके दिल पर गुजरती है उनकी नजर में सबसे कलंकित।

नैतिक पतन की परकाष्ठा को पार कर चुके ऐसे पथ उन परिवर्तनशील पथों से कुछ सीख लेना भी नहीं चाहते, जो पल-पल में परिवर्तित होने की चाह रखते हैं। ये परिवर्तित होती प्रकृति से भी कुछ नहीं सीखते। बदलाव की अवधारणा बिल्कुल भी नहीं समझते। इन्हें यथास्थिति में रहना भाता है।

बारम्बार निर्माण के हथौड़े के प्रहार से इन्हें चेताया जाता है कि इतना सख्त होना अपने महत्व को कम करना है। पल-पल बदलते रहना जीवन में उल्लास भरना है। मगर इन पर कोई असर नहीं होता। एक बार बन जाने के बाद ये पथ कभी उखड़ते ही नहीं। उखड़ते नहीं तो बदलने का प्रश्न ही नहीं उठता।

सड़क निर्माता की नजर में ऐसे पथ सबसे निष्ठुर हुआ करते हैं। ठेकेदार कभी ऐसे पथ से गुजरने की गलती नहीं करते। सुबह सवेरे ऐसे पथ से गुजरना पड़ जाए तो समझो दिन भर बेकार। ऐसे पथ से एक धेले की उम्मीद नहीं की जा सकती। ये घर के उस निखट्टू सदस्य की तरह होते हैं जिससे किसी मौसम में किसी काम की उम्मीद नहीं की जा सकती। 'पथभ्रष्ट' लोगों के निस्वार्थ जीवन को 'भ्रष्ट' करने के जिम्मेदार यही 'पथ' होते हैं।

सर्वकालिक सक्रिय पथ सदैव सैकड़ों संभावनाओं वाले होते हैं। जरा सी बारिश होते ही उखड़ जाते हैं। तेज गर्मी में पिघल जाते हैं। सर्दी में इस चतुराई से सिकुड़ते हैं कि किसी को खबर ही नहीं होती और इनमें दरारें पड़ जाती हैं। ये पथ संभावनाओं का अनंत द्वार खोलते हैं। प्रत्यक्ष रूप से ठेकेदार और परोक्ष रूप से न जाने कितने ही प्राणियों की उदरपूर्ति ये पथ करते हैं। इन पथों पर ठेकेदार के औजार हमेशा पड़े मिलते हैं। ठेकेदार इस मार्ग से गुजरने वालों को धन्य समझता है, जिनके चरणों से यह पथ निरंतर परिवर्तनशील रहते हैं।

व्यवस्था के गतिमान रहने के लिए पथ का परिवर्तनशील होना बहुत आवश्यक है। लचीला स्वभाव रखने वाले पथ सभी के लाड़के होते हैं। ऐसे ही पथों से गुजरने वाले पथिक होने के नाते आपका यह कर्तव्य है कि आप पग-पग पर ठोकर मारते हुए चलें। पता नहीं आपकी एक ठोकर से कौन, कब ठाकुर बन जाए!

संपर्क: 12/2, कोमल नगर, बरवड़ रोड, रतलाम (म.प्र.), मो. 987084966

जनसंख्या नियंत्रण

सजल प्रसाद

ब्रेकिंग न्यूज !! टीवी स्क्रीन पर न्यूज एंकर गला फाड़ कर बता रहा था आज और अभी की ब्रेकिंग न्यूज ! ... कान लगाकर सुनिए जो जहाँ हैं सब अपना-अपना टीवी सेट खोल लें या एंड्रॉयड मोबाइल फोन पर हमारे न्यूज चैनल का एप्प खोल लें!

रात नौ बजे प्राइम टाइम में ब्रेकिंग न्यूज! अचानक एंकर को टीवी स्क्रीन के एक कोने में सरका दिया गया था, पर वह चिल्ला-चिल्ला कर बता रहा था और स्क्रीन पर लाल रंग के बैकग्राउंड पर काले रंग के मोटे-मोटे अक्षरों में उभर आया था— “जनसंख्या नियंत्रण का नया नुस्खा !” आयां! यह नया नुस्खा क्या है रे भाई! यानी रहस्य अभी भी बरकरार रखा गया था। न्यूज देख-सुन रहे सब सोचने लगे।

“यह तो सबको मालूम है कि जनसंख्या नियंत्रण कैसे किया जा सकता है...क्या-क्या उपाय किये जा सकते हैं .. सौ बात की एक बात पुरुषों की नसबंदी और स्त्रियों का बंध्याकरण ... सिम्पली यही तो है उपाय ”—पति ने अपनी पत्नी से कहा।

“ काहे जी ! और भी तो उपाय है जो आप मुझ पर आजमा रहे हैं ”—पत्नी तुनक कर बोली। पति सकपकाया। पर, पत्नी तो शुरू हो गई थी।

“दस साल से सरकारी अस्पताल से ओरल पिल्स ला-लाकर मुझे खिला रहे हैं ... जिस कारण मेरी सेहत भी खराब हो जाती है...कब से आपको कह रही हूँ कि चाहे आप अपना नसबंदी करवा लीजिए या मेरा बंध्याकरण का ऑपरेशन करा दीजिए”— पत्नी को जैसे मौका मिल गया था और वह न्यूज एंकर से भी तेज आवाज में अपने पति को आड़े हाथों ले रही थी। इधर, पति की बोलती बंद हो गई थी और अपराधबोध भी उसे होने लगा था।

कल की ही तो बात है। जब वह सरकारी अस्पताल गया था ओरल पिल्स लाने। पुराने कम्पाउंडर ने उसे फिर समझाया था— “ अरे भाई ! दस साल से आप यह ओरल पिल्स बिना नागा हर महीने ले जा रहे हैं ... खुद ही नसबंदी क्यों नहीं करा लेते ... हमेशा के लिए इंजेंट से मुक्ति।”

और, उसने फिर अपनी आशंका व्यक्त की थी — “नसबंदी कराने से कहीं ताकत न खत्म हो जाए!”

अनुभवी कम्पाउंडर ने हिकारत भरी नजरों से उसे घूरा था और उसने दस साल पहले कही बात फिर दोहरायी थी — “ नसबंदी कराने से मर्द की ताकत कम नहीं होती।”

पर, वह तो अपने अल्पज्ञानी मित्रों की बात को ही मन में गाँठ बांधकर बैठा चुका था। इसलिए उसने कम्पाउंडर की बात को अनसुनी करते हुए पत्नी के लिए महीने भर के ओरल पिल्स का डिब्बा उठाया और घर की तरफ रुख कर गया था।

बगल के फ्लैट में किराये में रह रहे तीन युवकों के बीच भी इसी ब्रेकिंग न्यूज — ‘जनसंख्या नियंत्रण का नया नुस्खा’— पर चर्चा चल रही थी। अपनी आई टी कम्पनी की ओर से चीन में में दो साल डेपुटेशन पर रहे एक आई टी प्रोफेशनल युवक ने कहा— “अरे यार! ये अपने देश की

सरकार क्या नुस्खा बतावेगी, नुस्खा खोजने और उसपर कड़ाई से पालन करने का निर्णय लेने की ताकत भी हो तब न!"

"ठीक कहते हो यार ! ... केन्द्र और राज्यों की सरकार तो पॉलिटिक्स और वोट बैंक के कारण सुरसा के मुँह की तरह बढ़ती जनसंख्या को कंट्रोल करने का मामला ठंडे बस्ते में डाल देती है।"—आईआईएम से एमबीए करने बाद एक मैनेजमेंट कम्पनी में सीनियर मैनेजर पद पर काम कर रहे दूसरे हैंडसम युवक ने कहा।

तीसरा युवक, जो किसी बैंक का पीओ था, ने कहा— "सरकारों के पास इच्छाशक्ति का अभाव है। सभी दलों की सरकारें जनसंख्या विस्फोट के मुद्दे को छेड़ना नहीं चाहती है। सभी पार्टियों को लगता है कि एक खास समुदाय इस मामले में बिदक जाएगा और नाराज हो जाएगा।" कमरे में बैठे अन्य दोनों मित्रों ने भी हामी में सर हिलाया।

पहले आई टी प्रोफेशनल युवक ने अपने चीन प्रवास का अनुभव सुनाना शुरू किया—"बीजिंग के निकट एक गाँव में चीन की औसत राष्ट्रीय जनसंख्या वृद्धि दर से ज्यादा आबादी बढ़ रही थी। चिंतित चीन सरकार ने इसी बात पर एक हाई लेबल कमिटी बनाई और 48 घंटे के अंदर इस फैक्ट फाइंडिंग कमिटी को रिपोर्ट देने का निर्देश दिया।"

"उसके बाद क्या हुआ?" दोनों मित्रों ने एक साथ रिएक्ट किया।

"उस कमिटी ने पाया कि रेलवे ट्रैक के किनारे बसे उस चीनी गाँव में रात में हर आधे घंटे में गुड्स ट्रेन के धड़धड़ाते हुए गुजरने के कारण लोगों की नींद टूट जाती थी और नतीजतन शिशु जन्म-दर में बेतहाशा वृद्धि हो रही थी।"—आईटी प्रोफेशनल ने कहा।

"फिर क्या हुआ?"— बैंक के पीओ ने पूछा।

"चीन की सरकार ने उस गाँव को ही रेलवे ट्रैक से 10 किमी दूर खेतों के बीच नए सिरे से शिफ्ट कर दिया। उसके बाद से ही उस गाँव के लोग रात में अब घोड़ा बेचकर सोते हैं। फलस्वरूप शिशु जन्म-दर में जबरदस्त गिरावट दर्ज की गई।"—चीन प्रवास का यह किस्सा सुनाने के बाद आईटी प्रोफेशनल ने लंबी जम्हाई ली।

बेड पर पसरते हुए उसने आगे कहा— "चीन की सरकार ने आबादी कंट्रोल करने के लिए कठोर कानून बनाया और सख्ती से उसे लागू भी किया। वैसा भारत सरकार नहीं कर पाई है अभी तक।"

...उधर, टीवी स्क्रीन पर ब्रेकिंग न्यूज चालू था। एंकर हजारों बार 'जनसंख्या नियंत्रण का नया नुस्खा' दोहरा कर थक चुका था। अंत में, उसने वह नुस्खा बता ही दिया— "दो से ज्यादा बच्चे वाले अब पंचायत चुनाव नहीं लड़ पाएंगे।" सरकार के इस फैसले को ही नया नुस्खा बताया जा रहा था। अबतक नगर निकाय के चुनाव में यह कानून लागू था। किंतु, अब पंचायत चुनाव में यही कानून लागू कर सरकार खुद अपनी पीठ थपथपाने में लगी है। सरकार जैसे मान रही है कि इस कानून से पॉपुलेशन कंट्रोल में खूब मदद मिलेगी।

सरकार का सोचना भी शायद गलत नहीं है। गाँव के युवकों में सियासत करने और पॉलिटिक्स में ही अपना कैरियर बनाने का जो ट्रेंड चला है और जिस तरह वार्ड मेंबर के एक पद के विरुद्ध भी दर्जनों उम्मीदवार मैदान में ताल ठोकने के लिए उतर जाते हैं, उससे सरकार का यह नया कानून ठीक ही लगता है। कम-से-कम इस बहाने ही सही, ग्रामीण युवक दो से ज्यादा बच्चे पैदा तो नहीं करेंगे !

दूसरी तरफ, पंचायत भवन में भी मुखिया,

सरपंच, पंचायत समिति सदस्य आदि टीवी के सामने बैठकर सरकार के इस नए कानून का विरोध कर रहे थे।

मुखिया ने कहा— “यह तो वही कहावत हो गई—‘गरीब की जोरू, सबकी भौजाई’। सरकार ने घोर अन्याय किया है। सरकार ने कमजोर को दबाने की साजिश रची है।”

सरपंच ने भी सुर में सुर मिलाते हुए कहा— “सरकार पहले लोकसभा और विधान सभा के चुनावों में भी दो से ज्यादा बच्चों वाले पॉलिटिशियन को उम्मीदवार बनने के लिए अयोग्य घोषित करने वाला कानून लागू करे। उसके बाद पंचायत चुनाव के लिए लागू करे।”

महिलाओं के लिए इस वर्ष आरक्षित कर दी गई सीट पर चुनकर आई निरक्षर किन्तु, कबीर सरीखे व्यावहारिक ज्ञान से परिपूरित महिला प्रमुख ने कहा— “जनसंख्या विस्फोट को अगर रोकना है तो पंचायत से लेकर नगर निकाय, विधान सभा और लोक सभा तक यह कानून बने कि जो बंदा होगा, यानी जो पूर्व राष्ट्रपति भारतरत्न एपीजे अब्दुल कलाम एवं पूर्व प्रधानमंत्री भारतरत्न अटल बिहारी वाजपेयी की तरह कुंवारा होगा वही चुनाव में उम्मीदवार बनने के योग्य होगा।”

मुखिया जी ने तीव्र प्रतिक्रिया दी— “महिलाओं के लिए भी आरक्षित या अनारक्षित पदों के लिए होने वाले चुनाव में ‘बहन जी’ की तरह ही कुंवारी महिलाओं को उम्मीदवार के योग्य माना जाय।” यह सुनकर अन्य पुरुष जनप्रतिनिधियों ने भी समर्थन में अपना सिर हिलाया।

सरपंच ने दलील दी— “कुंवारा पुरुष या कुंवारी महिला होने से सियासत भी साफ—सुथरी हो सकती है। राजनीति में परिवारवाद का चलन खत्म होगा। पारिवारिक विरासत वाले दलों का

सम्प्रति: एसोसिएट प्रोफेसर व अध्यक्ष, हिंदी

सफाया होगा। राजा के बाद राजकुमारों को गद्दी सौंपने की राजतंत्रीय व्यवस्था खत्म होगी। और, जब सांसद, विधायक, मुखिया, सरपंच आदि सभी जनप्रतिनिधि कुंवारे होंगे तो जाहिर है उनका अपना कोई परिवार नहीं होगा तो वे भ्रष्टाचार में भी लिप्त नहीं होंगे।”

महिला प्रमुख ने अंत में यही कहा— “अपवादस्वरूप एकाध जनप्रतिनिधि भ्रष्टाचारी हो भी सकता/सकती है।” यह बात सुनकर सभी एक—दूसरे की तरफ ताकने लगे, जैसे दूढ़ रहे हों कि हममें कौन हो सकता है ऐसा अपवाद।

बात चल पड़ी थी। टीवी पर थोड़ी देर पहले आई ब्रेकिंग न्यूज पर डिबेट शुरू था। सभी दलों के प्रवक्ता, सोशल एक्टिविस्ट, वरिष्ठ पत्रकार, धर्मगुरु सभी न्यूज चैनलों पर बारी-बारी पहुँच कर अपनी दलीलें पेश कर रहे थे। विषय स्पष्ट था। जनसंख्या नियंत्रण के नुस्खे क्या-क्या हो सकते हैं? चुनाव में उम्मीदवारी के लिए अब एक कदम आगे बढ़कर कहा जा रहा था कि कुंवारा/कुंवारी होना सफिशिएंट नहीं, बल्कि उम्मीदवार वही हो जो नसबंदी/बंध्याकरण का सरकारी सर्टिफिकेट दिखाए। किसी भी सरकारी और प्राइवेट सेक्टर की कंपनियों में भी नौकरी उसी युवक/युवती को मिले जो पदानुरूप योग्यता के अलावा नसबंदी/बंध्याकरण का सरकारी सर्टिफिकेट दिखाए। डिबेट में तर्क दिया जा रहा था कि दो से ज्यादा बच्चों वालों को किसी भी सरकारी योजना का लाभ नहीं दिया जाय। लेकिन, डिबेट के अंत में सभी राजनीतिक दलों के प्रवक्ताओं की बातों से यही लब्बोलुआब समझ में आया कि वोटबैंक की इस धींगामुश्ती वाली लोकतंत्रीय व्यवस्था में ‘बिल्ली के गले में कौन घंटी बाँधे!’

विभाग, मारवाड़ी कॉलेज, किशनगंज (बिहार)

आपदा है तो अवसर है

शिखरचंद जैन

अपने प्रधान जी भले ही आपदा में अवसर को नई बात मानते हों मगर हमारे देश में तो यह पुरानी रीत है। लेकिन कभी-कभी अजीब घालमेल हो जाता है। जैसे एक प्रमुख राजनीतिक दल के अध्यक्ष जी ने दल पर आपदा आने पर या शायद खुद ही दल को आपदा के दलदल में डाल कर अवसर ले लिया। हमारे यहां बांग्ला भाषा में अवसर रिटायरमेंट (अवकाश) को कहते हैं। लेकिन उन्हें हिंदी वाला अवसर दिया गया तो उन्होंने दल के लिये ही आपदा पैदा कर दी। यानी आपदा और अवसर का संबंध बहुत पुराना और सॉलिड है। लेकिन इसमें पूर्व अध्यक्ष जी का कोई दोष नहीं।

हम भारतीय आपदाओं में अवसर सदा से ढूंढते आए हैं।

अस्पतालों को ही देखिए। जिस कोरोना वायरस को रोकने, टोकने या ठोकने का उनके पास कोई हथियार और औजार नहीं, उसको ठिकाने लगाने के नाम पर वे मरीजों के परिजनों से लाखों वसूलते रहे। कई मामलों में तो परिजनों को इस आपदा का पता भी अवसर बीतने के बाद चला कि उनके मरीज को ठिकाने लगा दिया गया।

भगवान भरोसे चलते हमारे देश में आपदा की सप्लाई इस मात्रा में है कि अवसर अपने आप हाथ आ जाते हैं। आपदा की बहती गंगा में हर कोई हाथ धो रहा है तो हाथ धुलाने वाले सैनिटाइजर कारोबारी क्यों पीछे रहते? सादा, नीले और गुलाबी रंग के केमिकलों को अवसर पाते ही सैनिटाइजर का नाम दे डाला। जिसे जैसा अवसर मिला वैसी टोपी पहनाई। अच्छे अवसर वाला 700 रु. में 80 मिली बेच रहा था तो कमजोर अवसर वालों ने 700 रु. का 5 लीटर तक बेचा। अगर कोई उनकी दोधारी तलवार की चपेट में आकर आपदा में फंसेगा और केमिकल से चमड़ी और दमड़ी का नुकसान करवा बैठेगा तो वे किसी मौका ए वारदात पर आने वाले सरकारी अधिकारी को सर-सर कहने का अवसर ढूंढ लेंगे।

तमाम शिकायत के बावजूद कार्यवाही न होने पर आप ज्यादा क्रांतिकारी बनते हुए अफसरों को टोकने का अवसर ढूंढेंगे तो वे आपको यह कहकर रोकेंगे कि तुम्हारी हिम्मत कैसे हुई हमसे क्वेश्चन आस्क करने की? हम कानून हैं। हमारे हाथों में कोरोना रोधी दस्ताने हैं। अभी आपदा में ऐसा डालेंगे कि दस्त आने लगेंगे। ज्यादा चूँ-चपड़ की तो ऐसे क्वारंटाइन सेंटर में ले जाकर पटकेंगे कि मैया, मौसी, दादी भौजी सब याद आ जाएगी।

मास्क की जब बात चली गई तो वो अवसर भी याद होगा, जब आपदा नई-नई ही थी। तब ये 300 में ऑनलाइन बुक करने पड़े थे। इसमें भी बड़ी उलझन थी। 99 का फेर

तो पुराने जमाने में पड़ता था। लोग 95 के फेर में पड़ गए। 95 रुपये का एक आदमी 300 में ला रहा था, दूसरा 250 का और तीसरा 150 का। आज ये 50 रुपये में भी ठीक से नहीं बिक रहे।

जब देश के प्रधान ने खुलकर कह दिया कि आपदा में अवसर ढूँढ़िये तो मैंगो पब्लिक यानी आम जनता की क्या गलती? 250 के पी.पी.ई किट का 1500 चार्ज कर के अस्पतालों ने आपको जो वी आई पी वाली फीलिंग करवाई है उसके बारे में सोचिए जरा। क्या इज्जत रह जाती कि कोरोना के इलाज लिए अस्पताल गए तो ओपीडी में पुरजा लिखा लिए, 500 की दवा दारु लिए, सेल्फ आईजोलेशन में रहे, गर्म पानी व काढ़ा पिया और ठीक हो गए। लानत है कोरोना वायरस की ग्रेविटी और सिन्सीरियटी पर, अगर ऐसा हो जाए। दुनिया को किस मुंह से कहते कि कोरोना का इलाज आप विदिन 1000 में करवा कर आ गए और अब हैल्दी और वेल्दी हैं। भाई आपदा का टाइम है। या तो हैल्दी रहिये या फिर वेल्दी।

किराने वाले को मत कोसिये। वह बेचारा तो बार्टर सिस्टम लागू कर रहा है। इधर का लिया उधर को दिया। खुद लुटलुटा कर आया तो उसकी पूर्ति आप को लूट कर कर रहा है। इसलिए 28 का आटा 38 में आपको साटा, क्योंकि उसे दूसरों के अवसर ने काटा।

कोरोना का लिंक सिर्फ किराना से नहीं है। हम सब से हैं। अपने कर्म क्षेत्र से जन्म क्षेत्र को पलायन कर रहे मजदूरों को आपदा में देखकर

ट्रक बस और टैक्सी चालकों ने भी अपने लिए अवसर तलाश लिए। उधर जनता से चंदा इकट्ठा करने वाली संस्थाओं ने अवसर तलाशते हुए जो राशन बांटा नहीं, उसका विज्ञापन कर दिया।

आपदा में अवसर ढूँढ़ना तो इंसान की रग-रग में बसा है प्रधान जी। आप क्यों मुफ्त का ज्ञान बांट रहे हैं। क्या छोटा, क्या बड़ा। साबुन बनाने वाली एक बड़ी कंपनी ने उठाया था स्टेप सबसे कड़ा। पहले तीन पर एक था फ्री लेकिन बार-बार हाथ धोने का अवसर आया तो उसने आपदा कर दी खड़ी। फ्री में लगाई ग्राहक को छड़ी। एयरलाइंस वाले कब तक हवा में उड़ते? वे भी हकीकत की जमीन चूम चुके थे। उनके किराए आसमान में उड़ रहे थे और विमान जमीन पर घिसट रहे थे।

विपक्ष ने जनता और सरकार को आपदा में देखा तो अपने प्रमोशन का अवसर ढूँढ़ निकाला। पूर्व अध्यक्ष जी तरह-तरह के वीडियो जारी करके अपनी छवि चमकाने में लग गए। ये बात अलग है कि इस चक्कर में उनकी गुलाबी आभा में इन दिनों साँवलापन और गालों पर डिंपल की बजाए बचपन की गलतियों वाले गड्ढे नजर आ रहे हैं। खैर गालों की बात छोड़िये, उनका तो दल ही गड्ढे में नजर आ रहा है। बस आप तो यह समझ लीजिये कि आपदा है तो अवसर है।

अब किसानों की आपदा में विपक्ष और खालिस्तानियों को अवसर दिख रहा है तो कहीं राज्य सरकारों की आपदा में सत्ताधारियों को। हर तरफ आपदा है। इसलिए अवसर भी इफरात में हैं।

संपर्क: 13, डॉ. पी.के. बनर्जी रोड, नियर मल्लिक फाटक लेन जेल गेट
जैन समाज बिल्डिंग, तीसरा तल्ला, हावड़ा— 711101, मो. 9836067535

कतई न बनें आलोचक

आशुतोष सिंह

तो आप आलोचक बनना चाहते हैं।

क्या सचमुच आप आलोचक बनना चाहते हैं?

हिंदी में कैरियर बनाने के और भी तरीके उपलब्ध हैं। कोई और तरीका भी अपनाया जा सकता है, मसलन ट्यूशन, कोचिंग, मुद्रण का काम, इवेंट मैनेजमेंट वगैरह—वगैरह।

जी हाँ, भाषा—साहित्य के क्षेत्र में भी इवेंट मैनेजमेंट का विकल्प है। यह आय का एक अच्छा स्रोत भी है। खैर, अगर आप आलोचना के क्षेत्र में जाना चाहते हैं तो यह भी फलप्रसू फील्ड है।

हाँ, क्या आप डायरेक्ट एंट्री से जाना चाहते हैं? या लैटरल एंट्री के लिए अर्हता प्राप्त हैं? मेहनत दोनों में लगती है, डायरेक्ट वालों को एंट्री के बाद मेहनत करनी होती है जबकि लैटरल वालों को अनुभव का लाभ मिल जाता है। खर्च भी दोनों ही स्थितियों में करना होता है। कमाल यह भी है कि लोग मेहनत करने के बावजूद आपको निठल्ला और खर्च करने के बावजूद आपकी आर्थिक क्षमता के अनुसार कंजूस या फटेहाल समझ सकते हैं। जरूरी नहीं कि ऐसा होता ही है, पर हो सकता है।

मेरी बात समझ में नहीं आ रही है? ठीक। शुरू से शुरू करता हूँ।

गंभीरता पूर्वक सही हिंदी पढ़ाने वाले बहुत कम हैं। आपको विद्यालयों, महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों में हिंदी के ऐसे भी शिक्षक, प्राध्यापक, प्रोफेसर मिल जाएंगे जिनकी हिंदी बाढ़ग्रस्त इलाके की नदी के किनारों की तरह क्षतिग्रस्त मिल सकती है। ऐसे में अगर शिक्षार्थी के माता—पिता सामान्य सही हिंदी जानने वाले हों, या हिंदी न जानते हों लेकिन आपका यश उन तक पहुंचे तो बहुत कम समय में आप अपनी एक पहचान बना सकते हैं। ट्यूशन पढ़ाएँ या अपना कोचिंग खोलें या किसी दूसरे कोचिंग संस्थान में पढ़ाएँ, एक बार आपकी पहचान बन गई तो आप अपने मन से अपना पारिश्रमिक निर्धारित कर सकते हैं। यह भी हो सकता है कि आपको आपकी अपेक्षा से भी अधिक पारिश्रमिक का प्रस्ताव मिले।

दूसरा क्षेत्र मुद्रण का है। इस क्षेत्र में आपको भाषा के साथ—साथ बाजार का भी ज्ञान होना चाहिए। इसके अलावा आपकी पहुंच लोगों तक होनी चाहिए। आपको यह पता होना चाहिए कि आपकी सेवा की जरूरत किन—किन लोगों को है और आप उन लोगों को किस प्रकार दूसरों की अपेक्षा सस्ती और बेहतर सेवा दे पाएंगे। अगर आप ऐसा कर पाते हैं तो मुद्रण का व्यवसाय आपके लिए उचित है। यहां भी ईमानदारी की उतनी ही जरूरत होती है जितनी किसी और क्षेत्र में। पुस्तक, अखबार, पत्रिकाएं, ब्रोशर, पैम्फलेट और इसी तरह के विभिन्न प्रचार साहित्य के मुद्रण के क्षेत्र में भाषा का अच्छा ज्ञान होना आपके लिए बेहतर होगा।

आपकी भाषा अगर अच्छी है और दूसरों को प्रभावित कर सकती है तो आप कापी राइटर या घोस्ट राइटर बन सकते हैं, आप दूसरों के लिए लिख सकते हैं। इसमें भाषण और ब्रोशर

भी शामिल हैं।

तीसरा क्षेत्र अनुवाद का है। आज एक अच्छे अनुवादक के लिए पूरा विश्व कार्यक्षेत्र है। बिकने वाला हर सामान विज्ञापन का मुख्यापेक्षी है और यह अकाट्य सत्य है कि हर सामान या सेवा का विज्ञापन हिंदी में होना जरूरी है। इसका श्रेय हमारी जनसंख्या, चलचित्र और लोकप्रिय टीवी चैनलों को जाता है कि आज हिंदी विश्व में रोजगार से जुड़ी भाषा है। हर भाषा के महत्वपूर्ण साहित्य का हिंदी में अनुवाद वांछनीय है और अच्छे अनुवादकों का अभाव भी है। स्थापित और पेशेवर अनुवादक का पारिश्रमिक भी आकर्षक होता है। इसके लिए स्रोत भाषा और लक्ष्य भाषा का अच्छा ज्ञान अपेक्षित होता है।

अब आते हैं इवेंट मैनेजमेंट पर। हमारा समाज बहुत हद तक प्रदर्शन प्रधान समाज भी है। यहां लोग अपने व्यक्तित्व को, अपने घर को, अपनी सोसाइटी को, अपने मोहल्ले को बेहतर प्रदर्शित करना चाहते हैं। यह आप आगे और भी सोच सकते हैं कि हमारे समाज में प्रदर्शन का चलन कितना अधिक है, मुझे बताने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रदर्शन के लिए लोग तरह-तरह के कार्यक्रम आयोजित करते हैं और दिल खोलकर ही नहीं बल्कि दिल पर पत्थर रखकर भी अपनी चर्चा के लिए खर्चा करते हैं। इसी चर्चा केन्द्रित खर्चा के अंतर्कोशिकीय अंतराल से अपनी खर्ची का तिकड़म भिड़ाना होता है। इसमें पहला है कवि सम्मेलन का इवेंट। यह एक जबरदस्त प्रोडक्ट है और इस प्रोडक्ट को बेचना आपका काम है। आपको इस इवेंट को मैनेज करने का तरीका मालूम होना चाहिए। जरा सोचिए, कोई भी व्यवसाय करता है तो बिना लाभ के तो करता नहीं। दूसरी बात लाभ अधिकतम हो, इसके लिए वह मितव्ययिता के

साथ-साथ टैक्स मैनेजमेंट से लेकर जरूरत पड़े तो मिलावट और जमाखोरी तक बड़े शान से करता है। तो यदि आप बिना किसी को कोई नुकसान पहुंचाए, अपने काम का अधिकतम पारिश्रमिक पाना चाहें तो इसमें कोई बुराई नहीं है। इसमें आप के संपर्क, आपकी वाकपटुता, संसाधन काम आते हैं।

दूसरा इवेंट साहित्यिक पुरस्कारों का हो सकता है। इस क्षेत्र में भी अपार संभावनाएं हैं। बहुत से लोग छोटे-छोटे शहरों में बहुत अच्छा लिखते हुए भी पहचान को तरसते हैं। विभिन्न कारणों से अखबारों पत्रिकाओं में उनकी रचना छपती नहीं, न ही साहित्य और साहित्यकार के उद्धार का कोई स्वयंभू संविदाकार ऐसे लोगों की खोज खबर लेता है। समाज में गुण-ग्राहकों का भी अकाल नहीं है। ऐसे में आप उन्हें उचित सम्मान दिलवा सकते हैं। इसी प्रकार और भी कई तरह के काम हैं जिन्हें इवेंट मैनेजमेंट ही कहा जा सकता है। ध्यातव्य है कि इवेंट मैनेजमेंट समझदारी और कला का मणिकांचन सामंजस्य की मांग करता है। आपको बस यह कला आनी चाहिए। अगर आप इस कला में पारंगत हो जाते हैं तो वर्ष में साल भर आप स्वयं तो सेल्फ एंप्लॉयड रहेंगे ही और भी बहुत लोगों के लिए आय के उपाय कर सकेंगे और ऐसे सभी लोगों के परिवारों का भोजन और उनके बच्चों की स्कूल की फीस का ही जुगाड़ नहीं होगा बल्कि उनके परिवारों की आंखों में सपने भी पल सकेंगे। इस दिशा में भी सोचिये। यह काम आपका धंधा भी हो सकता है, जो गंदा भी नहीं है और अच्छी आय देने वाला है। यदि आप इस पर विचार करें तो टिप्स के लिए टिप जितना और एक्सपर्ट सलाह के लिए कंसल्टेंसी जितना शुल्क लेकर मैं सेवा दे सकता हूं।

आलोचना का क्षेत्र इन सभी धंधों से कम आय का क्षेत्र है। हां, आपको ख्याति मिल सकती है। लेकिन साहित्य के क्षेत्र की ख्याति की उम्र अखबार के जीवन की तरह होती है, सुबह का अखबार आते ही बीते कल का अखबार ढोंगा (लिफाफा) बनाने लायक पुराना हो जाता है। फिर भी अगर आप आलोचक बनना चाहते हैं तो या तो आप डायरेक्ट एंट्री से बनते हैं या लैटरल एंट्री से।

डायरेक्ट एंट्री से आलोचक बनने के लिए हिंदी में पीएचडी होना जरूरी है। इसके बाद कई वर्षों तक आलोचना और साहित्य की विविध विधाओं का अध्ययन करना होता है। निरंतरता बनाए रखनी होती है। किस आलोचक ने किस विधा पर, किस कृति पर क्या लिखा है, यह भी जानना जरूरी होता है। यह बहुत अधिक अध्ययन का और श्रमसाध्य कार्य है। आपको हर विधा के बारे में अध्ययन करना होता है। केवल हिंदी ही नहीं बल्कि अन्य भाषाओं में जो साहित्य रचा जा रहा है, उसके बारे में भी गहन ज्ञान रखना होता है। मतलब आलोचक के अध्ययन का प्रकार और परिमाण साधूबाबा की खिचड़ी होती है, न्यूनतम में भी काम चल जाता है और अधिकतम की कोई सीमा नहीं होती। इसके लिए आपको पुस्तकों पत्र-पत्रिकाओं अखबारों को खरीद कर पढ़ना होता है, नए आलोचक को यूं भी कोई पुस्तकें नहीं भेजता। मतलब यह काम बहुत ही मेहनत और खर्च वाला काम है और इसमें समय भी बहुत अधिक लगता है। उसके बावजूद आपके सफल आलोचक होने की गारंटी नहीं है।

अब लैटरल एंट्री पर आते हैं। इस कोटि के

आलोचक के पास भोगा हुआ यथार्थ की विपुल संपदा होती है। वह नाना प्रकार के खट्टे-मीठे अनुभवों से संपन्न प्राणी होता है। होता यह है कि किसी भी दुर्घटना के साइड इफेक्ट्स के कारण कई बार आदमी कवियों में नाम तो लिखा लेता है, लेकिन चूंकि वह स्वाभाविक रूप से कवि नहीं होता इसलिए कविता के क्षेत्र में असफल होता है और कुछ साल कविता पर न्यौछावर करने के बाद कहानियों की ओर मुंह मोड़ता है, फिर इस क्षेत्र में भी जब कुछ वर्षों तक सफलता नहीं मिलती तब कहानियों से मुंह मोड़ लेता है और आलोचना के पीछे पड़ जाता है। यह आलोचना के क्षेत्र में लैटरल एंट्री है। इस पूरी प्रक्रिया में अकादमिक उपाधि आवश्यक नहीं होती, लेकिन चूंकि वह कुछ दशक तक साहित्य से जुड़ा रहता है, इसलिए उसके अनुभव के आयाम पर्याप्त विस्तृत होते हैं।

मेहनत हर काम में है। आपके द्वारा किया गया काम आपको धन, मान दिलाता है। इस तरह आप किसी और की नहीं बल्कि अपनी सेवा कर रहे होते हैं और उसके बदले मेवा प्राप्त कर रहे होते हैं।

परंतु सावधान! आलोचना का धंधा खेती करने जैसा है। इस क्षेत्र में भी 'ला आफ डिमिनिशिंग रिटर्न' लागू होता है और आलोचना के क्षेत्र में सफलता की गारंटी भी नहीं है।

दूसरे, सफल आलोचक हो भी गए तो भी रचनाकारों से संबंध प्रायः तिक्त ही रहने वाले हैं क्योंकि आप सभी लेखक संगठनों के साहित्यकारों को एक साथ खुश नहीं कर सकते।

तथापि, कुछ लोग अपना घर फूंकने में सुख पाने वाले भी होते ही हैं।

संपर्क: प्लॉटनं. 5, स्मार्ट बिग सिटी, आमाघाटा, गोविंदपुर, धनबाद (झारखंड) मो. 9934510298

भैया जी के वशमे का नंबर

अभिजित दूबे

आज रविवार यानि कि छुट्टी का दिन। मैं फिर अपना पसंदीदा गाना 'शनैः शनैः मम हृदये आगच्छ...' अपनी बालकनी में बैठकर चाय की चुस्कियों के साथ सुन रहा था। सामने वाली बालकनी से शर्मा जी ने टोका—' भाई आप भी इस संस्कृत के झांसे में आ गए।'

'मैं भी... मतलब?'

'जिस देश में 130 करोड़ लोग अच्छे दिन के झांसे में आ सकते हैं, वहाँ आपकी क्या बिसात।'

'शर्मा जी, आपकी बात मेरे समझ से परे है।'

'अरे भाई, अब तो बड़े बन जाइए, कब तक नासमझ बने रहेंगे? अच्छा यह बताइए संस्कृत में गाने का अनुवाद कर देने से संस्कृत का क्या भला होगा?' शर्मा जी प्रश्न वाचक दृष्टि से मुझे घूरने लगे।

'माफ कीजिए शर्मा जी, मुझे तो कुछ नुकसान नजर नहीं आता।'

'बड़े भोले हो बाबूजी। इतना कुछ होने पर भी...(कुछ क्षण रुककर)...आप या तो समझ नहीं रहे हैं, या समझना नहीं चाह रहे हैं। अगर किसी को संस्कृत का भला करना ही है तो संस्कृत स्कूलों की स्थिति को ठीक करे। वहाँ शिक्षकों को वेतन नहीं मिल रहा है। काशी के संस्कृत विद्यापीठ की स्थिति को देख लीजिए।' शर्मा जी की आवाज में थोड़ी कड़क थी इस बार।

मैंने अपनी वाणी संयत रखते हुए कहा— 'जिसने गाने का अनुवाद संस्कृत में किया और गाया, जिसने संगीत निर्देशन आदि कार्य किया है, उनकी ओर से ऐसा कोई दावा नहीं आया है कि वे संस्कृत का कल्याण करने निकले हैं। जिसे सुनना है सुने, जिसे नहीं सुनना है ना सुने, मेरी बला से।'

'आप समझिए जरा, सरकार संस्कृत की मार्केटिंग कर रही है।'

'देखिए पूरा का पूरा देश बाजार बन चुका है और हम और आप यहाँ सिर्फ और सिर्फ उपभोक्ता हैं, मैं मानता हूँ। पर आप यह किस आधार पर कह रहे हैं कि सरकार गीत-संगीत आदि के क्षेत्र में हाथ आजमा रही है? भाई साहब गीत-संगीत आदि का यह काम कुछ मुट्ठी भर लोग अपने स्तर पर कर रहे हैं। इसमें भी आप सरकार को घसीट रहे हो?'

'अरे भाई संस्कृत का मार्केट एक्सप्लोर किया जा रहा है।'

'हिंदी का मार्केट जब एक्सप्लोर किया जा रहा था, तब आप कहां थे? भोजपुरी-मैथिली आदि अन्य भाषाओं में जब बाजार अपना भविष्य तलाश रहा था, तब आपका विरोध कहां था? आपकी रचनाओं का जब विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं में अनुवाद हो रहा था, तब तो आप 56 इंच का सीना फुलाकर फेसबुक तथा इंस्टाग्राम पर पोस्ट चिपका रहे थे, लेकिन सरजी संस्कृत के अभी इतने भी अच्छे दिन नहीं आ गए कि आप उसे बाजारवाद के

चश्मे से देखने लगे।'

'आप मुझे भक्त लगते हो।'— शर्मा जी ने आँखें लाल—पीली करते हुए कहा।

'इस देश में कैरेक्टर सर्टिफिकेट बांटने का भी अपना अलग मजा है। है न भैया जी? राजनीति के कीचड़ के द्वारा, संगीत की पवित्रता पर प्रश्न चिह्न लगाकर अपनी रोटी सेंकना भारत जैसे लोकतंत्र में ही संभव है। वैसे, आपके चश्मे का नंबर आखिरी बार कब बदला था? संस्कृत स्कूल की दुर्दशा को आप सरकार से जोड़ सकते हो, कोई विरोध नहीं होगा। पर आप गीत—संगीत को भी सरकार से बेवजह जोड़ोगे, तब तो हम अपनी असहमति जरूर दर्ज करायेंगे।'

'देखिए देश को बर्बाद किया जा रहा है। हम ऐसा नहीं होने देंगे। देश में धर्म आधारित राजनीति नहीं चलने देंगे।' शर्मा जी के तेवर इस बार थोड़े नरम थे।

'भाई साहब, भारत की राजनीति से धर्म को निकाल लो तो क्या बचेगा? 130 करोड़ लोगों को बांधे रखने के लिए कुछ तो चाहिए। भूख, अशिक्षा, बेरोजगारी, स्वास्थ्य सेवा, उद्योग धंधे आदि विषयों में उलझकर अपना बहुमूल्य समय बर्बाद करना सरकार का काम नहीं है। हाँ सरकार बीच—बीच में फ्री का झुनझुना पकड़ाकर लोक कल्याणकारी कार्य जारी जरूर रखती है। वो गाना आपने सुना है कि नहीं...

फ्री की लागी लगन,

हुई जनता मगन...

और इस फ्री की कैप्सूल के बाद धर्म की वैक्सीन, शर्तिया चुनावी जीत करवाती है। और

आप हो कि बेवजह एक गाने को लेकर अपना ब्लड प्रेशर बढ़ा रहे हो। कूल रहो डूड... कूल। और हाँ जिस गाने का आप विरोध कर रहे हो, उसे यूट्यूब पर देखिए, दूसरे धर्म के लोगों की भी इसके निर्माण में हिस्सेदारी है। आप बेवजह तिल का ताड़ बना रहे हो।'

'आप समझ नहीं रहे हैं।'

'भाई साहब, माना कि आपके पास अक्विकल की अलमारी है, पर 130 करोड़ लोगों के पास भी थोड़ा—थोड़ा ही सही दिमागवा त हड़ये न है। विरोध करना तो ठीक है, पर अंधविरोध अनुचित है। चलिए थोड़ी देर के लिए मान लेता हूँ कि संस्कृत की मार्केटिंग करने का कोई प्रयास कर रहा है। तब तो संस्कृत जानने वालों को ही इसमें काम मिलेगा, उनका ही भला होगा। तब भी तो आपका विरोध बेवजह ही हुआ ना? और अगर मान लीजिए कि भारत जैसे देश में संस्कृत के नाम पर कोई जोखिम लेने को तैयार है तो इससे किसी और का तो कोई नुकसान नहीं होगा ना। वैसे हम भारतीय लोग अपने ही लोगों की टांग खींचकर परमानंद की अनुभूति करते हैं। परनिंदा के सुख में आकण्ठ डूबे रहने का मजा भी लेते हैं। यह सब हमारी दिनचर्या का अंग है, हमारे विनोद का विषय है।'

'देखिए आपका ब्रेनवाश किया जा चुका है मैं अब आपको समझा नहीं पाऊंगा। आप व्हाट्सएप यूनिवर्सिटी के छात्र मालूम होते हैं।'

'धत् तेरे की... अपने चश्मे का नंबर बदलिए, सब कुछ साफ—साफ नजर आएगा। उसके बाद आप भी गुनगुनाने लगेंगे— 'शनैः शनैः मम हृदये आगच्छ...

संपर्क: फ्लैट 1ए (प्रथम तल), ब्लॉक—1, पार्क वैली, बुद्धा मैदान के सामने,
एस.बी. गोराई रोड, आसनसोल—713301 (पं. बंबाल) मो. 9034112368

कुत्ते से पहचान

रमेश मनोहरा

बड़े घरानों में कुत्ते पालना आज कल मकान की सुरक्षा के लिए नहीं बल्कि फैशन हो गया। यदि आपने कुत्ता नहीं पाला तो आप प्रगतिशील नहीं समझे जायेंगे। मतलब बड़ा घराना है और कुत्ता पाला है। कुत्ते भी दो प्रकार के होते हैं एक देशी दूसरा विदेशी। यदि आपने विदेशी कुत्ता पाला है, तब आपकी शान में चार चांद लग जायेंगे। आप ऊंचे खानदान के कहलायेंगे। वैसे आजकल ऊंचा खानदान पैसों से भी आंका जाता है, जो जितना अधिक पैसे वाला है वह अधिक ऊंचे खानदान का कहलाता है। भले ही पैसा कमाने के लिए वो अपने उसूल बेच देता है। मगर यह बात उस पैसों वालों पर भी लागू होती है। यदि वे अच्छी नस्ल का कुत्ता नहीं पालते हैं। भले ही वो कितने ही पैसे वाला हो यदि उसने कुत्ता नहीं पाला तब उसे बड़े घराने का नहीं मानते हैं। यदि उसने विदेशी कुत्ता नहीं पाला तो ऊंचा घराने का नहीं कहलाये। यहाँ मुझे दिनकर सोनवलकर जी की वो कविता याद आ रही है —

“मुझे बॉस से नहीं
बॉस के कुत्ते से डर लगता है
जो हर आने जाने वालों पर
बेवजह भौंकता है।”

यह कविता जिस समय लिखी गई थी। उस समय शायद कुत्ते पालने का इतना चलन न हो। मगर जितना बड़ा अफसर है उसे कुत्ता पालना अपने अफसरी रोब दिखाने के लिए जरूरी है। अफसर कुत्ते इसलिए पालता है कि उसके अधीनस्थ कर्मचारी उसके बंगले के व्यर्थ के चक्कर न लगाये। क्योंकि अधीनस्थ कर्मचारी अपना उल्लू सीधा करने के लिए उनकी कोई महत्वपूर्ण मांग मनवाने के लिए न आये। ऐसे में अधीनस्थ कर्मचारी भी समझता है साहब का कुत्ता साहब से ज्यादा पावरफुल होता है। क्योंकि वह बंगले में घुसने के दरवाजे पर सख्त पहरा देता है। भूल से कोई कर्मचारी यदि साहब के बंगले में पहुंच भी जाता है, दालान के गेट से ही देख लेता है। कुत्ता मुस्तैदी से बैठा जीभ निकाल रहा है। वो भौंके उसके पहले ही वो कर्मचारी नौ दो ग्यारह हो जाता है। मित्रो यह है पाले हुए कुत्ते की विशेषता, क्योंकि साहब के बंगले के

गेट पर चौकीदार—सा पहरा देता है। उससे आप साहब का संबंध बताकर इजाजत भी ले लोगे। मगर भीतर जाने के लिए वो कुत्ता ऐसे भौंकने लगता है कि आपकी हिम्मत नहीं होती है कि वहाँ तक पहुँच जावें। वो कुत्ता इतनी जोर से भौंकना शुरू कर देता है कि साहब या अन्य सदस्य उस कुत्ते को चुप नहीं कर दे। जो जितना बड़ा अधिकार है। उसका भी रूतबा जनता में पद से होता है और बंगले में कुत्ते के जो लोग विदेशी नस्ल पालते हैं। वे सबसे ऊँची श्रेणी में माने जाते हैं और जो स्वदेशी कुत्ता पालते हैं वे मध्यम श्रेणी में आते हैं।

बड़े अधिकारी की बीवी हो या नगर सेठ की उसे कुत्तों से बेहद प्यार होता है। दोनों ही जब शॉपिंग के लिए अपनी कार में बैठकर बाजार जाते हैं, अपने कुत्ते भी इसलिए साथ ले जाते हैं कि इससे उनका रौब पड़ता है यानी कि वो कुत्ता, कुत्ता नहीं परिवार का एक महत्वपूर्ण सदस्य होता है, जिसे वो अपने निजी काम से जहाँ भी जाते साथ ले जाते हैं।

ऐसे ही एक अधिकारी की बीबी शासकीय जीप से एवं बिजनेस मेन की बीबी अपनी निजी कार से अपने-अपने कुत्तों को कार में बिठाकर मॉल में पहुँची। उनके कुत्ते भी उनके साथ थे। दोनों अपने वाहन पार्क में रख गईं, मगर कुत्तों को वाहन में छोड़ गईं। अफसर के कुत्ते ने खिड़की से गर्दन बाहर निकाली तब उसे देख बिजनेस मेन के कुत्ते ने भी मुँह निकालकर उसे घूरा। दोनों एक दूसरे को ऐसे देख रहे थे, जैसे भारत-पाकिस्तान एक दूसरे देखते हैं। दोनों तनाव में थे। दोनों एक-दूसरे को थोड़ी देर देखते रहे फिर बिजनेसमैन का कुत्ता बोला—क्यों भाई ऐसे मुझे क्यों देख रहे हो?

अफसर कुत्ता— मैं देख रहा हूँ। हम दोनों के

गले में पट्टा बंधा है।

बिजनेसमैन कुत्ता— हम आप कुत्तों की विशेष श्रेणी में आते हैं, अतः हम अपने मालिक के वफादार कुत्ते हैं, इसलिए हमारे गले में पट्टा बंधा है।

अफसर कुत्ता— सो तो है। हमसे ही हमारे मालिक की पहचान है।

बिजनेसमैन कुत्ता— यदि हमारे मालिक हमें नहीं पालते तब हम भी सड़क के कुत्ते जैसे होते। हम सभ्य धरानों की शान है।

अफसर कुत्ता— हाँ शान तो है, मगर शान के साथ हमारा मालिक मेहमानों से अधिक आदर हमें देता है।

बिजनेसमैन कुत्ता— इसका मतलब हम अच्छा भाग्य लेकर आये हैं।

अफसर कुत्ता— हाँ भाग्य के साथ परिवार में हमारा सम्मान भी बहुत होता है। परिवार में हमें एक सदस्य की तरह रखा जाता है। मेरे शासकीय बंगले में जो भी आता मैं भौंककर उसे भीतर नहीं आने देता हूँ।

बिजनेसमैन कुत्ता—मेरा भी यही हाल है मेरा मालिक मुझे इसलिए पालता है कि चोर नहीं घुस पाये। हर चोर पर मेरी गिद्ध दृष्टि रहती है। अतः चोर भी जानता है कि बंगले में चौकन्ना पहरेदार रहता है।

अफसर कुत्ता— मगर मेरे शासकीय बंगले में हर आने वाला आदमी को मैं चोर समझता हूँ। मगर जब साहब बाहर आकर मुझे चुप कराते हैं, उस आदमी को बड़े अदब से घर में ले जाते हैं, उसे बड़े प्रेम से बिठाते हैं, तब मैं भी चुपचाप ड्राइंग रूम के सोफासेट पर बैठकर नजारा देखने लगता हूँ। वह आदमी नोटों से भरा बैग खोलकर दिखाता है। साहब संतुष्ट हो जाते हैं। उसकी फाइल दे देते हैं। मैं टुकुर-टुकुर यह

दृश्य देखता रहता हूँ।

बिजनेसमैन कुत्ता— यही हाल मेरा है। जब मेरा बिजनेसमेन सेठ चीजों में मिलावट करता है तो मैं टुकुर—टुकुर देखता रहता हूँ और आँखों से आंसू बहाता रहता हूँ। जब सेठ किसी चीज के भाव बढ़ाकर लेता है, कितने ही गरीबों का खून चूसता है, तब मुझे बहुत दुःख पहुँचता है। जब मैं उसका दिया खाना खाता हूँ, तब उसमें गरीबों के खून की बू आती है।

अफसर कुत्ता— मेरे साहब, सूखी फाइलों से तो तेल निकालते हैं मगर शासकीय योजना में भी चूना लगाते हैं। कभी—कभी शासकीय जीप में बैठकर उनके साथ शासकीय दौरे पर भी जाता हूँ। तब वे अपने पद का किस तरह दुरुपयोग करते हैं, इसका बयान करना बहुत मुश्किल है।

बिजनेसमैन कुत्ता— मगर मेरा सेठ जब मिलावट के आरोप में पकड़ा जाता है, तब जो अफसर पकड़ता है, उसकी जेब में चुपचाप नोटों से भरा बंडल खिसका देता है। वो अफसर चुपचाप चला जाता है।

अफसर कुत्ता— इस तरह के काम तो मेरे

साहब खूब करते हैं।

बिजनेसमैन कुत्ता— मतलब हमारे दोनों के मालिक एक ही थैली के चट्टे—बट्टे हैं।

बिजनेसमैन का कुत्ता— मतलब दोनों मिलकर देश को लूट रहे हैं।

अफसर कुत्ता— दोनों तो हैं ही, मगर तीसरा भी है?

बिजनेसमैन कुत्ता— कौन है भाई ?

अफसर कुत्ता— नेता और मंत्री कहते हैं उसे। मेरा अफसर जब भी कोई मंत्री रेस्ट हाऊस में आता है, तुरंत शासकीय काम छोड़कर उसकी जी हजरी करने लगता है।

बिजनेसमैन कुत्ता— मेरा सेठ भी मंत्री के आस—पास लायसेंस कोटा, परमिट लेने के लिए चक्कर काटता रहता है। जब नवीन लाईसेंस मिल जाता है तब उसे भगवान समझने लगता है।

अफसर कुत्ता— तीनों मिलकर देश को खा रहे हैं और...आगे अफसर कुत्ता कुछ भी नहीं बोल सका। तब तक अफसर की बेगम जीप में बैठकर ड्राइवर को चलने का आदेश दे देती है। कुत्ता मुँह भीतर करके सीट पर बैठ जाता है और जुबान निकालकर चिंतन में खो जाता है।

संपर्क: शीतला माता गली, जावरा (म.प्र.) जिला रतलाम, मो. 9479662215

“उनके न रहने पर चारों भाइयों की एक राय नहीं रही। विवाद काम में विघ्न पैदा करता है। फलतः चारों भाइयों की दो टोलियाँ हुई। मन्नी और बिल्लेसुर एक तरफ हुए, ललई और दुलारे एक तरफ, जैसे सनातनधर्मी और आर्यसमाजी। कुछ दिन इसी तरह चला। फिर इनमें भी शाखें फूटीं—जैसे वैष्णव और शाक्त, वैदिक और वितंडावादी। फिर सबकी अपनी डफली और अपना राग रहा।”
निराला (‘बिल्लेसुर बकरिहा’ से)

कोरोना रैली

मनोहर सिंह चौहान 'मधुकर'

हमारा देश विविधताओं से भरा है। इसलिए यह सबको आकर्षित करता है। यहाँ के लोग, उनकी मान्यताएं और उनके सतरंगी त्यौहार लुभाते हैं।

जो भी यहाँ आता है वो यहीं का होकर रह जाता है। अरे भाई थोड़ा तरस खाओ ऐसे तुम आते रहे और जमते रहे तो हमारा क्या होगा। थोड़े बहुत दिन रुक लो फिर जाओ अपनी जगह। पर न जाने क्यों चिपक ही जाते हैं और भूल जाते हैं कि कहीं और के हैं वह।

अब इस कोरोना को ही ले लो। आया है जब से तहलका मचा रखा है, मगर मजाल है कि कोई इसके विरोध में बोले? नहीं की जरूरत किसी ने, सबकी अपनी सोच है। सबके अपने स्वार्थ हैं।

घरों में कब तक कैद रहें। बच्चे भी घबरा गए। रोजी-रोटी का संकट है। आपस में मिलना जुलना बन्द करा दिया एक दूसरे के घर जाकर हालचाल पूछना हेलो हाय करना सब बन्द।

यहाँ तक कि अपना कोई ऊपर पहुँच जाय तो वहाँ भी 50 से ज्यादा नहीं।

बड़ी मुसीबत है इसका निदान बहुत जरूरी है।

देश के, समाज के कर्णधार अपने-अपने हिसाब से बयानबाजी करके अपना नाम चमकाने में लगे हैं। इस कोरोना का इलाज क्या? हो कैसे? कौन सोचता है, किसको पड़ी है? सब चाहते हैं मशहूर होना ताकि किसी सीट से दावेदारी जता सकें।

वैसे भी हिंदुस्तानी जनता बहुत धैर्यवान है। जब-तक नाक तक पानी नहीं आता तब-तक समझ ही नहीं पड़ती।

इनको कुम्भकर्ण की तरह नींद से ढोल बाजों से जगाना पड़ता है।

भला हुआ हमारे कुछ छुटभैये नेताओं का, जिन्होंने आज सारे शहर में घोषणा करवाई है कि परसों झंडा चौक पर सब इकट्ठे होकर कोरोना के खिलाफ मौन रैली निकलेंगे। आप सब अवश्य शामिल होकर अपने दुख-दर्द को बयां करें।

घर-घर जाकर पर्चे भी बाँटे हैं। सबको इस महारैली में आपस के मतभेद भुलाकर कोरोना रैली को सफल बनाना है।

मैं भी सोच रहा हूँ इस भीषण विपदा के दौर में मेरा भी फर्ज बनता है कि कोरोना के खिलाफ खड़ा हुआ जाय। वरना लोग क्या कहेंगे कि ये बड़े कवि साहित्यकार बने फिरते हैं। ये भी विरोध रैली में शामिल नहीं तो फिर आम आदमी तो बेचारा नोन तेल लकड़ी की चिंता में ही मरा जा रहा है उसे क्या, कोरोना रुके या जाए। वह तो नियम-कानून, गाइड लाइन को ताक में धरे घूम ही रहा है।

संपर्क: 2, काटजू नगर, जावरा-457226 जिला रतलाम मध्यप्रदेश, 09131436100

कविता और मोटर व्हीकल्स

नवीन कुमार सिंह

कविताएँ लिखना आजकल हो गया है मोटर व्हीकल चलाने के समान। आजकल मिलते हैं लाइसेंस कविता के भी कुछ मान्यता प्राप्त संस्थानों से, ठीक वैसे ही जैसे मोटर व्हीकल से मिलता है वाहन चलाने का लाइसेंस। लाइसेंस मिलने के बाद भी सम्हलकर पड़ेगा चलाना इस वाहन को, अगर आप नए वाहन चालक हैं तो! वरना भरना पड़ सकता है भारी जुर्माना। मोटर व्हीकल एक्ट के हजारों नियमों में से किसी न किसी नियम को आपने जरूर तोड़ दिया होगा, वाहन को घर से निकालते ही। बचना मुश्किल है, अगर आपको नहीं आता कविता के सार्जन्ट बाबू को पटाना या उनके सेवक पर उपहार या कम से कम खुशामदें लुटाना। आजकल तो हम जैसे कुछ बिना फटफटी के, बस साइकल चलानेवालों, यानी स्वान्तः सुखाय या मित्र सुखाय लिखने वालों को भी मिलती है धमकियाँ अपनी साइकल सड़क पर न निकालने की, वरना घण्टी की धीमी आवाज या ब्रेक के जोर से दबने पर कब्जे में ली जा सकती है साइकल भी। लद गया जमाना कि रसखान लिख देते हैं कृष्ण के भजन और हिंदी कवि अगम शर्मा लिखते हैं रचनाएँ अल्लाह के लिए। अब तो बाँट दिए गए हैं रास्ते ओवर ब्रिज और हाईवे की तरह, जहाँ अलग-अलग तरह के वाहनों को अलग-अलग रास्तों पर ही गाड़ी ले जानी पड़ती है। एक बात और जिस तरह सदियों पुरानी सड़क के गड्ढों को भी कर दिया जाता है ठीक और सड़क को बनाया जाता है अनुकूल मंत्रीजी के वाहन की वोट यात्रा के लिए, ठीक वैसे ही आजकल कविताएँ भी लिखी जाने लगी हैं किसी विशेषतम मंत्रीजी के अनुकूल ताकि मंत्रीजी की कृपा बरसती रहे। गाड़ियों की तरह कविताएँ भी होती हैं ओवरटेक। किसी बड़े रचनाकार ने अगर आपकी कविता को ओवरटेक किया तो आप रह जाओगे चिल्लाते, पर कुछ नहीं होना, ठीक वैसे ही जैसे 10 चक्का लॉरी के पीछे हार्न बजाता रहता है ऑटो वाला पर कभी रास्ता नहीं मिलता। बचने के रास्ते कुछ हैं, आपको हो जाना होगा किसी गुट में शामिल। जैसे कुछ सवारी पकड़ते हैं कोई निश्चित बस निश्चित स्थान पर जाने के लिये, या बनकर चलना होगा भीड़ का हिस्सा, जैसे रोज गुजरते हैं धक्के खाते हुए लोग हावड़ा ब्रिज के फुटपाथ पर, ऐसे लोगों में घुसपैठिया बनकर।

संपर्क: 4ए/1/1, सलकिया स्कूल रोड, हावड़ा-711106, मो. 7003741520

प्रति

पारस कुंज

लाल किले के बाहर तीन विदेशी पर्यटक एक सँपेरे के करतब देख अचम्भित हो रहे थे। एक ने साश्चर्य पूछा, “हवाट इज दिस, ख्या है ये?”

जवाब में सँपेरे ने बीन बजाना शुरू किया। बीन की धुन पर पिटारे से बाहर निकलकर नाग-नागिन का जोड़ा मस्त होकर नाचने लगा।

“ओ हो...फंटास्टिक! फंटास्टिक! प्लीज...! प्लीज...!” कहकर उस रोमांचक दृश्य को कैमरे में कैद करने लगा।

तमाशे की समाप्ति पर उसने पूछा, “हाऊ मच?”

पाँच-दस रुपये पाने वाले उस सँपेरे ने अच्छा मौका देखकर कहा, “पाँच सौ रुपये! फाइव हंड्रेड रूपीज...।

“ओह! नो...नो... एक्सेस...। टू मच एक्सेस! वन हंड्रेड...वन हंड्रेड रूपीज!”

उनके द्वारा बार-बार ‘नो-नो’ कहने के बावजूद सँपेरे ने उससे पाँच सौ रुपये झटक लिये।

ठीक उसी समय पास के एक रेडियो से स्वाधीनता दिवस की वर्षगांठ पर देश के प्रधानमंत्री की आवाज सुनाई पड़ी। “हमारे देश की प्रतिष्ठा विदेशियों की नजरों में पहले से अधिक बढ़ी है।”

संपर्क: संपादक ‘शब्द-यात्रा’, सीता निकेत, जयप्रभा पथ, भागलपुर- 812002 (बिहार), मो. 6201334347

गँवार कौन

रामप्रवेश रजक

बस में सफर करते समय चौबे जी अपनी भोजपुरी भाषा में लम्बे-लम्बे भाषण दिये जा रहे थे। दूसरी सीट पर बैठा एक बंगाली दंपति यह सब सुन रहे थे। वे भोजपुरी भाषा सुनकर बहुत चिढ़ रहे थे और बार-बार उन्हें घूर-घूर कर देखे जा रहे थे। बंगाली दंपति भोजपुरी सुनकर कहने लगे, “देखो गँवार लोगों को देहाती भाषा में क्या-क्या बक रहे हैं। यह भी कोई भाषा है?” हालांकि वे आपस में बांग्ला भाषा में ही बात कर रहे थे। पर चौबे जी के भोजपुरी बोलने पर उन्हें आपत्ति थी। बांग्ला के अलावा वे हिन्दी भी शुद्ध नहीं बोल पाते थे, फिर भी बांग्ला पर उन्हें गर्व था। तभी बस में एक अंग्रेज आया जगह खाली देख उसने बंगाली बाबू से कहा, “Side Pleage, can i sit their?” बंगाली बाबू ने कहा “क्या?” अंग्रेज ने फिर कहा “Can I Sit their?” फिर भी समझ नहीं पाये। स्थिति को संभालते हुए चौबे जी ने बंगाली बाबू को उन्हीं की भाषा बांग्ला में इस अंग्रेजी का अनुवाद करके बताया। यह सब देख बंगाली बाबू ने कहा, “तुम बांग्ला, अंग्रेजी दोनों जानते हो? उरी बाबा।”

संपर्क: सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय
कोलकाता-73 ईमेल: rajak.ram2010@gmail.com, मो. 9800936139

राम बनने की प्रेरणा

सुरेंद्र शर्मा

पत्नी जी!
मैं छोरा नैं राम बनने की
प्रेरणा दे रियो ऊँ!
कैसो अच्छो काम
कर रियो ऊँ!
वा बोली—
'मैं जाणूँ हूँ थैं छोरा नैं
राम क्यूँ बनाणा चाहो हो
अइयां दसरथ बणकै
तीन घरवाली
लाणा चाहो हो।' (साभार)

गीत

ताराचरण खवाड़े

लगता है अबकी मौसम सचमुच बदला है।
एक तरफ 'कोरोना' भारी
सांसत में जनता
कितना भी सरकार करे
पर काम नहीं बनता
सुरसा जैसी बनी समस्या, देती पगला है।
दल सत्ता के भूखे निकले
सबका छिपा एजेंडा
जनता कुछ को सबक सिखाती
पकड़ देती 'अंडा'
रूप बदलती हवा बह रही, नभ कुछ गँदला है।
कहने को बस ओट खड़ी है
नीयत नंगी है
चाल समय की नजर आ रही
अब बेढंगी है
बाहर—बाहर कुछ दिखता है, अंदर घपला है।

संपर्क: चकाचक हनुमान गली के पास, अपर
विलासी टाउन, वैद्यनाथधाम देवघर-814112
(झारखंड) मो.सं. 7856071216

दया

अशोक चक्रधर

भूख में होती है कितनी लाचारी
ये दिखाने के लिए एक भिखारी
लॉन की घास खाने लगा,
घर की मालकिन में
दया जागने लगा।
दया सचमुच जागी
मालकिन आयी भागी—भागी
क्या करते हो भैया?
भिखारी बोला—
भूख लगी है मैया।
अपने आपको
मरने से बचा रहा हूँ,
इसलिए घास चबा रहा हूँ।
मालकिन ने आवाज में मिसरी घोली,
और ममतामयी स्वर में बोली,
कुछ भी हो भैया
ये घास मत खाओ
मेरे साथ अंदर आओ।
दमदमाता झाड़ूंग रूम
जगमगाती लाबी,
ऐशोआराम के सारे ठाठ नवाबी।
फलों से लदी हुई खाने की मेज
और किचन से आयी जब महक बड़ी बड़ी
तेज
तो भूख बजाने लगी
पेट में नगाड़े,
लेकिन मालकिन ले आयी उसे
घर के पिछवाड़े।
भिखारी भौचक्का—सा देखता रहा
मालकिन ने और ज्यादा प्यार से कहा,
नर्म है, मुलायम है, कच्ची है,
इसे खाओ भैया
बाहर की घास से
ये घास अच्छी है। (साभार)

मेमनों को है मुगालता

सदानंद सुमन

अब जंगल में नहीं
शहरों में बसते हैं भेड़िये
भेड़ियों को अब नहीं पड़ता खोजना
आते चल कर मेमने ही उनके पास
ले कर शिकायतें
दूसरे भेड़िये की
भेड़ियों की चिंता में
रहता हरदम शामिल
अपने उपयोग के लिए बचाना
मेमनों की प्रजाति
लगा रहता है हर समय अंदेशा कि
उसके हिस्से के मेमने
हाँक न ले जाय कहीं
प्रतिद्वंद्वी भेड़िये
मेमनों को लेकर
उनके खेमों में निरंतर
चलती रहती है तनातानी
जुटे रहते हैं वे
चालाक पैतरो के साथ
करने सबको गोलबंद
अपने-अपने पक्ष में
मेमनों को है मुगालता
वे करेंगे
उसकी रक्षा।

संपर्क: पुरानीहाट रानीगंज, पो.
मेरीगंज-854334
जिला- अररिया (बिहार)
मो. 7488495573

सुनो 2021

रामावतार राही

सुनो बेटा 2021!
बूढ़ा साल 2020
बीमार होकर मृत्युशय्या पर
पड़ा था।
बगल में उसका बड़ा लड़का
2021 मुंह पर 12 बजाये
खड़ा था।
बूढ़े ने कहराते हुए अपना
अधर खोला।
टूटे-फूटे स्वर में बोला—
सुनो बेटा! 2021!
मत लाओ अपने
चेहरे पर उदासी।
मेरे बाद तुम ही
मेरी गद्दी पर बैठना।
आदमी से ज्यादा कंप्यूटर
पर विश्वास करना।
पूर्वजों की छोड़ी गई
सारी सम्पत्तियों को
सहेज कर रखना।
सम्पत्तियों की सूची है
इस प्रकार —
हत्याकांड, भ्रष्टाचार, कालाबजार।
इन तमाम सम्पत्तियों को
अपनी बपौती मानकर।
घटाकर नहीं और बढ़ाकर
अपने बाद मेरे पोते
2022 के हाथ सौंप देना।
ना नहीं करना।
ताकि कुल की मर्यादा
बरकरार रहे।

संपर्क: संतनगर, हनुमान घाट पथ, बरारी,
भागलपुर-812003 बिहार, मो. 9973195414

एम जी रोड

गिरिधर राय

एम जी रोड क्या है
प्रश्न के उत्तर में
जब किसी बच्चे ने हाथ नहीं उठाया
तो मास्टर साहब का माथा भन्नाया
बिगड़कर बोले यह प्रश्न कंपलसरी है
इसका उत्तर देना सब के लिए जरूरी है
चलो एक-एक करके बताओ

पहला लड़का बोला— सर !
महात्मा गांधी रोड को ही एमजी रोड कहते हैं
सर मुस्कुराने लगे और बोले
वाह बेटा! मुझी को पढ़ाने लगे
एमजी रोड का फुल फॉर्म बताने लगे

दूसरा बोला— सर!
हरिसन रोड को एमजी रोड कहते हैं
सर बोले कि यह तो उसका दूसरा नाम है
जो तुम बता रहे हो
उसके बारे में कुछ विशेष बताओ
तीसरा बोला कि सर!
इस रोड को गांधी जी ने बनवाया था
सर बोले— बिलकुल नहीं
उन्होंने साबरमती आश्रम के अलावा
कुछ भी नहीं बनवाया था
चौथा बोला— सर!
इस रोड का शिलान्यास गांधी जी ने किया था
सर— नो, नेक्स्ट
पाँचवाँ बोला— यदि शिलान्यास भी नहीं किया था
तब तो उद्घाटन जरूर किया होगा
सर बोले— नो, एकदम गलत
महात्मा गांधी ही एक ऐसे नेता थे जिन्होंने
न तो किसी चीज का शिलान्यास किया था
न ही किसी चीज का उद्घाटन किया था
छठा बोला— सर!
यदि यह भी गलत है तो हमें लग रहा है

साबरमती आश्रम से निकलने वाला
यह वह रोड है जिसपर गांधी जी ने
डांडी मार्च करके नमक का कानून तोड़ा था
और पूरे भारत को एक सूत्र में जोड़ा था

सर चिल्लाये— नो नो नो एकदम नहीं
सातवाँ बोला— सर!
कहीं यह वह रोड तो नहीं है
जिस पर बापू ने दौड़ा-दौड़ा कर
अंग्रेजों को मार भगाया था
तोड़ गुलामी की जंजीरें
सन सैंतालीस में भारत को आजाद कराया था

सर बोले— और/सोचो और बताओ
एक मूल चिंतक लड़का बोला— सर!
आपका क्वेश्चन गलत है
यह वन पलेग वन नेशन है
यह रोड ही नहीं है
यह तो एक मेट्रो स्टेशन है

सर कुछ बोलते कि उसके पहले ही
क्लास में फर्स्ट आने वाला लड़का बोला—
सर! यह वह रोड है जो भारत ही नहीं
विश्व के हर शहर में तो है
पर बापू के शहर में नहीं है

अंत में एक सिरफिरे लड़के ने पूछा :
सर! क्या गांधी जी को इस रोड के बारे में
मालूम था
सर बोले— नहीं उन्हें कैसे मालूम होगा
सिरफिरे लड़के ने कहा—
तब क्यों हम लोगों का समय नष्ट कर रहे हैं
सर
अरे जिसका रोड है जब उसी को नहीं मालूम है
तो हम लोग क्या खाक बता सकते हैं
सर बोले, कैसी बात करते हो, यह भी कोई
उत्तर है?

आखरी बच्चा, जो अक्सर चुप रहता था

पर जब भी बोलता था बहुत ही खरा बोलता था
अंत में बोला— सर!

एम.जी. रोड हिंदुस्तान के
हर गाँव से निकलने वाली एक पगडंडी है
जो चलते-चलते नगरों में सड़क
और शहरों में रोड हो जाता है
और अंत में दिल्ली पहुँचकर
संसद भवन में खो जाता है

हालाँकि सही लोकतंत्र के लिए यही एक
रास्ता है
पर इस पर चलने वालों में अधिकांश का
देश और गांधी से कुछ भी नहीं वास्ता है
संसद जाते समय इन्हें
गरीबी, भुखमरी, बेरोजगारी, महंगाई, आरक्षण,
बिजली, पानी, सूखा, बाढ़, भ्रष्टाचार,
आतंकवाद आदि सब कुछ दिखाई देता है
पर जब वहाँ पहुँच जाते हैं
तब न कुछ दिखाई देता है, न सुनाई देता है

इसीलिए वे मुँह नहीं खोलते हैं
और यदि खोलते भी हैं
तो सिर्फ अपने लिए ही खोलते हैं
और एक साथ मिलकर बोलते हैं
देख लो हम भारत को
सुनहरे भविष्य की ओर ले जा रहे हैं
और महात्मा गांधी के रास्ते
पर ही तो चल रहे हैं
भारत माता की जय/महात्मा गांधी की जय
यह जयघोष सुनकर
कवि की लेखनी कराह उठती है
कि ऐ मेरे देश के ठेकेदारो!
देश को नीलाम मत करो
बापू के नाम को बदनाम मत करो

संपर्क: गणपति बिहार, ब्लॉक नं.4,
प्लैट नं. 301, 1/जी, 6/2, अश्विनीनगर,
बागुईआटी, कोलकाता-700159, मो. 8910164033

इंटेलेक्चुअल जेंटलमैन

सुरेश शॉ

हिन्दी की थाली में रख
अंग्रेजी-फूड मैं खाता हूँ
हैलो-हाय कर इनसे-उनसे
जेंटलमैन कहलाता हूँ
मैं इंग्लिश मीडियम में पढ़ाता हूँ।

उठ सवेरे सूट-बूट में
मॉर्निंग वाक पर जाता हूँ
ब्रेकफास्ट में ब्रेड-ऑमलेट को
फोर्क-नाइफ से खाता हूँ
मैं इंग्लिश मीडियम में पढ़ाता हूँ।

आपटर बाथ मैं कंठ-लंगोट में
व्हीकल से कॉलेज जाता हूँ
वहाँ पहुँचकर चहक-चहक मैं
'उनकी' हाँ में हाँ मिलाता हूँ
मैं इंग्लिश मीडियम में पढ़ाता हूँ।

बेशकीमती सेल-फोन पर
लो-वॉयज में बतियाता हूँ
कक्षा में जाने से पहले
नोट-बुक झाँक जाता हूँ
मैं इंग्लिश मीडियम में पढ़ाता हूँ।

बेल बजते ही, हो फरार मैं
'कॉफी-हाउस' घूम आता हूँ,
कर पोलिटिक्स इस-उस दल की
इंटेलेक्चुअल वहीं बन जाता हूँ
मैं इंग्लिश मीडियम में पढ़ाता हूँ।

संपर्क: 8, पॉटरी रोड, कोलकाता-700015
मो. 9330885217

प्रश्नकाल

वेद प्रकाश मिश्र

सवाल खड़े ही
रहते हैं...
सत्ताएँ...अफसर
आते हैं...
बैठते हैं कुर्सियों पर
दुखते पैरों के/साथ
सवाल खड़े ही रहते हैं।
बारी बारी बदल कर/सत्ताएं
विरोधी, धुर विरोधी
आएँ जाएँ/बैठे कुर्सियों पर
खाएँ.../खिलाएँ/पिएँ/पिलाएँ!!!
बैठे-बैठे
मजाक भी उड़ाएँ
प्रश्नों के इस तरह
खड़े रहने का।
प्रश्न कैसे बैठ जाए...
कैसे...?
अगर वह यक्ष का
प्रश्न होता तो
मर गये होते/सारे।
अवमानना करने वाले
प्रश्नों के अपराधी।
झुंठ है प्रश्नों का...
उस प्रसूता से/लेकर
मरणासन्न बूढ़े तक।
शिशु से लेकर
जर्जर बुढ़ापे तक...अनंत प्रश्न...
खड़े हैं।
शिक्षा/स्वास्थ्य/परिवहन
पर्यावरण/आवास /कृषि
इन सबका...त्वरण
रुका है।

सवाल कुछ ऐसे
पड़े हैं...
फाईलों में भी खड़े हैं।
जब भी मेरे/मन में कोई
सवाल खड़ा होता है...
मैं उसका जवाब
ढूँढने की जल्दी
में रहता हूँ...
समाधान जैसा कुछ!!!
कहीं फिर
एक और लाइन में
न लग जाए...!!!
शिक्षक को न पढ़ाने
पढ़ाने वाले के
वेतन न पाने,
डॉक्टर के कभी
अस्पताल न आने
रोगी के उपेक्षित
मर जाने के प्रश्न!!!
सेवक सरकार
के दफ्तर में तेरे
मेरे उसके फेरे/के प्रश्न!!!
सवालों के जंगल
में हेराने के प्रश्न
बस...बिना समाधान
आने जाने के प्रश्न...
हर जगह...।
बस, ट्रेन...कार
ट्राफिक की भीड़ में
सड़कों पर अतिक्रमण
की तरह खड़े...
कभी अंधे ट्राफिक में

कुचले पड़े...प्रश्न!!!
मैं सवालों की किलेबंदी
में घिर गया हूँ...
मैंने इन्हें ही
मान लिया है
उत्तर!!!
कभी-कभी
घबरा कर...
बेतल तक
हाथ पहुँचता है...
बिना देखे मैं
ढक्कन खोलता हूँ...
दो घूँट पी लेता हूँ...
डरता हुआ...
कि कहीं कोई यक्ष
मुझसे ही नहीं पूछता, हो...
इतने सारे प्रश्न...!!!
और फिर कह दे...
सावधान!!
बिना उत्तर दिये
पिया तो मरोगे!!!
मैं इन प्रश्नों
के जंगल में
दिशाहारा... हो गया हूँ!!!

संपर्क: राजभाषा विभाग,
रेलवे वर्कशॉप, खड़गपुर,
पिन-721301 (प.ब.),
मो. 7980981413

कुर्सी
सुनील कुमार शर्मा

कुर्सी बनाती है मिजाज,
लाती है सनक
अहंकार भी जगाती है
छोटी कुर्सी छोटा गुस्सा।
मझोली कुर्सी
मझोले कद का गुस्सा।
बड़ी कुर्सी लाती है
बड़ी सनक और बड़ा गुस्सा।
कुर्सी गुनगुनाती है
गाती है खुशी के गीत
कभी-कभी अट्टहास भी लगाती है
सुनाती है कई तरह के किस्से
कहती है, चित्रकार हूँ।
बैठने वाले के व्यक्तित्व में
रंग अबूझ से भर जाती हूँ
मैं तो अक्सर चरित्र भी
बदल जाती हूँ।

कुर्सी आगे बताती है
मिले यदि, बैठ जाना तपाक से,
वर्ना फिर हाथ नहीं आती।
पकड़ने में पाजामा क्या
पैट भी सरक जाती है।

गुमान में उर्वशी की
मानिंद कुर्सी इठलाती है
हर किसी को रिझाती है
महाभारत भी कई बार
करवाती है
बस जरूरत है

कुर्सी की चाह जगने की

है जैसे ही लालसा जगती
चेतना लेती है करवट,
संवेदनाएं उलझ जाती हैं
और फिर एक नया
कुरुक्षेत्र सज जाता है
कुर्सी के उच्छ्वास से
निकालता है नया सिद्धांत
गंभीर कुर्सी-सिद्धांत
गंभीरता से समझाता है
भांजे की बजाय अब
शकुनि मामा स्वयं
मौका मिलते ही
बैठ जाता है,
दुर्योधन देखता
रह जाता है,
कुर्सी का अजब है खेल
हर मोड़ पर
बदल जाता है।

संपर्क: फ्लैट नं. 3, ब्लॉक-21
दक्षिण पूर्व रेलवे ऑफिसर्स कॉलोनी,
11, गार्डन रीच रोड, कोलकाता-700043

“जग जानें इंग्लिश हमें, वाणी वस्त्रहि जोय।
मिटे बदन कर श्माम रंग, जन्म सुफल तब होय।”
(पं. प्रतापनारायण मिश्र)
“अचकन, पहिर बूट हम डाटा, बाबू बने डेरात-डेरात।
लागेन आगे जाय सबन माँ, कंटु फूट तब बना बतात।”
(पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी)

व्यंग्य हिन्दी साहित्य का एक नवोन्मेष है

(विनोद साव से राजशेखर चौबे की बातचीत)

प्रश्न: विनोद जी.. आप व्यंग्य के जाने माने लेखक हैं और पिछले तीन दशक से व्यंग्य लिख रहे हैं। आपके समय में व्यंग्य की क्या स्थिति थी?

उत्तर: राजशेखर जी.. वर्ष 1990 से मैंने लिखना शुरू किया। मैंने देर से लेखन शुरू किया था तो मुझे लगा कि 'देर से लेखन शुरू करने का एक बड़ा लाभ यह है कि अपनी आरंभिक रचनाओं के लिए शर्मिंदा होना नहीं पड़ता।' सामयिक संदर्भ में लिखता था। विधा निश्चित नहीं थी। फिर अखबारों ने मेरे कुछ सामयिक आलेखों को व्यंग्य बताकर छापा तब लगा कि मेरी रचनाएं व्यंग्य की तरह बन रही हैं। बाद में मैंने उसी 'स्प्रिट' में लिखना शुरू कर दिया था। इस तरह मेरे व्यंग्य लेखन का मार्ग प्रशस्त हुआ।

उस समय हिंदी व्यंग्य की स्थिति बहुत समृद्ध थी राजशेखर भाई। यह आजादी के बाद समृद्ध हुआ था। मुझ जैसे नए व्यंग्य लेखक के लिए व्यंग्य लिखना और छपना बड़ी चुनौती का काम था, क्योंकि उस समय के सभी अखबारों व पत्रिकाओं में वही लेखक छपा करते थे जिन्हें हम आज व्यंग्य के शीर्षस्थ लेखक मानते हैं। उस समय व्यंग्य लिखना मतलब सीधा अपने पुरोधाओं से मुठभेड़ करना था। हरिशंकर परसाई, शरद जोशी, रवीन्द्रनाथ त्यागी, श्रीलाल शुक्ल, मनोहर श्याम जोशी, के.पी.सक्सेना, शंकर पुण्टाम्बेकर, गोपाल चतुर्वेदी जैसे दर्जन भर स्तरीय लेखक धुआंधार लिख रहे और छप रहे थे। वे सभी अखबारों व पत्रिकाओं में स्तंभ लेखन कर रहे थे और भारी संख्या में लिख रहे थे। नवभारत टाइम्स में शरद जोशी दैनिक स्तंभ 'प्रतिदिन' लिखते थे। अब आप बताइये राजशेखर जी इन निष्णात स्थापित व्यंग्यकारों के बीच में कोई नया लेखक कैसे जगह पाए, कैसे छपे? यह स्थिति कहानी और कविता के साथ वैसी नहीं थी। क्योंकि कहानी, कविता एक पत्रिका में कई कई छपा करती थीं जबकि व्यंग्य के लिए केवल एक रचना का ही कोटा सुनिश्चित था और तब व्यंग्य की स्वतंत्र कोई पत्रिका निकलती भी नहीं थी। अखबारों और साहित्यिक पत्रिकाओं का ही सहारा था। ऐसी स्थिति में किसी पत्रिका में एक रचना का भी छप जाना एक नए लेखक के लिए बड़ी उपलब्धि होती थी।

प्रश्न: फिर आपने इन स्थितियों का सामना कैसे किया और अपनी जगह कैसे बनाई?

उत्तर: मैंने एक बार रवीन्द्रनाथ त्यागी जी को पत्र लिखा कि आप लोग सभी जगह काबिज हैं, अब बताइए हम लोग कहां छपें? इस पर त्यागी जी का जवाब आया 'तो विनोद तुम क्या चाहते हो, हम लोग मर जाएं।' बाद में शरद जोशी के इस सूत्र को ध्यान में रखा कि 'लाल डिब्बे पर भरोसा रखो।' यह मानकर मैं निरंतर रचनाएं लिखता रहा और पोस्ट बॉक्स में डालता रहा। व्यंग्य को स्थापित करने में अखबारों की भूमिका बड़ी रही। प्रायः सभी अखबारों में व्यंग्य के स्तंभ छपा करते थे। कई ऐसे अखबार भी थे, जो व्यंग्य के दैनिक स्तंभ भी छाप रहे थे। व्यंग्य के लिए ज्यादा स्कोप अखबारों में तब भी रहा और आज भी है, बल्कि व्यंग्यकार बिरादरी को इन समाचारपत्रों के प्रति कृतज्ञ होना चाहिए जो भले ही लेखकों को पारिश्रमिक नहीं देते हैं पर उन्हें छापते तो हैं।

प्रश्न: विनोद जी आपको क्या लगता है— क्या वजह है कि साहित्यिक पत्रिकाओं की तुलना में व्यंग्य को अखबारों ने हाथों-हाथ उठाया?

उत्तर: राजशेखर जी.. देखो ऐसा है कि अखबार सामयिक घटनाओं को महत्व देते हैं और व्यंग्य भी सामयिक घटनाओं पर ज्यादा लिखे गए इसलिए अखबारों ने सामयिक संदर्भों वाले व्यंग्यों को ज्यादा तवज्जो दी। पत्रकारिता जगत को साहित्य की सभी विधाओं में व्यंग्य जो है अपने ज्यादा करीब लगता रहा। पत्रकारों को व्यंग्य अपनी बिरादरी का लेखन लगता रहा। व्यंग्य विचारों से साहित्यमुखी रहा लेकिन अभिव्यक्ति में पत्रकारिता के तेवर लिए रहा। यह कह सकते हैं कि व्यंग्य ने साहित्य और पत्रकारिता के बीच सेतु का काम किया! इसलिए अन्य विधाओं की तुलना में व्यंग्य में यह तत्परता ज्यादा देखी गई कि कभी भी वह साहित्य के टेबल से उठकर पत्रकारिता के डेस्क पर आ जाता है। फिर आधुनिक हिन्दी में गद्य व्यंग्य अपने आरंभिक काल से ही पत्रकारिता के साथ रहा है। भारतेन्दु युग में ही सुगठित और सुचितित स्वरूप में लिखे जा रहे व्यंग्य के तमाम लेखक पत्र-पत्रिकाओं से जुड़े थे या स्वयं द्वारा सम्पादित पत्र निकाल रहे थे। वह अंग्रेजों का शासनकाल था तब उनकी व्यवस्था की खिंचाई करने ऐसे छद्म और वक्रोत्तिपूर्ण लेखन से व्यंग्य लिखे जा रहे थे कि हुक्मरानों को पता भी न चले और लेखन का उद्देश्य भी सार्थक हो जाए।

प्रश्न: आपने जब व्यंग्य लेखन प्रारंभ किया उस समय का परिदृश्य और आज जब आप एक स्थापित लेखक हो चुके हैं तो आज के परिदृश्य, इनमें आप क्या अंतर देखते हैं?

उत्तर: हिन्दी व्यंग्य में व्यंग्य के तीन कालखंड निर्धारित किए जा सकते हैं, पहला— कबीर युग, दूसरा— भारतेन्दु युग और तीसरा परसाई युग। आलोचना शास्त्र की दृष्टि से यह मान्य हो या न हो पर अपनी सुविधा की दृष्टि से हम ऐसा कुछ निर्धारित कर सकते हैं। इन तीनों कालखंडों में एक समानता यह देखी गई कि इनमें व्यंग्य

का विद्रोही रूप उजागर और स्पष्ट हुआ। इन तीनों कालखंडों के प्रणेता अपने समय के बड़े एक्टिविस्ट कहे जा सकते हैं। ये बड़े प्रतिक्रियावादी रहे पर रचनात्मक और सुधारवादी रहे। अपने अपने युग के साहित्यिक वैचारिक प्रवर्तक और प्रवक्ता रहे। इन्होंने केवल व्यंग्य को लिखा नहीं बल्कि व्यंग्य को सामाजिक जागरण के लिए एक बड़े हथियार की तरह इस्तेमाल किया। भारतेन्दु और परसाई ने पत्रिकाएं भी निकालीं और विभिन्न सामाजिक संगठनों से भी जुड़े और अपने विचारों को आंदोलन का बड़ा रूप दिया।

इनमें व्यंग्य का उत्तर आधुनिक काल परसाई का रहा और हम सभी आज भी परसाई और उनके समकालीन लेखकों के प्रभाव में चल रहे हैं। व्यंग्य लेखन का रूप जो दिख रहा है उसमें हम आज भी परसाई और शरद जोशी की शैली adopt किए हुए हैं। इस प्रभाव में हम लोगों की पीढ़ी में व्यंग्य के क्षेत्र में जो नाम उभरकर आए उनमें ज्ञान चतुर्वेदी का लेखन प्रतिनिधि लेखन रहा और वे समकालीन व्यंग्य के प्रमुख हस्ताक्षर हैं। उनके साथ कैलाश मण्डलेकर, गौतम सान्याल, प्रेम जन्मेजय, हरीश नवल, सुरेशकांत, गिरीश पंकज, सूर्यकांत नागर, डा. अंजनी चौहान, आलोक पुराणिक, यशवंत व्यास, सुभाष चंदर और महिलाओं में सूर्यबाला, रनेहलता पाठक, अल्का पाठक जैसे कई नाम व्यंग्य साहित्य में उभरते रहे और आज भी सक्रिय हैं। नए लोग भी अच्छा लिख रहे हैं।

देखिए.. तब और अब के व्यंग्यकारों के विषय या उनके लक्षित क्षेत्र में ये अंतर रहा है कि परसाई युग पराधीनता और स्वाधीनता का संघि—युग था। स्वतंत्रता के बाद के मोहभंग की स्थितियां इन रचनाकारों के लक्ष्य में रहीं। जनआकांक्षा के अनुकूल व्यवस्था न पाकर इनका विद्रोह जागा और व्यवस्था पर प्रहार किया। ज्ञान चतुर्वेदी के दौर के जो लेखक उभरकर

आए वे बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक के थे और इस समय वैज्ञानिक अविष्कारों के कारण आई सूचना एवं संचारक्रांति बाजारवाद, जनाधिक्य, सार्वजनिक उद्योगों के बदले निजी उद्योगों और विशेषकर कारपोरेट घरानों के बीच जनता का धन धंसा देने की कोशिश, बैंकों से हजारों करोड़ का ऋण लेकर उद्योगपतियों के चंपत होने और देश से बाहर भागने जैसे आर्थिक हादसे, संस्कृति के सेक्सी हो जाने वाले खतरे जैसे कई क्षेत्र हैं, जहां समस्याएं मुंह बाए खड़ी हैं उस पर बदलते राजनीतिक परिवेश में लेखकों, बुद्धिजीवियों पर हमले व हत्याएं ये सब चुनौतियां पनप रही हैं... जो आज के व्यंग्य और कथालेखन के लिए बड़े मुफीद माल हैं। इन्हें लक्षित कर व्यंग्य लिखे गए और निरंतर लिखे जाने चाहिए।

प्रश्न: हिंदी व्यंग्य को मध्य भारत के लेखकों ने अधिक अपनाया इसका क्या कारण आप देखते हैं?

उत्तर: आपका यह प्रश्न सही है क्योंकि देश भर में होने वाले व्यंग्य के आयोजनों में मैं जहां भी गया लोगों ने यह प्रश्न मुझसे किया... और यह सही है कि यहां परसाई, शरद जोशी, अजातशत्रु, लतीफ घोषी व्यंग्य के स्थापक लेखक हुए और भी कई लेखक हुए उनकी भी महत्वपूर्ण भूमिका रही। आज ज्ञान चतुर्वेदी यहां लिख रहे हैं। संभवतः उसका कारण इसकी भौगोलिक स्थिति हो सकती है। यह क्षेत्र देश के बीचोंबीच स्थित होने से देश भर के लोगों का आगमन तुलनात्मक रूप से यहां अधिक होता रहा। भिन्न भाषा, भिन्न संस्कृति और भिन्न आचार व्यवहार मध्य भारत में विपुल मात्रा में उपस्थित हुआ और व्यंग्य ने इसी भिन्नता के बीच सेंध लगाई और अपने लिये व्यंग्य, हास्य, विनोद लेखन के लिए कच्चा माल हासिल किया।

प्रश्न: हिंदी साहित्य का जो आलोचना जगत है उसमें व्यंग्य का स्थान तो बड़ा गौण दिखाई देता है। क्या आलोचकों ने व्यंग्य को दोगुना दर्जे का

लेखन माना है या साहित्य नहीं मानकर इसे कुछ लेखकों का खिलंदड़ा या मसखरापन मानते हैं?

उत्तर: दरअसल... व्यंग्य की आलोचना के लिए जो मनीषा चाहिए या फिर जिस बौद्धिक मानसिक स्तर की तैयारी होनी चाहिए जैसा कि श्रीलाल शुक्ल का मानना है, उसका हिंदी आलोचकों के पास बड़ा अभाव रहा है। एक कारण यह हो सकता है और दूसरा कारण ऐसे सांगठनिक आलोचक जो अपने को प्रतिबद्ध मानते हैं इन्होंने व्यंग्य को विधागत लेखन नहीं माना और इसलिए यह उनकी आलोचना के एजेंडे में कभी नहीं रहा। यह हिन्दी आलोचना का दुर्भाग्य रहा कि परसाई, शरद जोशी जैसे लेखकों ने आधुनिक हिन्दी साहित्य को जो एक नवोन्मेष दिया उसे अपनी संकीर्ण आलोचना पद्धति में वे नहीं समझ पाए। परसाई ने व्यंग्य को शूद्र से क्षत्री बनाया था उसे आलोचक फिर से शूद्र बना देने पर तुले रहते हैं। ले देकर परसाई ने व्यंग्य लेखन की एक सुव्यवस्थित परम्परा का निर्माण कर उसे समृद्ध किया था जिसे परसाई के समकालीन व्यंग्यकारों ने इस परम्परा को और मजबूत किया था। पर इन रचनाकारों के समकालीन आलोचकों ने साहित्य की एक नई विकसित होती परम्परा को धो डाला। उन्हें ये भी भान नहीं हुआ कि अपनी हेकड़ी में वे अनजाने ही एक नवोन्मेष को खत्म करने की नादानी कर रहे हैं। उनकी आलोचना दृष्टि परसाई की सुपुष्ट की हुई परम्परा के खिलाफ हो गई है। वे नहीं जान पा रहे हैं कि वे क्या कर रहे हैं!

परसाई व्यंग्य के प्रथम पुरुष हैं और 'वसुधा' पत्रिका के संस्थापक रहे। यह विडम्बना है कि उनकी पत्रिका ने ही व्यंग्य रचनाओं को नहीं छापा। इन आलोचकों ने परसाई को भी व्यंग्यकार नहीं माना उन्हें निबंधकार कहानीकार बताकर अपने कर्तव्यों की इतिश्री की। परसाई के लेखन

को केवल इसलिए महत्वपूर्ण माना क्योंकि उनके ज्यादातर लेखन का आधार मार्क्सवाद की चिंतन था। शरद जोशी भी उनके लिए महत्वपूर्ण नहीं रहे, क्योंकि शरद जोशी मार्क्सवादी नहीं थे। देहरादून में जब मेरी मुलाकात रवीन्द्र नाथ त्यागी से हुई तब उन्होंने यह चौंकाने वाली टिप्पणी की कि परसाई अगर मार्क्सवादी नहीं होते तो शरद जोशी व्यंग्य के टॉप पर होते।

हिन्दी साहित्य में गद्य व्यंग्य के बहाने विधा की एक ऐसी नई प्रवृत्ति जन्म लेकर सुन्दर साकार रूप ग्रहण कर रही थी जो देश की अन्यान्य भाषाओं में दुर्लभ थी। इस नवोन्मेष का श्रेय हिन्दी जगत को मिलने जा रहा था। देश की अन्य भाषाएँ परसाई, शरद जोशी की रचनाओं और श्रीलाल शुक्ल के 'रागदरबारी' व मनोहर श्याम जोशी के व्यंग्य से लबरेज उपन्यासों जैसी अनमोल कृतियों को अभिभूत होकर अचम्भे से देख रही थी और अपनी भाषाओं में हिन्दी व्यंग्य की तल्खी और तेवर को आजमाने की कोशिश कर रही थी, पर संकीर्ण और किताबी दिमाग से भरी हिन्दी आलोचना ने सब गुड़-गोबर करके रख दिया। यह हमारी वीभत्स राजनीति से प्रेरित उसी तरह की पैतरेबाजी है जिसमें एक पार्टी अपने गुणों का बखान तो कर नहीं सकती पर हाँ, दूसरी पार्टी और उसके नेताओं की मिट्टी-पलीद तो कर सकती है। यहां भी कर दिया। अब 'व्यंग्यालोचन' की गेंद व्यंग्यकारों के पाले में है इसी आपाधापी में से ही कोई रास्ता निकले तो निकले।

विश्व आलोचना साहित्य में अंग्रेजी के हास्य-व्यंग्य लेखकों का बड़ा नाम और स्थान रहा है पर हिन्दी साहित्य और हिन्दी फिल्मों दोनों ही जगह में हास्य और विनोद प्रियता को सतही और अगंभीर प्रदर्शन माना गया।

आपने जो खिलंदड़ेपन की बात उठाई यह भी व्यंग्य का दुर्भाग्य है कि व्यंग्य के गहन सामाजिक सरोकारों से उठकर पत्नी साली सास या स्त्री की दयनीय स्थितियों को लक्षित कर भोंडा उपहास आज भी किया जा रहा है! ऐसे लेखकों को छापने वाले संपादक भी दोषी हैं।

प्रश्न: विनोद जी व्यंग्य के अतिरिक्त आपने कहानी, यात्रा-वृत्तांत, उपन्यास भी लिखे और पुरस्कृत हुए, पर इन रचनाओं में आपके व्यंग्य का प्रभाव नहीं दिखता।

उत्तर: उपन्यास में तो है! दो उपन्यास हैं। 'चुनाव' और 'भोगपुर-30 कि.मी.।' ये दोनों ही व्यंग्य उपन्यास हैं और मुझे ज्यादातर पुरस्कार इन्हीं दो कृतियों पर मिले हैं। विगत दिनों अपने समग्र लेखन के लिए 'सत्पणी सम्मान' दिया गया। इन सब पर अब अधिक बातें न करते हुए आपके प्रश्न का उत्तर सम्मान पत्र में लिखी गई इन पंक्तियों से आप उद्धृत कर लें, यथानुसार— "छत्तीसगढ़ प्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मलेन श्री विनोद साव, दुर्ग को उनके सुदीर्घ साहित्यिक अवदान के लिए ईश्वरी प्रसाद मिश्र स्मृति सत्पणी सम्मान प्रदान करते हुए आनंद का अनुभव करता है। सर्वप्रथम एक व्यंग्य लेखक के रूप में चर्चित व प्रशंसित होकर उन्होंने कहानी विधा की ओर रुख किया। इसके समानांतर यात्रा-वृत्तांत लेखन में भी उनकी रुचि जागृत हुई। इस तरह तीन विभिन्न विधाओं में समान गति से लिखते हुए उन्होंने अपने सामर्थ्य का परिचय दिया। उनकी कहानियों के विषय निरूपण में संवेदनशीलता व शैली में सरसता है, जबकि यात्रा विवरण में वे बारीक विवरणों में जाते हैं और सुन्दर कोलाज पाठकों के सामने रखते हैं। सम्मलेन, श्री विनोद साव को शुभकामनाएं देता है कि उनकी लेखनी इसी तरह सक्रिय बनी रहे।"

साक्षात्कारकर्ता : राजशेखर चौबे, 295/ए, रोहिणीपुरम, रायपुर मो. 9425596643

समसामयिक विसंगतियों का आईना: इक्कीसवीं सदी के 131 श्रेष्ठ व्यंग्यकार

प्रकाश कुमार अग्रवाल

व्यंग्य अत्यंत प्राचीन विधा है। जब समाज में विसंगतियाँ बढ़ जाती हैं, तब उस युग का व्यंग्यकार अपने व्यंग्य-वाणों के माध्यम से न केवल उन विसंगतियों की तरफ हमारा ध्यान आकृष्ट करता है, बल्कि उन व्यवस्थाओं पर भी चोट करता है, जहाँ से उन विसंगतियों का उद्भव एवं सृजन हुआ है। व्यंग्यकार एक तरह से उस युग विशेष का प्रतिनिधित्व करता है और अपने व्यंग्यास्त्र के माध्यम से समसामयिक परिस्थितियों एवं समस्याओं पर बेबाक एवं निर्भीक राय समाज और देश के सामने उपस्थित करता है।

डॉ. बरसानेलाल चतुर्वेदी जी अपनी पुस्तक 'आधुनिक हिंदी काव्य में व्यंग्य' में लिखते हैं कि "कानूनों की कमियों एवं अपराधियों की होशियारी के कारण सभी अपराधियों को दंडित नहीं किया जाता। यही कारण है कि व्यंग्य का प्रयोग प्रारंभ हुआ ताकि उन अपराधियों को समाज की नजरों में गिराया जाए जिन्हें धर्म तथा दंड का भय अपराध करने से नहीं रोक पाता। भ्रष्टाचारी अपने धन के प्रभाव से एवं अन्य हथकंडों से कानून की गिरफ्त से निकल जाता है। व्यंग्यकार ऐसे लोगों पर ही व्यंग्य के बाण छोड़ता है और उनके सम्मुख व्यंग्य रूपी दर्पण रखता है ताकि वो अपने काले मुख को देख सके।" चतुर्वेदी जी की इस परिभाषा से हमें व्यंग्य-लेखन की प्रयोजनीयता का पता चलता है।

आदिकाल में सिद्धों और नाथों की रचनाओं में हमें समसामयिक विसंगतियों के खिलाफ तीव्र विरोध देखने को मिलता है। उन्होंने बाह्याडंबर करनेवाले पोंगा-पंडितों के विरुद्ध अपने व्यंग्यास्त्र का प्रयोग किया है। डॉ. बापूराव देसाई अपनी पुस्तक 'हिंदी व्यंग्य विधा शास्त्र और इतिहास' में लिखते हैं— "सिद्ध और नाथ साहित्य में उपवास, व्रत, वैकल्य, पूजा-पाठ करने वाले पोंगा पंडित, पाप कर गंगा में स्नानादि को पुण्य कर्म मानने वालों पर पौराणिक धर्मावलंबियों पर कटाक्ष किया गया है। सिद्धों तथा नाथों की रचनाओं से स्पष्ट परिलक्षित होता है कि हिंदी साहित्य में व्यंग्य की परंपरा पुरानी है।"

मध्यकाल में कबीर, सूर, तुलसी, बिहारी आदि की रचनाओं में हमें व्यंग्य की छटा देखने को मिलती है। विशेषकर कबीर ने तो तत्कालीन असंगतियों के विरुद्ध जमकर व्यंग्य किया है। आधुनिक युग में भारतेन्दु, निराला, प्रेमचंद, नागार्जुन, अमृतलाल नागर, उपेंद्रनाथ अशक, रामकुमार वर्मा आदि रचनाकारों ने अपनी रचनाओं में सामाजिक-राजनीतिक विसंगतियों के विरुद्ध व्यंग्य को प्रश्रय दिया है।

आजादी के बाद की परिस्थितियों में बदलाव के कारण कुछ ऐसे व्यंग्यकार सामने आए जिन्होंने न सिर्फ वर्तमान परिवेश की नग्नता का पर्दाफाश किया, बल्कि उसके प्रभाव को जनता के समक्ष उपस्थित कर उन्हें सचेत करने का सफल प्रयास भी किया। इन व्यंग्यकारों में हरिशंकर परसाई, शरद जोशी, श्रीलाल शुक्ल, के.पी. सक्सेना, इंद्रनाथ मदान, बरसानेलाल

चतुर्वेदी, नरेंद्र कोहली, रवीन्द्रनाथ त्यागी आदि के नाम विश्व प्रसिद्ध हैं।

जब हम समकालीन साहित्य के सर्वश्रेष्ठ सृजन की बात करते हैं, तो हमारे सामने 'इक्कीसवीं सदी के 131 श्रेष्ठ व्यंग्यकार' का नाम आता है। लालित्य ललित और राजेश कुमार के संपादन में प्रकाशित यह पुस्तक वर्तमान समस्याओं एवं चुनौतियों पर हमारा ध्यान आकृष्ट करती है। इस व्यंग्य-संग्रह में कुल 131 व्यंग्य रचनाएँ हैं और इन रचनाओं के रचनाकारों में सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक विसंगतियों के खिलाफ आक्रोश देखने को मिलता है। देश-विदेश के इन श्रेष्ठ व्यंग्यकारों ने समसामयिक परिवेश को अत्यंत संजीदगी से अपनी रचनाओं में उकेरा है। रवि शर्मा 'मधुप' जी ने अपनी रचना 'सच्चा भारतीय' में भारतीयों की उन मनोदशाओं पर व्यंग्य किया है, जो उन्हें दिन-पर-दिन अवनति की ओर लेकर जा रही है। भारतीय अपने हुनर और कौशल के जरिए जहाँ एक ओर पूरी दुनिया में भारत का नाम रोशन कर रहे हैं, वहीं दूसरी ओर उनकी कुछ आदतें और कमजोरियाँ न सिर्फ उन्हें हीन बनाती हैं, बल्कि सोचने पर मजबूर कर देती हैं कि आने वाला समय उनके लिए कैसा होगा।

"जहाँ भरोसा हो, वहीं टाँग अड़ाना चाहिए। दुनिया यही कर रही है" (पृष्ठ-213)। इन पंक्तियों के माध्यम से व्यंग्यकार ने वैश्विक परिदृश्य में यह बताने की कोशिश की है कि हम क्या-से-क्या होते जा रहे हैं। स्वार्थलोलुपता मानवता को किस प्रकार नष्ट कर रही है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हम राकेश सोहम् जी की रचना 'टाँग अड़ाने के मजे' में देख सकते हैं। इसी प्रकार सूरत ठाकुर जी ने भी अपनी रचना 'न भई न, मैं किसी की टाँग नहीं खींच सकता' में वर्तमान

समय में अपने लाभ के लिए किस प्रकार लोग दूसरों के काम में टाँग अड़कर अपना उल्लू सीधा करते हैं, इसका यथार्थ चित्र खींचने का प्रयास किया है। वर्तमान समय में कुछ ऐसे लोग समाज में देखने को मिलते हैं, जो दूसरों के दुःख से खुशी और उनकी खुशी से अत्यंत पीड़ित नजर आते हैं। ऐसे लोगों का पर्दाफाश करते हुए आशीष दशोत्तर इन्हें पर दुखियारे नाम से संबोधित करते हैं। अपनी रचना 'ये हैं पी.डी. यारे उर्फ...' में ऐसे लोगों का चित्रण करते हुए ये लिखते हैं—"दूसरों के दुःख में दुखी होने वाले और दूसरों के सुख में सुखी होने वाले लोग आपने दुनिया में कदम-कदम पर देखे होंगे, मगर यारे साहब ऐसे नहीं हैं। वे दूसरों के दुःख में खुश और दूसरों की खुशी से दुखी होने वाले शख्स हैं। जब किसी को दुखी देखते, तो उन्हें इतनी खुशी होती कि उनका खून बढ़ जाता है। किसी की बुराई सुनते, तो उन्हें मजा आता। किसी को परेशानी होती, तो उनकी बाँछें खिल जातीं। यानी 'एंटीक पीस' से भी अधिक विरले इंसान हैं, यारे साहब" (पृष्ठ-473)।

'इक्कीसवीं सदी के 131 श्रेष्ठ व्यंग्यकार' के अधिकांश रचनाकारों ने देश के थोथे नेताओं और राजनीति पर अपने व्यंग्य-बाण चलाए हैं। फारुक आफरीदी जी अपने 'मतदाता के नाम विधायक जी का पत्र' में स्वार्थी नेताओं की पोल खोलते हुए कहते हैं कि "यदि कल आप सुनें कि मैं फलां पार्टी में चला गया हूँ और बिक गया हूँ, तो आप बुरा मत मानना। बिकने के जब अच्छे मोल मिले, तो फिर आदमी को चूकना नहीं चाहिए। सुनहरे अवसर बार-बार नहीं आते। आप मेरे लिए प्रार्थना करें कि मुझे जो भी खरीदे, अच्छी कीमत दे। हिम्मत से ही कीमत

मिलती है।" (पृष्ठ-283)

गरीब और गरीबी हमेशा से ही चुनाव के बड़े मुद्दे रहे हैं। इस चुनाववास्त्र के जरिये न जाने कितने राजनेताओं ने अपनी राजनीति चमकाई और अपनी महत्वाकांक्षाओं को पूरा करने में सफल साबित हुए। 'गरीबी का कीचड़ और वोट का कमल' में व्यंग्यकार सुधीर कुमार चौधरी कहते हैं कि " गरीबी है, तो राजनीति में हरियाली है। गरीबी राजनीति में ग्लैमर पैदा करती है। इसके फटे कपड़े नेताओं को मदमस्त कर देते हैं। इसका तन नोंचकर राजनीति का विस्तार होता है। इसे रौंदकर सत्ता की सीढ़ियां चढ़ी जाती हैं। इसकी चर्चा संसद-विधानसभाओं में होती है, लेकिन इसका ठिकाना झुग्गी-झोपड़ी और गंदी बस्तियों में होता है। गरीब का पसीना नेताओं की अट्टालिकाओं को मजबूती प्रदान करता है। हमारी राजनीति को गरीबी पर गर्व है। गरीबी राजनीति से उम्मीदें करती है, जो कभी पूर्ण नहीं होती है।" (पृष्ठ- 97)

2020 में कोरोना महामारी ने सारे विश्व में अपने पैर पसार लिए। इस महामारी का प्रभाव राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा साहित्यिक सभी क्षेत्रों में रहा। अधिकांश साहित्यकारों ने कोरोना महामारी के कारण निरंतर बदलते परिवेश पर अपनी लेखनी चलाई है। इस कड़ी में एक नाम मशहूर व्यंग्यकार डॉ. पंकज साहा का आता है, जिन्होंने अपनी रचना 'कोरोनाकाल के बाद' में समसामयिक कुरीतियों और विसंगतियों के विरुद्ध अपनी धारदार लेखनी का प्रयोग किया है। इस रचना में व्यंग्यकार ने ऐसे कई विषयों पर ध्यान आकृष्ट किया है जो हमारे बीच सदा से ही विद्यमान रहे हैं, लेकिन हमने उनपर कभी गंभीरता से विचार नहीं किया। साहा जी लिखते हैं—"हमारे देश के लोग अत्यंत

परंपरा-प्रेमी हैं। जनसंख्या-वृद्धि होती रहेगी, भ्रष्टाचार बढ़ता रहेगा, बेरोजगारी बढ़ती रहेगी। लोग जाति और पार्टी में बंटे रहेंगे। धर्म-संप्रदाय का नशा बरकरार रहेगा। राजनीतिक जगत, धर्म जगत, फिल्म जगत, साहित्य जगत और जितने भी इस प्रकार के जगत हैं, सबमें मठाधीशों का प्रभुत्व बना रहेगा। चमचे अपने कर्तव्यों का निष्ठापूर्वक पालन करते रहेंगे। हर क्षेत्र में नेपोटिज्म जीवित रहेगा। जिन डॉक्टरों ने कोरोना- काल का लाभ उठाते हुए अपनी फीस बढ़ा ली है, वे भगवान की तरह ही पूजे जाएंगे और जिन डॉक्टरों ने कोरोना के भय से अपना क्लिनिक बंद कर दिया है, वे जब भी अपना क्लिनिक खोलेंगे लोग-बाग उनका बहिष्कार न कर इलाज हेतु पूर्ववत् पहुंचने लगेंगे।" (पृष्ठ-343)

पुस्तक के संपादक लालित्य ललित और राजेश कुमार ने भी अपनी रचनाओं में समसामयिक गंभीर मुद्दे को उठाया है। राजेश कुमार जी ने 'मीटू और तू भी' में इस पुरुष शासित समाज में स्त्रियों की दीन-हीन अवस्था के खिलाफ अनेक प्रश्न लोगों के समक्ष उपस्थित किए हैं। आज भी हमारा समाज किसी भी चीज के लिए स्त्री को ही दोषी और अपराधी ठहराता है। चाहे उसकी गलती हो या न हो लेकिन भुगतना उसी को पड़ता है। हमारे समाज की इसी खोखली सच्चाई को दर्शाते हुए रचनाकार लिखते हैं "अगर स्त्रियां इस तरह खुलेआम यह सब बातें करने लगीं, तो पुरुषों के उन जन्मजात अधिकारों का आखिर क्या होगा, जिसके चलते वे बिना किसी लाज-शर्म या भय 0के, स्त्रियों से मनमाना व्यवहार कर सकते हैं, उन्हें प्रताड़ित कर सकते हैं, उनकी आजादी का हनन कर सकते हैं, उन्हें अपने बराबर आने या अपने से आगे बढ़ने से रोक सकते हैं, उनके साथ बलात्कार कर सकते

हैं, और कुल मिलाकर इस बात का ढोल पीटते हुए उन्हें पैरों की जूती से ज्यादा नहीं समझने की गौरवशाली परंपरा का पालन कर सकते हैं कि वे स्त्रियों का बहुत सम्मान करते हैं।” (पृष्ठ-190)

लालित्य ललित जी ने अपनी रचना ‘लॉकडाउन में पधारे भगवान जी’ में कोरोना महामारी के दौरान जनजीवन की समस्याओं का यथार्थ चित्रण किया है। किस प्रकार आम जीवन इस महामारी की चपेट में आकर प्रभावित हुआ है, इसे प्रतीकों और रूपकों के जरिए व्यंग्यकार ने पाठकों के समक्ष लाने का सफल प्रयास किया है।

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि ‘इक्कीसवीं सदी के 131 श्रेष्ठ व्यंग्यकार’ पुस्तक

जहां एक ओर समसामयिक समस्याओं और चुनौतियों को हमारे समक्ष उपस्थित करती है, वहीं उन कुरीतियों और असंगतियों पर भी प्रहार करती है, जिनसे हमारा समाज दिन पर दिन खोखला और जर्जर होता जा रहा है। इस पुस्तक के समस्त लेखक अपने व्यंग्यास्त्रों से समाज की विसंगतियों पर चोट करने के बहाने एक तरह से उसे आईना दिखाने का काम करते हैं। जब तक समाज में विसंगतियाँ रहेंगी, व्यंग्यकार उसे समाप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहेंगे।

पुस्तक: इक्कीसवीं सदी के 131 श्रेष्ठ व्यंग्यकार

संपादक: लालित्य ललित राजेश कुमार

प्रकाशक: प्रलेक प्रकाशन, मुंबई- 401303

मूल्य: 1250(सजिल्द)।

संपर्क: प्राध्यापक, हिंदी-विभाग, खड़गपुर कॉलेज,
खड़गपुर-721305 (पश्चिम बंगाल) मो. 9932937094

श्रद्धांजलि

आज कोरोना महामारी की चपेट में सारा विश्व कराह रहा है। प्रायः हर परिवार को अवसाद के गहरे सागर में डूबना पड़ा है। प्रत्येक व्यक्ति ने अपने निकट-दूर के आत्मीय बंधुओं/मित्रों को खोया है। इस महामारी ने हिंदी संसार के सर्वश्री रमेश उपाध्याय, नरेंद्र कोहली, प्रभु जोशी, कुँवर बेचैन, विजेंद्र, मंगलेश डबराल, लाल बहादुर वर्मा (इतिहासकार), कांति कुमार जैन, मंजूर एहतेशाम, मधुकर गंगाधर, जहीर कुरेशी, गीतेश शर्मा, राजेंद्र पंजियार, सदानंद सिंह, कालीप्रसाद जायसवाल, सैयद अजहर आलम, श्रीमती माया गरानी के अलावा बांग्ला के सुप्रसिद्ध कवि श्री शंख घोष, हिंदी फिल्म के महान अभिनेता श्री दिलीप कुमार और अनेक साहित्यकारों, कलाकारों, डॉक्टरों, कोरोना-योद्धाओं को हमसे छीन लिया है। ‘मुक्तांचल’ परिवार उन दिवंगत आत्माओं को विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित कर उनके परिवारों के प्रति अपनी संवेदनाएँ व्यक्त करता है।

‘हा! वसंत!’ समय और समाज की विडंबनाओं, विद्रूपताओं व विसंगतियों को पूरी तरह बेनकाब करने का धारदार औजार है। यहाँ व्यंग्य की लघु काया में तीक्ष्ण दृष्टि है, रोचकता है और ताजगी भी है, जो पाठकों को आकर्षित करने में पूरी तरह समर्थ है। अपनी विविधताओं, प्रचलित उक्तियों/सूक्तियों व पैरोडीय प्रयोग तथा ‘देखन में छोटन लगे, घाव करे गंभीर’ की स्वतः स्फूर्त शैली के कारण डॉ. साहा नामचीन व्यंग्यकारों की कतार में स्थान पा सकेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।

डॉ. साहा के व्यंग्य की खास बात यह है कि वे छोटे-छोटे एवं सरल भाषा में लिखे गये हैं। उनमें प्रासंगिकता के साथ-साथ सहजता है और सबसे बड़ी बात यह कि उन्होंने किसी भी व्यंग्यकार की शैली का अनुकरण नहीं किया है।

संग्रह का पहला व्यंग्य ‘हा! वसंत!’ की मारक क्षमता बेजोड़ है। ‘वीर भोग्या वसुंधरा’ का प्रयोग जिन-जिन अर्थों में किया गया है, वह प्रशंसनीय एवं अद्भुत है। ‘गरीब’ शीर्षक व्यंग्य सामयिक विडंबनाओं (सरकारी तंत्र व सामाजिक संगठन) पर मधुर एवं मारक प्रहार है। ‘अफसोस’, ‘जैसी बहे बयार’, ‘तब और अब’ तथा ‘किट्टी’ जैसे अनेक व्यंग्य इसी भाव से संपोषित हैं।

‘सीनियर सिटीजन’ के बहाने आधुनिक पीढ़ी पर धारदार व्यंग्य है, जिससे स्वयं सीनियर सिटीजन भी नहीं बचते। ‘हिंदी की विचित्रता’ भाषाई व्यंग्य है, जो अपनी सहजता-मधुरता के साथ व्यंग्य के मानक के साथ खरी उतरता है। ‘जहाँ चाह, वहाँ राह’ मार्क्सवाद और धर्म पर सहज किंतु कटु व्यंग्य है। इसी प्रकार आधुनिक साहित्य व साहित्यकारों पर तथा विविध विषयों पर सार्थक व्यंग्य कसे गये हैं। यही विविधता संग्रह की खूबसूरती बन गयी है।

‘मजबूरन को नहीं दोष गोसाईं’ आमजन की कार्य-शैली पर तीखा व्यंग्य है। व्यंग्यकार की दृष्टि से आमजन भी नहीं नहीं बच पाते हैं। ‘यूरेका’ में राजनीतिज्ञों के अघोषित संविधान पर धारदार व्यंग्य है, जहाँ पक्षियों के माध्यम से व्यंग्य की संवेदना और गहरी हो जाती है। अन्य व्यंग्यों पर विशेष न कहकर इतना कहना ही काफी है कि जैसे चावल के एक दाने से हंडी भर भात की सुसिद्धता साबित हो जाती है, वैसा ही ‘हा! वसंत!’ के अन्य व्यंग्यों के संदर्भ में कहा जा सकता है।

कबीर, भारतेन्दु, प्रेमचंद, परसाई तथा युग के ईमानदार व्यंग्यकारों के लिए पुस्तक का समर्पण अच्छा और अनुकरणीय पहल कहा जाएगा।

डॉ. साहा के इस व्यंग्य-संग्रह का पाठकों/साहित्यकारों द्वारा निश्चय ही स्वागत होगा। मुझे विश्वास है कि धीरे-धीरे उनके व्यंग्य की धार और भी तीखी होगी। स्तरीय व्यंग्य-संग्रह के लिए डॉ. साहा को मेरी अशेष बधाई एवं शुभकामनाएँ।

समीक्ष्य कृति: हा! वसंत! (व्यंग्य-संग्रह), **लेखक:** डॉ. पंकज साहा

समीक्षक: मांगन मिश्र ‘मार्तंड’, **प्रकाशक:** मानव प्रकाशन, कोलकाता

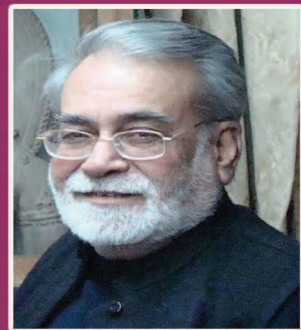
संस्करण: 2019, **मूल्य:** 450 रु. मात्र

संपर्क: ‘प्रधान संपादक: ‘संवदिया’(त्रैमासिक), साकेत, बंगाली टोला,
वार्ड नं. 24, फारबिसगंज, अररिया-854318(बिहार), मो. 9973269906

इस पार तक...

नरेन्द्र कोहली

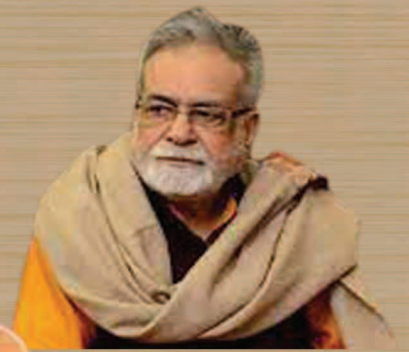
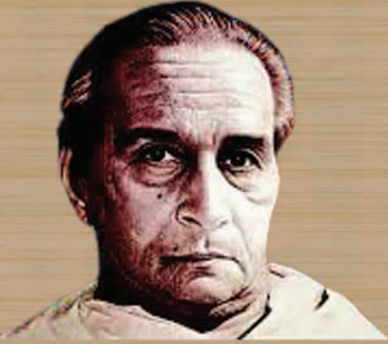
(6 जनवरी 1940 - 17 अप्रैल 2021)



लेखक के विचार के साथ उसकी प्रतिबद्धता की बात की जाती है। मैं व्यंग्यकार के लिए ही नहीं, किसी भी लेखक के लिए, किसी भी मनुष्य के लिए वैचारिक प्रतिबद्धता को जरूरी मानता हूँ। व्यंग्यकार साहित्यकार से अलग कुछ नहीं। व्यंग्य साहित्य की एक विधा है इसलिए जो दायित्व साहित्यकार का है, वह व्यंग्यकार का भी है। सामाजिक दायित्व के बिना तो कोई प्रबुद्ध व्यक्ति हो ही नहीं सकता इसलिए यह कैसे कहा जाय कि उसका कोई सामाजिक बोध नहीं होता। सच्चा इंसान होगा तो भी उसकी वैचारिक प्रतिबद्धता होगी, पर ये प्रतिबद्धता जो है किसी विचारधारा के प्रति न होकर सत्य के प्रति होनी चाहिए। इसलिए कई बार यह भी देखा जा सकता है कि अपनी आस्थाओं, मान्यताओं को बदल करके लेखक किसी और दिशा में चल पड़ता है। यह उसका विकास है। और यदि वह लोभ और लालच के कारण किसी ओर झुकता है यह उसका हास है। यदि आपका अर्थ वैचारिक प्रतिबद्धता से किसी पार्टी, किसी राजनीतिक दल, किसी विशेष सांप्रदायिक विचारधारा से है तो मैं यह मानता हूँ कि लेखक को उन सबसे ऊपर उठ करके सत्य और मानवता के प्रति प्रतिबद्ध होना चाहिए। इसलिए छोटी-मोटी चीजों के प्रति प्रतिबद्धता नहीं होती। वह एक प्रकार का मोह होता है, जो हमारे अज्ञान के कारण होता है। लेखक को अपने मूल्यों के प्रति प्रतिबद्ध होना चाहिए जो किसी पार्टी या दल की विचारधारा का उपयोग करते हैं, वे लेखक के रूप में अपनी स्वतंत्रता खो देते हैं। ऐसी रचना व्यंग्य रचना नहीं होती, घोषणा पत्र होती है।

RNI NO. WBHIN/2014/70173

POSTAL REG. NO. WB/HWH-90/2018-2020



हावड़ा विद्यार्थी मंच के लिए प्रकाशक आनंद कुमार सिन्हा और मुद्रक गोपी कृष्ण पालुई,
शिक्षण, 50 सीताराम घोष स्ट्रीट, कोलकाता से मुद्रित एवं 6/2/1 आशुतोष मुखर्जी लेन,
सालकिया, हावड़ा- 711106 से प्रकाशित।

संपादक : डॉ. मीरा सिन्हा